एम. ए. संस्कृत - प्रथम षाण्मासिकी

पाठ्यक्रम - 3

MSKT-103 न्याय-वैशेषिक **Course Credit : 6** **कुल अंक - 80**

तर्कभाषा

इकाई 1-20

दूरवर्ती शिक्षा एवं ऑनलाइन शिक्षा केन्द्र

हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय,

समरहिल, शिमला - 171005

विषयानुक्रमणिका

विषय क्रम	विषय	पृष्ठ संख्या
इकाई – एक	अनुबन्धचतुष्ट्य और न्यायशास्त्र की त्रिविध प्रवृत्ति	2 - 9
इकाई - दो	प्रमाण और कारण	10 - 21
इकाई - तीन	समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण	22 - 33
इकाई - चार	प्रत्यक्ष प्रमाण निरूपण	34 - 47
इकाई - पाँच	अनुमाण प्रमाण निरूपण	48 - 59
इकाई - छः	त्रिविध हेतु - अन्वयव्यतिरेकी, केवलव्यतिरेकी और केवलान्वयी	60 - 72
इकाई - सात	हेत्वाभास और उसके भेद	73 - 81
इकाई - आठ	उपमान और शब्द प्रमाण निरूपण	82 - 92
इकाई - नौ	अर्थापत्ति और अभाव प्रमाण निरूपण	93 - 104
इकाई - दस	प्रामाण्यवाद निरूपण और ज्ञातता	105 - 117
इकाई - ग्यारह	प्रमेयनिरूपण	118 - 130
इकाई - बारह	अर्थ निरूपण	131- 138
इकाई - तेरह	कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति और विनाशक्रम	139 - 146
इकाई - चौदह	द्रव्य और गुण निरूपण	147- 161
इकाई - पन्द्रह	गुण निरूपण	162 - 174
इकाई - सोलह	गुण, कर्म और सामान्य निरूपण	175 - 183
इकाई - सत्रह	अर्थ और बुद्धि निरूपण	184 - 193
इकाई - अट्ठारह	मन आदि प्रमेय तथा संशयादि पदार्थ निरूपण	194- 204
इकाई – उन्नीस	तर्कादि पदार्थ निरूपण	205 - 214
इकाई – बीस	हेत्वाभास - भेदादि पदार्थ निरूपण	215- 224

इकाई - एक

अनुबन्धचतुष्टय, न्यायशास्त्र की त्रिविध प्रवृत्ति

संरचना

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 अनुबन्ध चतुष्टय का अर्थ

1.3.1 वेदान्तसार के अनुसार अनुबन्ध चतुष्टय

1.3.2 कोशग्रंथ वाचस्पत्यम् में अनुबन्ध चतुष्टय

1.3.3 कुमारिल भट्ट के अनुसार अनुबन्ध चतुष्टय

1.3.4 भक्तमाल में अनुबन्ध चतुष्टय

1.3.5 गीता में अनुबन्ध चतुष्टय

1.3.6 कुमारिल भट्ट के अनुसार अनुबन्ध चतुष्टय

- स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न-1

1.4 न्यायशास्त्र की त्रिविध प्रवृत्ति

1.5.1 उद्देश

1.5.2 लक्षण

1.5.3 परीक्षा

- स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न-2

1.5 सारांश

1.6 कठिन शब्दावली

1.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

1.8 सहायक ग्रन्थ

1.9 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियो, इस इकाई में केशव मिश्र ने यह स्पष्ट किया है कि तर्कभाषा ग्रन्थ को क्यों पढ़ना चाहिए? इसके बाद उन्होंने स्पष्ट किया है कि अनुबन्ध चतुष्टय क्या होता है और जानकारी होने से हमें क्या प्राप्त होता है। इसके साथ-साथ सोलह पदार्थ कौन से हैं और शास्त्र की तीन प्रकार की प्रवृत्ति, लक्षण से अभिप्राय और उसके दोष तथा प्रमाण पदार्थों का परिचय दिया गया है।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जानने में सक्षम हो जायेंगे-

- अनुबन्ध चतुष्टय का अर्थ।
- षोडश पदार्थ।
- त्रिविध शास्त्र प्रवृत्ति।

1.3 अनुबन्ध चतुष्टय का अर्थ

बालोऽपि यो न्यायनये प्रवेशम् अल्पेन वाञ्छत्यलसः श्रुतेन ।
संक्षिप्तयुक्त्यन्विततर्कभाषा प्रकाश्यते तस्य कृते मयैषा ।।

शब्दार्थ -

अल्पेन = थोड़े से, न्यायनये = न्याय के सिद्धान्तों में, प्रवेशम् = प्रवेश, वाञ्छति = चाहता है, कृते = के लिए।

गद्यार्थ -

परिश्रम से बचने वाला जो आलसी बालक थोड़े से अध्ययन से न्यायशास्त्र के सिद्धान्तों को जानने हेतु न्यायशास्त्र में प्रवेश चाहता है, उसके लिए संक्षिप्त- युक्तियों से अन्वित यह तर्कभाषा नामक ग्रन्थ मुझ केशव मिश्र के द्वारा प्रकाशित किया (रचा) जा रहा है।

जो अपने ज्ञान से अन्य को बांधकर ग्रन्थ अथवा शास्त्र में प्रवृत्त करते हैं उन्हें अनुबन्ध चतुष्टय कहते हैं। अतः अनुबन्धों के ज्ञान के बाद ही किसी शास्त्र में पुरूष की प्रवृत्ति सभव है। यदि शास्त्र के आदि में अनुबन्धों को उल्लेख नहीं होता है तो शास्त्र पढ़ने में पाठक की प्रवृत्ति नहीं होती है। अधिकारी, विषय, सम्बन्ध तथा प्रयोजन ये चार अनुबन्ध है, इन्हे ही अनुबन्ध चतुष्टय कहा जाता है।

क. विषय - न्याय का प्रतिपाद्य प्रमाण-प्रमेयादि षोडश पदार्थ इस ग्रन्थ का विषय है।

ख. प्रयोजन - न्यायशास्त्र के सिद्धान्तों का सरलता से बोध प्राप्त करना, इस ग्रन्थ के निर्माण का प्रयोजन है।

ग. अधिकारी - न्यायशास्त्र के सिद्धान्तों को जानने का इच्छुक व्यक्ति ग्रन्थ पढ़ने का अधिकारी है।

घ. सम्बन्ध - ग्रन्थ का विषय के साथ प्रतिपाद्य प्रतिपादकभाव सम्बन्ध है तथा अधिकारी के साथ बोध्य-बोधकभाव सम्बन्ध है।

अनुबन्ध चतुष्टय-अनुबध्यते अनेन इति अन्बुन्धः अर्थात् जिसके द्वारा ग्रन्थ शुरू से लेकर अन्त तक बंधा रहता है, उसे अनुबन्ध कहते हैं, वेदान्त में अधिकारी, विषय, प्रयोजन और सम्बन्ध को अनुबन्ध चतुष्टय कहा गया है -

1.3.1 वेदान्तसार के अनुसार अनुबन्ध चतुष्टय

अनुबन्ध चतुष्टय क्या हैं--- सुसंबद्ध तथा विचार करने योग्य तत्वों को अनुबन्ध कहते हैं। जब भी कोई ग्रन्थ लिखा या पढ़ा जाता है तो यह विचार उठता है किइस ग्रन्थ को पढ़ने का अधिकारी कौन है? इस ग्रन्थ द्वारा प्रतिपाद्य विषय क्या है? विषय और उस शास्त्र में संबन्ध क्या है? तथा उस शास्त्र का प्रयोजन क्या है।

1.3.2 कोशग्रंथ वाचस्पत्यम् में अनुबन्ध चतुष्टय

ज्ञातार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
शास्त्रदौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ।।

अर्थात् कोई भी व्यक्ति या पाठक उस ग्रन्थ को सुनने या पढ़ने में तब तक नहीं लगता जब तक उस ग्रन्थ के संबंध में स्थापित होने वाली विषयवस्तु और उद्देश्य का ज्ञान न हो जाये। इसी प्रकार, अनुबंधों का ज्ञान श्रोता

और किसी अन्य को भी धर्मग्रंथों को सुनने और अध्ययन करने के लिए प्रेरित करता है। परिणामस्वरूप, वे धर्मग्रंथों के अध्ययन में शामिल हो जाते हैं।

1.3.3 कुमारिल भट्ट के अनुसार अनुबन्ध चतुष्टय

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित् ।
यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते।।

अर्थात्, सभी धर्मग्रंथों में या किसी भी कार्य में कोई भी तब तक शामिल नहीं होता जब तक कि उद्देश्य न बताया गया हो। अतः शास्त्रें में संबंध एवं उद्देश्य का उल्लेख करना आवश्यक है। अनुबन्धों के द्वारा ही पढ़ने वाला व्यक्ति शास्त्र/ग्रन्थ की ओर प्रवृत्त होता है, तथा शास्त्र अपने ज्ञान से पाठक को अपनी ओर आकृष्ट करता है। यदि शास्त्र के आरम्भ में ही अनुबन्धों का वर्णन नहीं होता है, तो शास्त्र पढ़ने में पाठक की रुचि नहीं हो पाती है।

1.3.4 भक्तमाल में अनुबन्ध चतुष्टय

प्रत्येक ग्रंथ का अनुबन्ध चतुष्टय होता है इसका अधिकारी कौन है, इसका संबन्ध क्या है, इसका विषय क्या है, इसका प्रयोजन क्या है तो भक्तमाल में अनुबन्ध चतुष्टय के बारे में नाभादासजी कहते हैं - भ्रमर स्वभाव के रसिक जन ही अधिकारी हैं। किसी सरोवर में जब कमल खिलता है तो भौंरा एक योजन दूर से गुनगुनाता हुआ आता है और कमल की कर्णिका पर बैठ कर मकरंद पान करता हुआ सब कुछ भूल जाता है। उसी कमल की नाल के पास बैठा मेंढक टर्र टर्र करता हुआ कीड़े बीन बीन कर खाता है। मेंढक वृत्ति के लोग भक्तमाल के अधिकारी नहीं हैं, भ्रमर वृत्ति के लोग ही अधिकारी हैं। सदाचार ही संबन्ध है। भक्तों के जीवन का सदाचार श्रोता-वक्ता में अवतरित होना चाहिए।

1.3.5 गीता में अनुबन्ध चतुष्टय

प्रत्येक ग्रंथ में चार बातें होती हैं- ग्रंथ का विषय- उसका प्रयोजन, उसका अधिकारी और प्रतिपाद्य-प्रतिपादक का संबंध। इन चारों को अनुबन्ध चतुष्टय नाम से कहा जाता है। गीता का अनुबन्ध - चतुष्टय इस प्रकार है-

- **अधिकारी** - जो अपना कल्याण चाहते हैं, वे सब के सब गीता के अधिकारी हैं। मनुष्य चाहे किसी देश में रहने वाला हो, किसी वेश को धारण करने वाला हो, किसी संप्रदाय को मानने वाला हो, किसी वर्ण आश्रम का हो, किसी अवस्थावाला हो और किसी परिस्थिति में स्थित हो, वह गीता का अधिकारी है।
- **विषय -** जिनसे जीव का कल्याण हो, वे कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि सब विषय (साधन) गीता में आये हैं।
- **सम्बन्ध -** गीता के विषय और गीता में परस्पर प्रतिपाद्य है और गीताग्रंथ स्वयं प्रतिपादक है। जिसको समझाया जाता है, वह विषय प्रतिपाद्य कहलाता है और जो समझाने वाला होता है, वह प्रतिपादक कहलाता है। जीव का कल्याण कैसे हो- यह।
- **प्रयोजन -** जिसको प्राप्त होने पर करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहता, उसकी प्राप्ति कराना अर्थात् जीव का उद्धार करना गीता का प्रयोजन है।

1.3.6 कुमारिल भट्ट के अनुसार अनुबन्ध चतुष्टय

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित् ।
यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते।।

अर्थात् सभी धर्मग्रन्थों में या किसी भी कार्य में कोई भी तब तक शामिल नहीं होता जब तक कि उद्देश्य न बताया गया हो। अतः शास्त्रों में सम्बन्ध एवं उद्देश्य का उल्लेख करना आवश्यक है। अनुबन्धों के द्वारा ही पढ़ने वाला व्यक्ति शास्त्र/ग्रन्थ की ओर प्रवृत्त होता है तथा शास्त्र अपने ज्ञान से पाठक को अपनी ओर आकृष्ट करता है। यदि शास्त्र के आरम्भ में ही अनुबन्धों का वर्णन नहीं होता है, तो शास्त्र पढ़ने में पाठक की रुचि नहीं हो पाती है।

प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्ताऽवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-च्छल-जाति-निग्रह स्थानानां तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगमः। इति न्यायस्यादिमं सूत्रम् ।

शब्दार्थ -

तत्वज्ञानात् = तत्वज्ञान से, आदिमं = प्रथम, सूत्रम् = सूत्र।

गद्यार्थ -

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्ड, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थानों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह गौतम के न्यायशास्त्र का प्रथम सूत्र है।

स्वयं आकलन कीजिए-

अभ्यास प्रश्न -1

1. यह ग्रन्थ किसके लिए रचा गया है?
2. अनुबन्ध चतुष्टय कौन-कौन हैं?
3. न्यायदर्शन के अनुसार अधिकारी कौन है?
4. किसके ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती हैं?
5. तर्कभाषा के अनुसार सोलह पदार्थों के क्या नाम हैं?

1.4 न्यायशास्त्र की त्रिविध प्रवृत्ति

प्रमाणादिषोडशपदार्थानां तत्त्वज्ञानान्मोक्षप्राप्तिर्भवतीति। न च प्रमाणादीनां तत्त्वज्ञानं सम्यगज्ञानं तावद्भवति यावदेषाम् उद्देशलक्षणपरीक्षाः न क्रियन्ते। यदाह भाष्यकारः - 'त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृतिः - उद्देतो लक्षणं परीक्षा चेति' ।

शब्दार्थ -

षोडशपदार्थानां = सोलह पदार्थों के, मोक्षप्राप्ति = मोक्ष की प्राप्ति, एषाम् = इनका, क्रियन्ते = किया जाए, आह = कहा जाए।

गद्यार्थ -

प्रमाण आदि षोडश पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्रति होती है। प्रमाण आदि का सम्यक ज्ञान तब तक सम्भव नहीं है, जब तक इनके उद्देश, लक्षण एवं परीक्षा न किए जाये। जैसा कि भाष्यकार ने कहा है - इस न्यायशास्त्र की तीन प्रकार की प्रवृत्ति होती है – 1. उद्देश, 2. लक्षण और 3. परीक्षा।

व्याख्या -

तत्त्वज्ञान से सीधे मोक्ष प्राप्त नहीं होता, अपितु तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश, मिथ्याज्ञान के नाश से दोषों का नाश, दोषों के नाश से प्रवृत्ति का नाश, प्रवृत्ति के नाश से जन्म का नाश और जन्म के नाश से मोक्ष प्रास होता है। इस तरह तत्त्वज्ञान अपवर्ग का प्रमुख साधन है।

प्रत्येक शास्त्र के अध्ययन एवं अध्यापन की एक निश्चित् पद्धति होती है, जिस पद्धति का आश्रय लेकर उस शास्त्र का सम्यक् एवं सुव्यवस्थित रूप से प्रतिपादन किया जाता है। न्यायशास्त्र के पदार्थों के विवेचन हेतु वात्स्यायन ने तीन सोपान बताए हैं। ये हैं - उद्देश, लक्षण एवं परीक्षा। तर्कभाषाकार के अनुसार प्रमाणादि षोडश पदार्थों का सम्यक ज्ञान उद्देश, लक्षण एवं परीक्षा के बिना नहीं हो सकता है।

नाममात्र से किसी पदार्थ या बस्तु का कथन करना उद्देश कहलाता है। नाम-कथन के बिना लक्षण सम्भव नहीं हो सकता। अतः पदार्थ-विवेचन हेतु नामकथन उद्देश आवश्यक है। असाधारण धर्म का कथन करना ही लक्षण कहलाता है। लक्षण कार्य स्वरूप भी होता है। नाम से कथन के पश्चात् कथित पदार्थ का लक्षण स्वरूप बताना है।

लक्षित का लक्षण सही किया गया है या नहीं? इस बात का विचार करना परीक्षा कहलाता है। परीक्षा के द्वारा ही लक्षित पदार्थ के स्वरूप की सही जानकारी हो पाती है। इस तरह उद्देश, लक्षण एवं परीक्षा के माध्यम से पदार्थों का तत्त्वज्ञान न्यायशास्त्र में कराना अभिप्रेत है।

उद्देशस्तु नाममात्रेण वस्तुसंकीर्तनम्। तच्चास्मिन्नेव सूत्रे कृतम्। लक्षणन्त्वसाधारण - धर्मवचनम्। यथा- गोः सास्नादिमत्त्वम्। लक्षितस्य लक्षणमुपपद्यते न वेति विचारः परीक्षा। तेनैते लक्षणपरीक्षे प्रमाणादीनां तत्त्वज्ञानार्थं कर्त्तव्ये।

गद्यार्थ -

नाममात्र से वस्तुसंकीर्तनम् अर्थात् पदार्थ का कथन करना उद्देश कहलाता है और वह इसी सूत्र में कर दिया गया है। असाधारण धर्म का कथन करना लक्षण कहलाता है। जैसे गाय का लक्षण है सास्नादिमत्त्व अर्थात् सास्नादि वाली गाय होती है। जिसका लक्षण किया जाता है, उस पर वह लक्षण घटित हो रहा है या नहीं, यह विचार करना परीक्षा है। इसलिए प्रमाणादि के तत्त्वज्ञान के लिए लक्षण एवं परीक्षा करने चाहिए।

व्याख्या -

इस त्रिविध प्रवृत्ति का प्रतिपादन सर्वप्रथम वात्स्यायन ने किया है और वह मुख्यतः न्यायशास्त्र में ही लागू होता है। न्याय के समानतंत्र कहलाने वाले वैशेषिक में भी परीक्षा को छोड़कर केवल उद्देश और लक्षण दो प्रकार की प्रवृत्ति का ही वर्णन है।

पदार्थों का उद्देश न करने पर उनके लक्षण नहीं हो सकते। यदि पदार्थों के लक्षण न किए जाएं तो कारण न होने से तत्त्वज्ञान नहीं होगा। इसलिए पदार्थ बोधन के लिए प्रवृत्तशास्त्र के उद्देश और लक्षण रूप दोनों प्रकार की प्रवृत्ति आवश्यक है। परन्तु परीक्षा का कोई नियम नहीं है।

जहाँ लक्षण कर देने पर दूसरे मतों के आक्षेप के कारण तत्त्वनिर्णय नहीं हो पाता, वहाँ परपक्ष के खण्डन के लिए परीक्षा का अवलम्बन किया जाता है। जहाँ लक्षण का कथन करने मात्र से ही तत्त्व का निश्चय हो जाता है, वहाँ परीक्षा के व्यर्थ होने से उसका अवलम्बन नहीं किया जाता।

1.4.1 उद्देश

यदि पदार्थों का उद्देश न किया जाये तब उसका लक्षण करना सम्भव नहीं होगा। इस लक्षण में यदि 'मात्रेण' पद नहीं दिया जाये तब 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' इत्यादि लक्षणवाक्य में भी उद्देश का लक्षण अतिव्याप्त हो जायेगा। यदि 'नाममात्रेण' न कहकर 'वस्तुसंकीर्तनम् उद्देशः' यह लक्षण करें, तब लक्षण एवं परीक्षा में यह अतिव्याप्त हो जाएगा, क्योंकि लक्षण एवं परीक्षा में भी वस्तु का कथन होता ही है। अतः 'नाममात्रेण' पद इस लक्षण में साभिप्राय है। उद्देश का उदाहरण प्रमाण, प्रमेय इत्यादि सूत्र है।

1.4.2 लक्षण

असाधारणधर्मवचनं लक्षणम् अर्थात् 'असाधारण धर्म का कथन' लक्षण का पारिभाषिक अर्थ है। लक्षण व्यावृत्ति भेद ज्ञान का हेतु होता है। प्रत्येक पदार्थ के सजातीय एवं विजातीय पदार्थ होते हैं। लक्षण का प्रयोजन है सजातीय एवं विजातीय पदाथों से लक्षित पदार्थ को अलग बतलाना। जैसे 'सास्नामित्वम्' यह गो का लक्षण है। यह लक्षण सजातीय चतुष्पाद प्राणियों भैंस, घोड़ा आदि से भित्र करता है तथा विजातीय मनुष्य आदि भी भित्र करता है।

लक्षण ऐसा होना चाहिए जो लक्ष्यमात्र में रहे, अन्य में नहीं अर्थात् 'अव्याप्ति-अतिव्याप्ति- असम्भव रूप तीनों दोषों से रहित असाधारण धर्म ही लक्षण हो सकता है। जैसे 'सास्नादिमत्त्वम्' यह लक्षण केवल गोमात्र लक्ष्य में है, अन्यत्र नहीं है। अतः यह लक्षण असाधारणधर्मकथन है।

जो धर्म लक्ष्य के एकभाग से घटित हो, पूर्ण लक्ष्य में नहीं, वह अव्यातिदोषयुक्त लक्षण हो जाता है तथा मान्य नहीं होता है। जैसे 'कृष्णत्वं गोत्वमम्'। कृष्णत्व कुछ गायों में ही होगा सब में नहीं। अतः 'कृष्णात्वम्' यह लक्षण दोषग्रस्त होने से मान्य नहीं हो सकता।

जो लक्षण लक्ष्य के अलावा अलक्ष्य अर्थात् लक्ष्यभिन्न में भी घटित हो जाता है, वह अतिव्याप्ति दोषयुक्त माना जाता है। जैसे-गाय का लक्षण यदि ' शृंगित्वं गोत्वम्' कर दिया जाये, तो शृंगि लक्ष्य-गो से भित्र महिष में भी घटित हो जाता है। अतः ' शृंघित्वं' लक्षण अतिव्याप्तिदोष युक्त होने से मान्य नहीं होता है।

जो धर्म लक्ष्य में रहे ही नहीं, वह असम्भव दोष युक्त माना जाता है। जैसे- 'एकशफवत्वम् गोत्वम्' एक खुर वाली गाय है। यदि यह गाय का लक्षण किया जाये तो गो में यह सम्भव नहीं होने से असम्भव नामक दोष से ग्रस्त लक्षण हो जायेगा, क्योंकि लक्ष्य गो में एक शफत्व (एक खुर, बिना चीरा के) होता ही नहीं है। इस तरह वही असाधारणधर्मवचन लक्षण होगा, जो अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-असम्भव इन तीनों दोषों से रहित होगा तथा लक्ष्य मात्र में रहेगा।

1.4.3 परीक्षा

जिस किसी पदार्थ का लक्षण किया गया, वह लक्षण सही किया गया है या नहीं? इस बात का विचार करना ही परीक्षा कहलाता है। परीक्षा के द्वारा ही लक्षित पदार्थ के स्वरूप की सही जानकारी हो पाती है। जब तक परीक्षा न की जाए तब तक ज्ञान की सम्पूर्णता नहीं होती है। इसलिए लक्षित वस्तु की परीक्षा करना आवश्यक है। परीक्षा करने के पश्चात् हमारा ज्ञान पूर्ण हो जाता है।

इस तरह उद्देश, लक्षण एवं परीक्षा के माध्यम से पदार्थों का तत्त्वज्ञान न्यायशास्त्र में कराना अभिप्रेत है।

स्वयं आकलन कीजिए -
अभ्यास प्रश्न -2

1. प्रमाणदि षोड्श पदार्थों का ज्ञान कब तक नहीं होता?
2. उद्देश किसे कहते हैं?
3. लक्षण से क्या अभिप्राय है?
4. न्यायशास्त्र के समान तंत्र (शास्त्र) का नाम क्या है?

1.5 सारांश

प्रथम इकाई में प्रस्तुत ग्रन्थ के उद्देश्य, अनुबन्ध चतुष्टय की जानकारी, विभिन्न विद्वानों के अनुबन्ध चतुष्टय से सम्बन्धित विचार तथा चारों अनुबन्धों का विस्तृत उल्लेख किया गया है। आशा है आप लोग इस इकाई के अध्ययन से लाभान्वित होंगे।

1.6 कठिन शब्दावली -

अलसः = आलसी, संक्षिप्तयुक्त्यन्विततर्कभाषा = संक्षिप्त युक्तियों से युक्त तर्कभाषा नामक ग्रन्थ, प्रकाश्यते = प्रकाशित किया जा रहा है, निश्रेयस = मोक्ष, अधिगमः = प्राप्त होता है, सम्यग्ज्ञानं = सम्यक ज्ञान, त्रिविधा = तीन प्रकार की, नाममात्रेण = नाममात्र से, वस्तुसंकीर्तनम् = पदार्थ का कथन करना, कृतम् = किया गया, धर्मवचनम् = धर्म का कथन करना, लक्षितस्य = जिसका लक्षण किया जाए, तत्वज्ञानार्थ = तत्त्व के ज्ञान के लिए।

1.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर –

अभ्यास प्रश्न – 1

1. बालक के लिए
1. अधिकारी, विषय, सम्बन्ध तथा प्रयोजन ।
2. न्यायशास्त्र के सिद्धान्तों को जानने का इच्छुक व्यक्ति ।
3. सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से।
4. सोलह पदार्थों का नाम – 1. प्रमाण, 2. प्रमेय, 3. संशय, 4. प्रयोजन, 5. दृष्टान्त, 6. सिद्धान्त, 7. अवयव, 8. तर्क, 9. निर्णय, 10. वाद, 11. जल्प, 12. वितण्ड, 13. हेत्वाभास, 14. छल, 15. जाति, 16. निग्रहस्थानम्।

अभ्यास प्रश्न-2

1. जब तक उद्देश, लक्षण और परीक्षा न की जाए।
2. नाममात्र से वस्तु का कथन करना उद्देश है।
3. असाधारण धर्म का कथन करना लक्षण है।
4. वैशेषिक

1.8 सहायक ग्रन्थ

1. तर्कभाषा, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणि, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी-221001, संस्करण-12, 2013.
2. तर्कभाषा, टीकाकार, पण्डित श्रीरुद्रधर झा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-221001, संस्करण-7, 2021.
3. तर्कभाषा, व्याख्याकार डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-221001, संस्करण-2013.
4. तर्कभाषा, व्याख्याकार एवं सम्पादक डॉ. अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर-302001, संस्करण-2021.
5. तर्कभाषा, व्याख्याकार श्रीबदरीनाथशुक्ल, मोतीलाल बनारसी दास, चौक वाराणसी, प्रथम संस्करण-1968.

1.9 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न -

1. केशवमिश्र के अनुसार तर्कभाषा की रचना का क्या प्रयोजन है?
2. केशवमिश्र के अनुसार तर्कभाषाशास्त्र की तीन प्रकार की प्रवृत्ति क्या है?
3. अनुबन्ध चतुष्टय से क्या अभिप्राय है?

इकाई - दो

प्रमाण और कारण

संरचना

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 प्रमाण लक्षण
  2.3.1 प्रमा अर्थ व लक्षण
  2.3.2 करणम् का अर्थ व उदाहरण
    - स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न - 1
2.4 कारणम् का अर्थ एवं उदाहरण
  2.4.1 कारण के भेद
  2.4.2 संयोग सम्बन्ध
  2.4.3 अयुतसिद्ध
    - स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न - 2
2.5 सारांश
2.6 कठिन शब्दावली
2.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर
2.8 सहायक ग्रन्थ
2.9 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियो, इस इकाई में केशव मिश्र ने प्रमाण का लक्षण, प्रमा अर्थात् ज्ञान, करण (आधार) और कारण के बारे में जानकारी दी है। इसमें बताया गया है कि प्रमा अर्थात् ज्ञान के आधार को प्रमाण कहते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि जिससे वस्तु अथवा पदार्थ के ज्ञान का हमें निश्चय हो जाता है, उसे प्रमाण कहते हैं। प्रमाण के बाद यह बताया गय है कि प्रमा अथवा ज्ञान क्या होता है और उस ज्ञान की प्राप्ति किस प्रकार होती है। तदनन्तर करण की चर्चा की गई है।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से विद्यार्थियों को निम्नलिखित जानकारी उपलब्ध होगी –

- प्रमाण का लक्षण और प्रमा का ज्ञान
- करण का ज्ञान
- कारण प्रमाण की जानकारी

2.3 प्रमाण लक्षण

तत्रपि प्रथममुद्दिष्टस्य प्रमाणस्य तावल्लक्षणमुच्यते। प्रमाकरणं प्रमाणम्। अत्र च प्रमाणं लक्ष्यं प्रमाकरणं लक्षणम्।

ननु प्रमायाः करणं चेत् प्रमाणं तर्हि तस्य फलं वक्तव्यं, करणस्य फलवत्त्वनियमात्। सत्यम्। प्रमैव फलं साध्यमित्यर्थः । यथा छिदाकरणस्य परशोश्छिदैव फलम्।

शब्दार्थ -

तत्रपि = उन में भी, प्रथमम् = प्रथम, उद्दिष्टस्य = कहे गये, प्रमाणस्य = प्रमाण का, प्रमाकरणम् = यथार्थ ज्ञान का करण (साधन), प्रमायाः करणम् = प्रमा का करण, करणस्य = साधन (करण) का, फलवत्त्वनियमात् = फलवाला होना चाहिए, ऐसा नियम है, साध्यमित्यर्थः = साध्य है, यह अर्थ है, छिदाकरणस्य = छेदन का करण, परशोः = फरसे का (कुल्हाड़ी का)।

गद्यार्थ -

उन प्रमाणादि सोलह पदार्थों में भी पहले कहे गये प्रमाण का लक्षण कहा जा रहा है। प्रमा का करण प्रमाण है (लक्षण)। इस लक्षण में प्रमाण यह पद लक्ष्य है और प्रमा का करण यह पद लक्षण है।

प्रश्न पैदा होता है कि यदि प्रमा का करण अर्थात् साधन प्रमाण है, तो उसका फल भी बतलाना चाहिए, क्योंकि करण फलवान् होता है, ऐसा नियम है?

उत्तर देते हुए कहा जा रहा है कि ठीक है अर्थात् करण का फल अवश्य होता है। प्रमा ही फल अर्थात् साध्य है। जैसे कि छेदन के करण फरसे का फल छेदन ही होता है। इसी प्रकार यहाँ प्रमा के करण अर्थात् प्रमाण का फल प्रमा ही समझना चाहिए।

व्याख्या -

'प्रमाकरणं प्रमाणं' यह प्रमाण का सामान्य लक्षण किया गया है। उसके स्पपष्टीकरण के लिए 'प्रमा' का लक्षण करना आवश्यक है। इसलिए 'यथार्थानुभवः प्रमा' यह 'प्रमा' का लक्षण किया है। इस लक्षण में भी 'प्रमा' यह पद लक्ष्य अंश है और 'यथार्थानुभवः' इतना लक्षण अंश है। लक्षण अंश में यथार्थ और अनुभव इन दो पदों का समावेश है। लक्षण में ये दोनों पद विशेष अभिप्राय से रखे गए हैं।

ऊपर अतिव्याप्ति आदि लक्षण के दोषों का वर्णन किया है। इन पदों के रखने का प्रयोजन अतिव्याप्ति दोष का निराकरण करना ही है। किस पद के रखने का क्या प्रयोजन है, इसके जानने का सीधा मार्ग यह है कि उस पद को लक्षण से हटा दिया जाए और तब उसका क्या प्रभाव होता है, इसको देखा तब उस पद के रखने की उपयोगिता प्रतीत हो जाएगी। जैसे यहाँ यदि यथार्थ पद को हटा दिया जाए तो 'अनुभवः प्रमा' केवल इतना लक्षण रह जाता है। इस लक्षण के होने पर शुक्ति को रजत रूप में ग्रहण करने वाला 'भ्रम' या 'विपर्यय' ज्ञान भी अनुभव रूप होने से 'प्रमा' कहलाने लगेगा। अथवा अंधेरे में किसी ऊँचे पेड़ के ठूंठ को खड़ा देखकर 'स्थाणर्वा पुरुषो' यह संशयात्मक ज्ञान भी अनुभव रूप होने से 'प्रमा' कहलाने लगेगा।

इसी प्रकार तर्क ज्ञान में भी प्रमा का लक्षण चला जाएगा। परन्तु संशय, विपर्यय और तर्क ज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं है।उनको प्रमा नहीं कहा जा सकता। यदि 'अनुभवः प्रमा' इस लक्षण के साथ 'यथार्थ' पद जोड़ दिया जाए तो 'अयथार्थ' ज्ञान रूप संशय, विपर्यय और तर्क ज्ञान में प्रमा के लक्षण की अतिव्याप्ति के निराकरण के लिए 'यथार्थ' पद का सन्निवेश 'प्रमा' के लक्षणों में किया गया है।

2.3.1 प्रमा का अर्थ व लक्षण

का पुनः प्रमा, यस्याः करणं प्रमाणम्। उच्यते यथार्थानुभवः प्रमा। यथार्थ इत्ययथार्थानां संशयविपर्ययतर्कज्ञानानां निरासः। अनुभव इति स्मृतेर्निरासः। ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः। अनुभवो नाम स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानम्।

शब्दार्थ

यथार्थानुभवः = यथार्थ अनुभव अथवा वास्तविक ज्ञान, अयथार्थानाम् = अययार्थ अथात् अवास्तविक, संशयविपर्ययतर्कज्ञानानाम् = संशय, विपर्यय एवं तर्करूप ज्ञानों का, निरासः = निराकरण, अनुभवः इति = अनुभव इस पद के द्वारा, स्मृतेः = स्मृति का, ज्ञातविषयं = जिसका विषय ज्ञात है, अनुभवो नाम = अनुभव कहते हैं, स्मृतिव्यतिरिक्तम् ज्ञानम् = स्मृति से व्यतिरिक्त भिन्न, ज्ञान को।

गद्यार्थ -

(प्रश्न उठता है कि) फिर प्रमा क्या है, जिसका करण प्रमाण है? (उत्तर) बतलाते हैं यथार्थ अनुभव प्रमा है। यथार्थ पद अयथार्थ ज्ञान रूप संशय, विपर्यय और तर्क ज्ञान का निराकरण किया जाता है, अर्थात् ये प्रमा नहीं हैं। अनुभव पद से स्मृति का निराकरण किया गया है। (ज्ञान के दो भेद हैं- अनुभव और स्मृति।) ज्ञात विषयक ज्ञान को स्मृति कहते हैं और स्मृति से भिन्न ज्ञान को अनुभव कहते हैं।

व्याख्या -

प्रमाण के लक्षण में दो पद हैं- प्रमा और करण। करण का अर्थ है-साधन, प्रमा का अर्थ है- यथार्थ-ज्ञान, अर्थात् जिस साधन से यथार्थ-ज्ञान हो, वह प्रमाण है। जैसे-नेत्र, श्रोत्र, जिह्वा, त्वक्, नासिका। ये सभी अपने अपने विषय का यधार्थ-ज्ञान कराते हैं, अतः प्रमाण हैं। शब्द और अनुमान भी यथार्थ ज्ञान कराते हैं, अतः वे भी प्रमाण हैं। सादृश्य भी गवय आदि का ज्ञान कराता है, अतः उपमान भी प्रमाण है।

जो अर्थ जैसा है, उसका वैसा ही ज्ञान यथार्थानुभव होता है। यधार्थ पद अयथार्थ संशयात्मक ज्ञान, विपरीत ज्ञान और तर्क में लक्षण की अतिव्याप्ति को रोकने के लिए है और अनुभव पद स्मृतिज्ञान में लक्षण की अतिव्याप्ति को रोकने के लिए है। अर्थात् स्मृतिज्ञान प्रमा नहीं हो सकती।

रज्जु में सर्प का ज्ञान अयधार्थ है। सर्प के अभाव वाले रज्जु में सर्पत्वप्रकारक जो अनुभव किसी को होता है, वह अयथार्थानुभव है तथा शुक्ति में रजत का ज्ञान भी अयथार्थ है। अयथार्थानुभव के तीन भेद हैं - संशय, विपर्यय और तर्क। किसी एक पदार्थ में विरुद्ध अनेक पदार्थों का ज्ञान संशय कहलाता है। जैसे दूर से देखने पर 'यह ठूंठ है या पुरुष'।

विपर्यय कहते हैं जो जैसा नहीं है, उसमें वैसा ज्ञान होना। जैसे दूर से चमकती सीपी में चांदी का ज्ञान होना विपर्यय भ्रान्ति है। इसी प्रकार पीछे से देखने पर खुले केश वाले सरदार में स्त्री का ज्ञान होना भी विपर्यय है।

तर्कज्ञान को केशवमिश्र ने अयथार्थ के अन्तर्गत माना है। इसका कारण यह है कि तर्क भी निश्चय से पूर्व की अनिश्चयावस्था का नाम है। तर्क केवल एक पक्ष का समर्थन मात्र करता है, न कि उसका निश्चय कि यह पदार्थ ऐसा ही है। अतः तर्क को यथार्थ ज्ञान नहीं कह सकते। जैसे 'पर्वतः अग्निमान् धूमात्' कहकर हम धूम से अग्नि का ज्ञान किसी को कराना चाहते हैं। यह अयथार्थ है, क्योंकि द्रष्टा यह निश्चय नहीं कर पाता कि यहाँ आग

ही है, क्योंकि वह आग को तो देखता नहीं। यह कह सकते हैं कि तर्क प्रमाणों का सहायक है, किन्तु यथार्थ नहीं है।

स्मृति वह है कि किसी वस्तु को देखने या जानने के बाद आत्मा में एक संस्कार उत्पन हो जाता है। आँखों से ओझल होने पर भी संस्कार आत्मा में रहता है। कालान्तर में जब किसी कारण से वह संस्कार उद्‌बुद्ध हो जाता है तब बिना किसी बाह्य इन्द्रिय की सहायता से उस पदार्थ का पुनः ज्ञान हो जाता है। इसी को स्मृति कहते हैं। इसलिए 'ज्ञातविषयं ज्ञानम् स्मृतिः' यह स्मृति का लक्षण है।

ज्ञान का एक और भेद भी है जिसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। प्रत्यभिज्ञा का लक्षण 'तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्याभिज्ञा' - यह बताया गया है। अर्थात् 'तत्ता और इदन्ता' दोनों का अवगाहन करने वाली प्रतीति 'प्रत्याभिज्ञा कहलाती है। तत्ता का अर्थ तद्देश और तत्काल सम्बन्ध अर्थात् पूर्वदेश और पूर्वकाल सम्बन्ध है। 'इदन्ता' का अर्थ एतद्देश और एतत्काल सम्बन्ध है। जिसमें पूर्वदेश, पूर्वकाल और वर्तमान देश, वर्तमान काल दोनों की प्रतीति हो, उस प्रतीति को प्रत्याभिज्ञा कहते हैं। जैसे - 'सोऽयं देवदत्तः यः पाटलिपुत्रे दृष्टः' अर्थात् यह वही देवदत्त है जिसे पाटलीपुत्र में देखा था। इस तरह ज्ञान के तीन भेद होते हैं - अनुभव, स्मृति और प्रत्यभिज्ञा। इनमें से केवल 'यथार्थ अनुभव' को प्रमा कहते हैं और यथार्थ अनुभव के करण को प्रमाण कहते हैं। यथार्थानुभवरूप प्रमा की उत्पत्ति ही प्रमाणरूप कारण का साध्य या फल है।

2.3.2 करण का अर्थ एवं उदाहरण

किं पुनः करणम् ? साधकतमं करणम्। अतिशयितं साधके साधकतमं प्रकृष्टं कारणमित्यर्थः ।

शब्दार्थ -

करणम् = करण पदार्थ, साधकतमम् = अतिशय साधक, अतिशयितं साधकं = अतिशय साधक ही।

गद्यार्थ -

(प्रश्न) फिर करण किसे कहते हैं? (उत्तर) साधकतम को करण कहते हैं। अतिशय साधक अर्थात् सर्वोत्कृष्ट कारण ही करण कहलाता है।

किसी कार्य की उत्पत्ति में अत्यन्तोपयोगी कारण ही करण होता है। अतएव 'व्यापारवदसाधारणं कारणं' करणम् यह एक अन्य लक्षण करण का किया गया है। अर्थात् व्यापार क्रिया से युक्त, असाधारण विशेष कारण को करण कहते हैं।

किसी एक कार्य के अनेक कारण होते हैं, उनमें जो सबसे महत्त्वपूर्ण कारण होता है, उसे करण कहते हैं। जैसे घट की उत्पत्ति में दण्ड असाधारण कारण है। अत एव 'फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम्' यह भी करण का लक्षण किया जाता है। जिस कारण के रहने पर फल प्राप्त होता ही है, वह कारण करण कहलाता है। इस तरह किसी कार्य की उत्पत्ति में प्रकृष्ट कारण को करण माना जाता है। लक्षण में साधकतमम् लक्षण भाग है तथा करणम् यह लक्ष्य भाग है।

स्वयं आकलन कीजिए-

अभ्यास प्रश्न -1

1. प्रमाण किसे कहते हैं?
2. प्रमाण का फल क्या है?
3. प्रमा किसे कहते हैं?
4. स्मृति किसे कहते हैं?
5. करण किसे कहते हैं?

2.4 कारण का अर्थ एवं उदाहरण

ननु साधकं कारणमिति पर्यायस्तदेव न ज्ञायते किन्तत्कारणमिति ? उच्यते यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियतोऽनन्यथासिद्धश्च तत्कारणम् । यथा- तन्तुवेमादिकं पटस्य कारणम्।

शब्दार्थ -

पर्यायः = समानार्थक है, तदेव = वहीं, न ज्ञायते = समझ में नहीं आ रहा है, पूर्वभावः = पहले होना, नियतः= निश्चित है, अनन्यथासिद्धः= जो अन्यथा सिद्ध (व्यर्थ) नहीं है, तन्तुवेमादिकम् = तन्तु (धागा), वेमा (वस्त्र बुनने का साधन) आदि,

गद्यार्थ -

(अब यहाँ प्रश्न है) साधक और कारण (परस्पर) पर्यायवाची हैं। यही मालूम नहीं है कि वह कारण क्या है?

(उत्तर दिया जा रहा है) बताते हैं। जिसका कार्य से पहले होना निश्चित हो और जो कार्य के प्रति अनावश्यक नहीं हो अर्थात् आवश्यक हो, वह कारण है। जैसे तन्तु और वेमा आदि पट के कारण हैं।

व्याख्या -

कार्य से पूर्व में जिस की सत्ता हो और वह निश्चित या अवश्यम्भावी हो, वह कारण होता है अर्थात् कार्य बिना कारण के हो ही नहीं सकता। पूर्व में कारण की सत्ता रहने पर ही कार्य होगा। यही कारण और कार्य में भेद भी है। जैसे पटरूपी कार्य की उत्पत्ति से पूर्व तन्तु, तुरी आदि की सत्ता होनी आवश्यक है।

इस कारण के लक्षण में 'नियतः' और 'अनन्यथासिद्धश्च' ये दो विशेषण पद विशेष महत्त्व के हैं। कार्य से पूर्व कारण की सत्ता निश्चित हो, अवश्यम्भावी हो। 'नियतः' पद के अभाव में अतिव्याप्ति दोष आ जायेगा।

अनन्यथासिद्धश्च का आशय है कि जिसकी सत्ता पूर्वभावी एवं नियत है, वह किसी अन्य कार्य में उपयुक्त न हो गया हो।

यद्यपि पटोत्पत्तौ दैवादागतस्य रासभादेः पूर्वभावो विद्यते, तथाऽपि नामौ नियतः ।

तन्तुरूपस्य तु नियतः पूर्वभावोऽस्त्येव किन्त्वन्यथासिद्धः पटरूपजननोपक्षीणत्वात्, पटं प्रत्यपि कारणत्वे कल्पनागौरवप्रसंगात्।

तेनानन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्। अनन्यथासिद्धनियतपश्चाद्भावित्वं कार्यत्वम् ।

शब्दार्थ -

पटोत्पत्तौ - पट की उत्पत्ति के समय में, दैवात् = संयोगवश, आगतस्य = आये हुए, रासभादेः = गर्दभ आदि का, वद्यते = है, तन्तुरूपस्य = तन्तुरूप का, पूर्वभावः = पूर्व में सत्ता, अन्यथासिद्धः = अन्यथासिद्ध अथवा अनुपयोगी है, पटरूपजननो = पट के रूप की उत्पत्ति कर, पक्षीणत्वात् = क्षीण कर चुका है, कल्पनागौरवप्रसंगात् = कल्पना में गौरव होने लगेगा, कार्यत्वम् = कार्य का,

गद्यार्थ -

यद्यपि पट की उत्पत्ति में संयोग से उपस्थित हुए गर्दभ आदि का भी पूर्वभाव हो सकता है फिर भी वह निश्चित नहीं है अर्थात् जब जब वस्त्र निर्माण होगा तब तब गर्दभ की उपस्थिति अनिवार्य नहीं है।

तन्तुरूप का तो पूर्वभाव नियत है, किन्तु वह पट की उत्पत्ति में अन्यथासिद्ध है, क्योंकि पट के रूप की उत्पत्ति के समय ही तन्तु की शक्ति क्षीण हो जाती है। इसलिए पट कार्य के प्रति तन्तुरूप को भी कारण मानने पर कल्पना गौरव होगा।

इस तरह कारण के लक्षण में नियत और अनन्यथासिद्ध पद के आवश्यक होने से अन्यथासिद्धरहित नियत रूप से कार्य से पूर्व में रहना ही (कारणत्व) कारण का स्वरूप है और अनन्यथासिद्ध नियतरूप से कारण के पश्चात् होना ही कार्य का स्वरूप (कार्यत्व) है।

व्याख्या -

नियतः अनन्यथासिद्धः कारण के लक्षण में ये दोनों पद बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। नियत का अर्थ है-निश्चित या अनिवार्य। कार्य के पूर्व कारण का रहना अनिवार्य है। पट की उत्पत्ति से पूर्व संयोग से गद्हा यदि उपस्थित हो जाता है तो उसे कारण नहीं माना जायेगा क्योंकि पटकार्य की उत्पत्ति में तन्तु, तन्तुवाय, वेमा आदि की तरह उसकी उपस्थिति अनिवार्य या निश्चित नहीं है। उसकी उपस्थिति के बिना भी कार्य उत्पन्न होगा। अतः गर्दभ कारण नहीं हो सकता। उसका पूर्वभाव तो संयोग से उपस्थित होना मात्र है।

तन्तु में विद्यमान रूप पट की उत्पत्ति से पूर्व नियत है, किन्तु वह भी पट कार्य का कारण नहीं बने इसलिए कारण के लक्षण में अनन्यथासिद्ध पद दिया गया है।

अनन्यथासिद्ध का अर्थ - जो अन्यथासिद्ध न हो' यह है। अन्यथासिद्ध उसे कहते हैं जो अन्य प्रकार से सिद्ध अर्थात् उपयुक्त या चरितार्थ हो चुका हो। तन्तु का रूप पट के रूप की उत्पत्ति में कारण बन चुका है अर्थात् उपयुक्त हो चुका है। अतः नियतपूर्वभावित्व के रहने पर भी तन्तुरूप पटकार्य का कारण नहीं हो सकता क्योंकि अन्य कार्य में (पट के रूप में) बह अपनी कारणत्व शक्ति का उपयोग कर अपनी शक्ति क्षीण कर चुका है।

यदि तन्तुरूप को पट और पटरूप दोनों के प्रति कारण मानेंगे तो कल्पना गौरव होगा। तन्तु तो पटकार्य का कारण बन ही चुका है। तन्तु से पट की उत्पत्ति हो चुकी है, फिर उसके रूप को कारण मानना कल्पना में गौरव है।

जिसका पूर्वभाव निश्चित हो और वह प्रकारान्तर से उपयुक्त न हुआ हो अर्थात् अनन्यथासिद्ध हो, वह कारण है। यह कारण का निष्कृष्ट लक्षण है।

यत्तु कश्चिदाह कार्यानुकृतान्वयतिरेक कारणमिति। नित्यपू व्योमादीनां कालतो देशतश्च व्यतिरेकासम्भवेनाकारणत्वप्रसंगात् ।

शब्दार्थ

नित्यविभूनाम् = नित्य और व्यापक, व्योमादीनाम् = आकाश आदि का, व्यतिरेकासम्भवेन = अभाव (व्यतिरेक) सम्भव न होने से, अकारणत्वप्रसंगात् = अकारणता के प्रसंग से।

गद्यार्थ -

जो कोई (मीमांसक) कहते हैं कि 'कार्य के द्वारा जिसके अन्वय और व्यतिरेक का अनुसरण किया जाता है, वह कारण है' यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि (कार्यमात्र के प्रति कारण बनने वाले) नित्य एवं व्यापक आकाश आदि का काल और देश में अभाव (व्यतिरेक) होना असम्भव है, तब तो आकाशादि किसी का कारण नहीं बन सकेंगे (अतः उपर्युक्त मीमांसक का लक्षण सही नहीं है)।

व्याख्या -

मीमांसक आदि 'कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्' यह कारण का लक्षण्ा करते हैं। इस लक्षण का अभिप्राय यह है कि 'कार्येण अनुकृतौ अन्वयव्यतिरेकौ यस्य तत्कारणम्' अर्थात् कार्य जिसके अन्वय और व्यतिरेक का अनुसरण करता है, उसको कारणा कहते हैं। इसमें अन्वय और व्यतिरेक का लक्षण 'तत्सत्वे तत्सत्ता अन्वयः' और 'तद्भावे तद्भावो व्यतिरेकः' किया जाता है। साधारणातः कारणता का निर्णय अन्वयव्यतिरेक से ही होता है। जैसे अग्नि दाह के प्रति कारण है, यह बात अन्वयव्यतिरेक से ही सिद्ध होती है। अग्नि और दाह का अन्वयव्यतिरेक इस प्रकार होगा- अग्निसत्वे दाहसत्ता' अर्थात् अग्नि के होने पर दाह होता है, यह अनवय हुआ और 'अग्न्यभावे दाहाभावः' अग्नि के अभाव में दाह का अभाव होता है, यह व्यतिरेक हुआ। इन दोनों के होने से ही अग्नि दाह के प्रति कारण सिद्ध होती है।

2.4.1 कारण के भेद

तच्च कारणं त्रिविधिम्। समवायि-असमवायि-निमित्त भेदात्। तत्र यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्। यथा तन्तवः पटस्य समवायिकारणम्। यतस्तन्तुष्वेव पटः समवेतो जायते, न तुर्यादिषु।

शब्दार्थ -

समवाय्यसमवायिनिमित्तभेदात् = समवायि, असमवायि एवं निमित्त के भेद से, यत्समवेतम् = जिसमें समवेत (समवायसम्वन्ध से), उत्पद्यते = उत्पन्न होता है, समवेतः = समवेत सम्बन्ध से, जायते = उत्पन होता है, तुर्यादिषु = तुरी आदि में।

गद्यार्थ -

और वह कारण समवायि, असमवायि और निमित्त भेद से तीन प्रकार का होता है। जिसमें समवायसम्बन्ध से कार्य उत्पन्न होता है वह समवायिकारण है। जैसे तन्तु पट के समवायिकारण हैं, क्योंकि तन्तुओं में ही पट-कार्य समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होता है, न कि तुरी आदि में।

व्याख्या -

कारण के त्रैविध्य को प्रदर्शित करके नैयायिकों ने सांख्य एवं वेदान्त के कारण द्वैविध्य को अमान्य कर दिया है। सांख्य एवं वेदान्त उपादान और निमित्त को कारण मानते हैं। उपादान कारण मुख्य कारण है। अन्य सभी कारण उनके सत्ता में निमित्तकारण में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। कारण और कार्य का तादात्म्य ही उपादान कारण है, जैसे तन्तु एवं पट में तादात्म्य है। मृत्तिका और घट में तादात्म्य है। अतः तन्तु एवं मृत्तिका उपादान

कारण हैं। परन्तु नैयायिक उपादान एवं समवायिकारण में थोड़ा भेद मानते हैं। नैयायिक समवायि से भिन्न कारण को दो भागों में रखते हैं- एक समवायिकारण में प्रत्यासन्न या समवायिकारण के समवायिकारण में विद्यमान गुण असमवायिकारण हैं, और दूसरा अन्य सभी निमित्तकारण में समाविष्ट हैं।

समवायि को अभेद्य या नित्य सम्बन्ध मानते हैं। जिस कारण को कार्य से अलग न किया जा सके वह समवायिकारण है। अतएव केशवमिश्र ने लिखा है - यत्समवेतं कार्यम् उत्पद्यते तत् समवायिकारणम्। समवेत का अर्थ है समवायसम्बन्ध से युक्त। कार्य का कारण के साथ यह सम्बन्ध कार्योत्पत्ति से पूर्व सम्भव नहीं होता, क्योंकि नैयायिक उत्पत्तिवादी हैं। वे मानते हैं कि पट उत्पन्न होता है, उत्पत्ति से पूर्व वह था ही नहीं। अतः 'मृत्तिकाया घटः उत्पद्यते' यह नियम बनता है। तन्तुओं में पट का समवाय होने से तन्तु पट का समवायिकारण बनता है अर्थात् तन्तुओं के साथ पट का एक सम्बन्ध बनता है जो समवाय कहलाता है। वह समवाय जिसमें है या जिसका है वह समवायिकारण होता है। तन्तु में पट का समवाय है, अतः तन्तु पट के समवायिकारण हुए।

2.4.2 संयोग सम्बन्ध

ननु तन्तुसम्बन्ध इव तुर्यादिसम्बन्धोऽपि पटस्य विद्यते, तत्कथं तन्तुष्वेव पटः समवेतो जायते, न तुर्यादिषु ?

सत्यम्। द्विविधः सम्बन्धः संयोगः समवायश्चेति । तत्रयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः । अन्ययोस्तु संयोग एव ।

शब्दार्थ -

तन्तुसम्बन्ध = तन्तुओं के साथ सम्बन्ध, तुर्यादि = तुरी, वेमा आदि, विद्यते = है, तत्कथम् = तो किस प्रकार से, तन्तुषु एव = तन्तुओं में ही, जायते = उत्पन्न होता है। तत्रयुतसिद्धयोः = उन दोनों सम्बन्धों में से, अन्ययोस्तु = अन्य पदार्थों का।

गद्यार्थ -

(प्रश्न उठता है कि) पट का जिस प्रकार तन्तुओं के साथ सम्बन्ध है, उसी प्रकार तुरी बेमा आदि के साथ भी है, तब क्यों तन्तुओं में ही समवाय सम्बन्ध से पट उत्पन्न होता है, तुरी आदि में क्यों नहीं?

(उत्तर देते हुए कहते हैं कि) सत्य है कि पट का तुरी आदि के साथ भी सम्बन्ध है, परन्तु सम्बन्ध दो प्रकार का होता है - संयोग और समवाय। उनमें जो दो अयुतसिद्ध (अपृथक् भूत) पदार्थ हैं, उनका सम्बन्ध समवाय होता है और जो दो अन्य पदार्थों का (पृथक् सिद्धों का) सम्बन्ध होता है, वह संयोग कहलाता है।

व्याख्या -

पट की उत्पत्ति में तन्तु, तन्तुवाय और तुरी इन तीनों कारणों का सम्बन्ध रहता है। जब तीनों का पट के साथ समान रूप से सम्बन्ध होता है, तब तन्तुओं में ही पट समवेत रूप से रहता है, इस बात को कैसे माना जाये?

इस प्रश्न के समाधान के लिए सम्बन्धों के प्रकार एवं भेद यहाँ पर बताए गए हैं। सम्बन्ध क्या है? सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्नः एकः द्विष्ठश्च अर्थात् दो पदार्थों का सम्बन्ध होता है। वह दोनों सम्बन्धियों से भिन्न, एक, किन्तु दोनों में स्थित होता है। जिन दो का सम्बन्ध होगा वे सम्बन्धी कहलायेंगे। संयोग और समवाय दोनों सम्बन्ध हैं, दोनों में यह लक्षण घटित होता है। संयोग में इसको घटाना आसान है। यथा - हाथ में कलम है।

सम्बन्धी हाथ और कलम हैं। इन दोनों का जो एकत्रीकरण है, उसमें सम्बन्ध तत्त्व कार्य करता है। वह सम्बन्ध सम्बन्धियों - हाथ और कलम से भिन्न है, किन्तु दोनों में है और एक है।

समवायसम्बन्ध का अन्य दर्शनों में तादात्म्य नाम है। प्रभाकर के अनुयायी मीमांसक समवायसम्बन्ध को स्वीकार करते हैं। वे जब दो नित्य पदार्थों का सम्बन्ध मानते हैं तब उसे समवाय मानते हैं और नित्य मानते हैं, अन्यथा अनित्य मानते हैं। नैयायिक नित्य या अनित्य अयुतसिद्ध पदार्थों का समवायसम्बन्ध मानते हैं तथा इसे नित्य मानते हैं।

अयुतसिद्ध से अभिप्राय है कि दो पदार्थों में एक जब तक रहता है तब तक विना नष्ट हुए दूसरे सम्बन्धी पर आश्रित रहता है। इससे भिन्न युतसिद्धों अर्थात् जिनका स्वरूप पृथक्-पृथक् ही सिद्ध रहता है उनका संयोग सम्बन्ध होता है। जैसे हाथ और लेखनी, पुस्तक और मेज का सम्बन्ध।

2.4.3 अयुतसिद्ध

कौ पुनरयुतसिद्धौ ? ययोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ। तदुक्तम् -
तावेवायुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः ।
अनश्यदेकमपराश्रितमेवावतिष्ठते ।।

शब्दार्थ -

अयुतसिद्धौ = अयुतसिद्ध कहलाते हैं, ययोः = जिन दो, मध्ये = मध्य में, अविनश्यत् = नष्ट नहीं होता, अपराश्रितम् = दूसरे पर आश्रित, अवतिष्ठते = रहता है, ययोः द्वयोः = जिन दो पदार्थों में।

गद्यार्थ -

किन दो (पदार्थों) को अयुतसिद्ध कहते हैं? उत्तर - जिन दो के बीच एक बिना नष्ट हुए दूसरे पर आश्रित रहता हो वे दोनों अयुतसिद्ध हैं। इसलिए कहा गया है- 'उन्हीं दो को अयुतसिद्ध समझना चाहिए जिन दो के मध्य एक अविनश्यतावस्था में रहता हुआ दूसरे पर ही आश्रित हो।'

व्याख्या -

जब दो पदार्थ अलग सिद्ध हैं तो वे युतसिद्ध होते हैं। युतसिद्धों का सम्बन्ध संयोग होता है। वहीं दूसरी ओर 'ययोर्मध्ये एकम् अनविनश्यत् अपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ विज्ञातव्यौ' अर्थात् जो दो पदार्थ कभी पृथक्-पृथक् नहीं रहते हैं, हमेशा एक-दूसरे पर आश्रित रहते हैं, वे अयुतसिद्ध हैं। उनका समवायसम्बन्ध होता है। इसीलिए गुण-गुणी, अवयव-अवयवी, क्रिया- क्रियावान्, जाति-व्यक्ति, नित्यद्रव्य-विशेष, ये पाँच अयुतसिद्ध माने गए हैं।

इस लक्षण में अविनश्यत् पर भी दिया गया है। अयुतसिद्ध के लक्षण में इस 'अविनश्यत्' पद के रखने का क्या प्रयोजन है, इस पर प्रकाश डालना आवश्ययक है। यदि इस लक्षण में 'अविनश्यत्' पद न रखा जाए तो इस लक्षण में अव्याप्ति दोष आ जाएगा। यदि अयुतसिद्ध के इस लक्षण में से अविनश्यत् पद को हटा कर केवल 'ययोर्मध्ये एकमपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ' इतना ही लक्षण किया जाए तो अयुतसिद्ध के जो पाँच भेद बताए गए उनमें से पहले तीनों में यह लक्षण घटित नहीं होगा, क्योंकि गुण आदि सदैव गुणी आदि के आश्रित ही नहीं रहते हैं, अपितु एक समय ऐसा भी आता है जब गुण, क्रिया तथा अवयवी ये सब निराश्रित भी हो जाते हैं। इसलिए 'एकमपराश्रितमेवावतिष्ठते' यह लक्षण उनमें घटित नहीं होता। जाति और व्यक्ति में भी जाति के नित्य होने पर भी व्यक्ति के अनित्य होने से व्यक्ति का नाश होने पर जाति के निराश्रय हो जाने की सम्भावना है।

केवल नित्य, द्रव्य और विशेष इनमें दोनों के नित्य होने से अयुतसिद्ध का लक्षण घट सकेगा। शेष चार में अव्याप्त हो जाएगा। फलस्वरूप लक्ष्यैकदेश में आवृत्ति होने से यह लक्षण अव्याप्त हो जाएगा। उसका निवारण करने के लिए लक्षण में 'अविनश्यत्' पद का प्रयोग आवश्यक है।

यथा अवयवावयविनौ, गुणगुणिनौ, क्रियाक्रियावन्तौ, जातिव्यक्ति, विशेषनित्यद्रव्ये चेति। अवयव्यादयो हि यथाक्रममवयवाद्याश्रिता एवावतिष्ठन्तेऽविनश्यन्तः। विनश्यदवस्थास्त्वनाश्रिता एवावतिष्ठन्तेऽवयव्यादयः। यथा तन्तुनाशे सति पटः। यथा वा आश्रयनाशे सति गुणः। विनश्यत्ता तु विनाशकारणसामग्रीसान्निध्यम् ।

शब्दार्थ -

अवयवावयविनौ = अवयव और अवयवी, गुणगुणिनौ = गुण और गुणी, क्रियाक्रियावन्तौ = क्रिया और क्रियावान्, जातिव्यक्ति = जाति और व्यक्ति, विशेषनित्यद्रव्ये = विशेष एवं नित्य द्रव्य, अवयव्यादयो = अवयवी आदि, यथाक्रमम् = क्रम से, अवयवाद्याश्रिताः = अवयव आदि पर आश्रित, अवतिष्ठन्ते = रहते हैं, अविनश्यन्तः= अविनश्यद् अवस्था में, विनश्यदवस्थास्तु = विनश्यद् अवस्था वाले, तन्तुनाशे = तन्तुओं का नाश, ।

गद्यार्थ -

जैसे अवयव एवं अवयवी (तन्तु अवयव, पट अवयवी), गुण और गुणी (रक्त नील आदि गुण, पट गुणी), क्रिया और क्रियावान् (गमन क्रिया, गमन कर्त्ता क्रियावान्), जाति और व्यक्ति (घटत्व आदि जाति घटरूप व्यक्ति), विशेष और नित्यद्रव्य (आकाश आदि नित्यद्रव्य और उनमें रहने वाला विशेषपदार्थ) अयुतसिद्ध के उदाहरण हैं। अवयवी (पट) आदि तो यथाक्रम विना नष्ट हुए अवयव आदि पर (तन्तु आदि पर) ही आश्रित रहते हैं। विनाश की अवस्था में अवयवी आदि तो निराश्रित ही रहते हैं। जैसे - तन्तुरूप अवयवों का नाश होने पर पट अवयवी निराश्रित रहते हैं, अथवा आश्रय का नाश होने पर (आश्रय पट) गुण निराश्रित रहते हैं। यहाँ पर विनश्यत्ता का अर्थ है - विनाश की कारणसामग्रियों का एकत्रित हो जाना या उपस्थित हो जाना।

व्याख्या -

अयुतसिद्धपदार्थों का समवायसम्बन्ध होता है, यह बताया जा चुका है। अयुत कौन-कौन हैं, उन्हें 'यथा' से इत्यादि प्रघट्टक के माध्यम से बताया जा रहा है -

1. अवयव और अवयवी अयुतसिद्ध हैं। इन दोनों का समवायसम्बन्ध होता है। जैसे - तन्तु अवयव हैं और पट अवयवी हैं।
2. गुण और गुणी अयुतसिद्ध हैं। जैसे - रक्तपुष्प, रक्त गुण है और पुष्प अवयवी है। इन दोनों का समवायसम्बन्ध है। इसे द्रव्य और उसमें रहने वाले गुण के साथ जोड़कर भी बताया जा सकता है।
3. क्रिया और क्रियावान् अयुतसिद्ध हैं। यथा रामो गच्छति। गमन क्रिया है, गमन क्रियावान् राम है, ये दोनों अयुतसिद्ध हैं। इनका समवायसम्बन्ध है।
4. जाति और व्यक्ति अयुतसिद्ध हैं। यथा - घटत्व जाति, घट व्यक्ति, इन दोनों का समवायसम्बन्ध है।
5. विशेष और नित्य द्रव्य अयुतसिद्ध हैं। यथा - विशेष, नित्य पदार्थों में रहने वाला धर्म है, जो नित्य पदार्थ को दूसरे से भिन्न करता है। नित्य पदार्थ हैं - आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन और पृथिवी आदि चारों द्रव्यों के परमाणु। नित्यद्रव्य एवं विशेषपदार्थ का समवायसम्बन्ध होता है।

इन सभी में एक अविनाशी अवस्था में रहते हुए दूसरे पर आश्रित रहते हैं। अतः 'एकमविनश्यद-पराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ' यह लक्षण इनमें घटित होता है। अवयवी आदि विनश्यत्ता की दशा में तन्तु आदि पर आश्रित नहीं रहता, फिर भी तन्तु और पट अयुतसिद्ध हैं क्योंकि अयुतसिद्ध का परिष्कृत लक्षण ऊपर बताया जा चुका है।

विनश्यतो भावः विवश्यत्ता, विनश्यत्ता का अर्थ है विनाश की कारणसामग्री का सान्निध्य। अर्थात् जिस क्षण में विनाश के सभी कारण उपस्थित हो जाएँ वही उस पदार्थ की विनश्यत् अवस्था है। जैसे समवायिकारण के नाश से कार्यनाश होता है तो कारणनाश की अवस्था ही विनश्यदवस्था है। तन्तुनाश काल ही पट की विनश्यदवस्था होती है। अर्थात् आश्रयभूत घटादिनाश ही रूपादि के विनाश की सामग्री का सान्निध्य माना जाता है। इस विनश्यदवस्था में पट तन्तु के आश्रित नहीं रहता, न ही तन्तुरूप तन्तु के आश्रित रहता है। इसी समय ये निराश्रित रहते हैं। फिर भी तन्तु और पट, घट द्रव्य और रूप अयुत कहलाते हैं, इसका कारण है - अयुतसिद्ध के लक्षण में अविनश्यत् पद का रहना। अन्यथा अयुतसिद्ध का लक्षण अव्याप्तिदोष ग्रस्त हो जाता। इसी बात को ग्रन्थकार ने 'यथा तन्तुनाशे--- सान्निध्यम्' के द्वारा बताया है।

स्वयं आकलन कीजिए -

अभ्यास प्रश्न -2

1. कारण क्या है?
2. कारण कितने प्रकार के होते हैं?
3. समवायिकारण किसमें रहता है?
4. सम्बन्ध कितने प्रकार का होता है?
5. अयुतसिद्ध के को दो उदाहरण बताएं।

2.5 सारांश

इस इकाई में प्रमाण कलक्षण बताकर प्रमा और उसका लक्षण बताने के पश्चात् करण का अर्थ और लक्षण, तत्पश्चात् कारण के अर्थ और उसके लक्षण की चर्चा की गई। इसके साथ-साथ कारण के तीन भेदों पर भी प्रकाश डाला गया। आप लोग इससे अवश्य लाभान्वित होंगे।

2.6 कठिन शब्दावली -

उद्दिष्टस्य = कहे गये, फलवत्त्वनियमात् = फलवाला होना चाहिए, ऐसा नियम है, अयथार्थानाम्, अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं = अन्यथासिद्ध रहित एवं (कार्य के पूर्व) नियत रूप से रहना, कार्यानुकृतान्वययतिरेकि = कार्य के द्वारा जिसके अन्वय एवं व्यतिरेक का अनुसरण (अनुकृत) किया जाये, समवेतो = समवायसम्बन्ध से, विज्ञातव्यौ = समझे जाने चाहिए, विनाशकारणसामग्रीसान्निध्यम् = विनाश की कारण सामग्री का सान्निध्य।

2.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर –

अभ्यास प्रश्न - 1

1. प्रमा के करण को
2. प्रमा

3. यथार्थ अनुभव को
4. ज्ञातविषयक ज्ञान को
5. साधकतम् को

अभ्यास प्रश्न - 2

1. जो कार्य से पहले निश्चित हो और आवश्यक हो
2. तीन प्रकार का
3. समवाय सम्बन्ध में
4. दो - संयोग तथा समवाय
5. गुण-गुणी और जाति-व्यक्ति

2.8 सहायक ग्रन्थ

1. तर्कभाषा, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणि, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी-221001, संस्करण-12, 2013.
2. तर्कभाषा, टीकाकार, पण्डित श्रीरुद्रधर झा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-221001, संस्करण-7, 2021.
3. तर्कभाषा, व्याख्याकार डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-221001, संस्करण-2013.
4. तर्कभाषा, व्याख्याकार एवं सम्पादक डॉ. अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर-302001, संस्करण-2021.
5. तर्कभाषा, व्याख्याकार श्रीबदरीनाथशुक्ल, मोतीलाल बनारसी दास, चौक वाराणसी, प्रथम संस्करण-1968.

2.9 दीर्घ अभ्यास प्रश्न -

1. तर्कभाषा के अनुसार प्रमाणों का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. कारण का लक्षण बताकर उसके भेदों की उदाहरण सहित व्याख्या करें।
3. कारण का लक्षण बताकर उसके समवायि और असमवायि कारण की व्याख्या करें।

इकाई - तीन

समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण

संरचना

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 समवायि कारण
  3.4.1 द्रव्य लक्षण
  3.4.2 योग्यता का लक्षण
    - स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न -1
3.4 असमवायिकारण
3.5 निमित्त कारण
    - स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न -2
3.6 सारांश
3.7 कठिन शब्दावली
3.8 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर
3.9 सहायक ग्रन्थ
3.10 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियो, इस इकाई में ग्रन्थकार ने समवायिकारण, असमवायिकारण, निमत्तकारण और धारावाहिक ज्ञान की चर्चा की है। जब तक हमें समवायिकारण, असमवायिकारण और निमत्तकारण की जानकारी नहीं हो जाती तब तक किसी पदार्थ का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता। धारावाहिक ज्ञान को बौद्ध धर्म मानता है। उनके अनुसार कोई भी वस्तु क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तित हो रही है। जो वस्तु हम सुबह देखते हैं, वह दोपहर या शाम तक अपना रूप बदल लेती है, जिसे सामान्य व्यक्ति अनुभव नहीं कर सकता।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य विद्यार्थियों को निम्नलिखित जानकारी उपलब्ध करवाना है –

- समवायिकारण,
- असमवायिकारण,
- निमित्तकारण और
- धारावाहिक ज्ञान

3.3 समवायि कारण

तन्तुपटावप्यवयवावयविनौ, तेन तयोः सम्बन्धः समवायोऽयुतसिद्धत्वात्। तुरीपटयोस्तु न समवायोऽयुतसिद्धत्वाभावात्। न हि तुरी पटाश्रितैवावतिष्ठते, नापि पटस्तुर्याश्रितः। अतस्तयोः सम्बन्धः संयोग एव। तदेवं तन्तुसमवेतः पटः।

यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्। अतस्तन्तुरेव समवायिकारणं पटस्य, न तु तुयर्यादि। पटश्च स्वगतरूपादेः समवायिकारणम्। एवं मृत्पिण्डोऽपि घटस्य समवायिकारणं, घटश्च स्वगतरूपादेः समवायिकारणम्।

शब्दार्थ -

तन्तुपटौ = तन्तु और पट, अवयवावयविनौ = अवयव एवं अवयवी, तुरीपटयोस्तु = तुरी (वेमा) और पट का, अयुतसिद्धत्वाभावात् = अयुतसिद्धत्व के अभाव के कारण, तुर्याश्रितः = तुरी पर आश्रित, तदेवम् = तो इस प्रकार, तन्तुसमवेतः = तन्तु में समवायसम्बन्ध से, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है, पटस्य = पटकार्य का, पटश्च = और पट, स्वगतरूपादेः = अपने में स्थित रूपादि (गुण का), मृत्पिण्डोऽपि = मिट्टी का पिण्ड भी,

गद्यार्थ -

तन्तु और पट भी अवयव एवं अवयवी हैं। इसलिए दोनों में अयुतसिद्ध होने के कारण तन्तु और पट का समवायसम्बन्ध है। तुरी और पट अयुतसिद्ध न होने से दोनों में समवायसम्बन्ध नहीं है। न तो तुरी पट पर आश्रित है, न ही पट तुरी पर आश्रित है। अतः दोनों तुरी और पट का सम्बन्ध संयोग ही है। इस तरह सिद्ध होता है कि तन्तु में पट समवायसम्बन्ध से रहता है।

जिसमें समवायसम्बन्ध से विद्यमान रहता हुआ कार्य उत्पन्न होता है, वह समवायिकारण कहलाता है। इसलिए तन्तु ही पट का समवायिकारण है, न कि तुरी आदि। और पट भी अपने में (पट में) रहने वाले रूप आदि गुणों का समवायिकारण है। इसी प्रकार मिट्टी का पिण्ड घट का समवायिकारण है और घट अपने में विद्यमान रूप आदि गुण का समवायिकारण है।

ननु यदैव घटादयो जायन्ते तदैव तद्रूतरूपादयोऽपि। अतः समानकालीनत्वाद् गुणगुणिनोः सव्येतरविषाणवत्कार्यकारणभाव एव नास्ति पौर्वापर्याभावात्। अतो न समवायिकारणं घटादयः स्वगतरूपादीनाम्। कारणविशेषत्वात् समवायिकारणस्य।

शब्दार्थ -

तद्रूतरूपादयः = उनमें विद्यमान रूप आदि, समानकालीनत्वात् = समान समय में उत्पन्न होने के कारण, स्वगतरूपादीनाम् = अपने में विद्यमान रूप आदि का, कारणविशेषत्वात् = विशेष प्रकार का कारण होने से।

गद्यार्थ -

(प्रश्न है कि) जिस समय घटादि उत्पन्न होते हैं, उसी समय उनमें विद्यमान रूपादि की भी उत्पत्ति होती है। दोनों के समानकालीन होने से पौवापर्य नहीं बन रहा है। अतः गुण और गुणी में बायें-दायें सींग के समान कार्यकारण भाव नहीं बन रहा है। इसलिए घट आदि अपने में विद्यमान रूपादि गुणों के भी समवायिकारण नहीं हो सकते।

व्याख्या -

गुण और गुणी में समवायसम्बन्ध मानते हुए गुणी घटादि को स्वगत रूपादि गुण का समवायिकारण माना गया है। परन्तु इसमें एक शंका उत्पन्न की गई है। शंका का आधार है- गुण और गुणी का समानकालीन जन्म। इससे घटादि में कारण का लक्षण संघटित नहीं होता है। समवायिकारण भी विशेष कारण ही है। कारण को कार्य से नियतपूर्वभावी होना चाहिए। किन्तु घटादि समवायिकारण एवं कार्य-रूपादि गुण समानकालीन हो रहे हैं। यह एक लक्षणनिमित्तक दोष है। पौर्वापर्य के न होने से गुण और गुणी में कार्यकारण भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। समानकालीन पदार्थों में कार्यकारण-भाव नहीं होता। जैसे कि पशु का सींग। पशु का दायाँ एवं बायाँ सींग एक साथ उत्पन्न होता है, अतः उनमें कार्यकारण-भाव नहीं होता है। इस तरह गुणी जब गुण का कारण नहीं बनेगा, तब समवायिकारण कैसे बनेगा?

प्रश्नकर्ता का अनुमान प्रयोग इस प्रकार का है -

1. घटादयः स्वगतरूपादीनां समवायिकारणानि न सन्ति - इति प्रतिज्ञा।
2. द्वयोः समानकालीनत्वात् पौर्वापर्याभावात् इति हेतुः ।
3. सव्येतरविषाणवत् इति उदाहरणम्।
4. तथा चावम् इति उपनयः ।
5. तस्मात्तथा इति निगमनम्।

अत्रेच्यते। न गुणगुणिनोः समानकालीनं जन्म, किन्तु द्रव्यं निर्गुणमेव प्रथममुत्पद्यते पश्चात् तत्समवेता गुणा उत्पद्यन्ते। समानकालोत्पत्तौ तु गुणगुणिनोः समानसामग्रीकत्वाद् भेदो न स्याद, कारणभेदनियतत्वात्कार्यभेदस्य। तस्मात्प्रथमे क्षणे निर्गुण एव घट उत्पद्यते गुणेभ्यः पूर्वभावीति भवति गुणानां समवायिकारणम्।

शब्दार्थ -

गुणगुणिनोः = गुण और गुणी का, निर्गुणम् = गुणरहित, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है, कारणभेदनियतत्त्वात् = कारण भेद निश्चित है, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है, पूर्वभावी = पूर्व में उत्पन्न, पूर्वभावी = पूर्व में उत्पन होने वाला।

गद्यार्थ -

गुण और गुणी का समान काल में जन्म नहीं होता है। किन्तु इससे (गुणी) पहले गुणरहित द्रव्य ही उत्पन्न होता है, बाद में द्रव्य (गुणी) में समवायसम्बन्ध से रहने वाले गुण उत्पन्न होते हैं। गुण और गुणी को समानकाल में उत्पन्न मानने पर दोनों का समान कारणसामग्री से उत्पन्न होने वाला माना जायेगा और दोनों में भेद नहीं होगा। कार्यभेद को कारणभेद वाला होना चाहिए यह व्याप्ति या नियम है अर्थात् कार्यभेद तभी माना जायेगा जब कारण भेद भी होगा।

इसलिए प्रथम क्षण में घटादि द्रव्य गुणरहित ही उत्पन्न होता है और इस तरह वह गुणों से पूर्व में उत्पन्न होने वाला माना जाता है। इसलिए गुणों का समवायिकारण (द्रव्य) हो सकता है।

व्याख्या -

गुण और गुणी समानकाल में कभी उत्पन्न नहीं होते हैं। प्रथम क्षण में गुणी अर्थात् द्रव्य निर्गुण ही उत्पन्न होता है। उसके पश्चात् उसमें समवायसम्बन्ध से गुण उत्पन्न होते हैं। समानसामग्री से जन्य दो पदार्थों में भेद नहीं हो सकता है, क्योंकि नियम है जहाँ कार्यभेद होगा वहाँ कारणभेद भी होगा। घट और उसमें जो रूप है, वे दो भिन्न कार्य हैं। अतः कार्यभेद से कारणभेद मानना आवश्यक है। अतः एक ही समय में गुण और गुणी का जन्म नहीं होता है, यह माना गया है। प्रथम क्षण में गुणी उत्पन्न होगा, तदनन्तर गुण उत्पन्न होगा। इस तरह

उत्पत्तिकाल के भेद से दोनों में कारणभेद भी हो जायेगा और घटादि द्रव्य गुणों से पूर्वभावी होकर कारण भी बन जायेगा। अर्थात् गुणों का समवायिकारण बन जायेगा।

तदा कारणभेदोऽप्यस्ति । घटो हि घटं प्रति न कारणमेकस्यैव पौर्वापर्याभावात्। न हि स एव तमेव प्रति पूर्वभावी पश्चाद्भावी चेति। स्वगुणान् प्रति तु पूर्वभावित्वाद् भवति गुणानां समवायिकारणम् ।

शब्दार्थ -

पश्चाद्भावी = पीछे उत्पन्न होने वाला है, स्वगुणान् प्रति = अपने गुणों के प्रति।

गद्यार्थ -

प्रथम क्षण में निर्गुण द्रव्य की उत्पत्ति होती है और उसके पश्चाद् तद्गत गुणों की उत्पत्ति मानने से घटादि द्रव्य एवं तद्गत गुणों में कारण भेद भी हो सकता है। एक ही पट अपने प्रति पहले और बाद में कारण हो, ऐसा सम्भव नहीं होने से घट, घट के प्रति कारण नहीं हो सकता है। किन्तु अपने में विद्यमान गुणों के प्रति पूर्व में उत्पन्न होने के कारण घटादि द्रब्य गुणों का समवायिकारण हो ही सकता है।

3.3.1 द्रव्य लक्षण

नन्वेवं सति प्रथमे क्षणे घटोऽचाक्षुषः स्याद्, अरूपिद्रव्यत्वाद् वायुवत्। तदेव हि द्रव्यं चाक्षुषं, यत् महत्त्वे सत्युद्भूतरूपवत्। अद्रव्यं च स्याद् गुणाश्रयत्वाभावात्। गुणाश्रयो द्रव्यमिति हि द्रव्यलक्षणम् ।

शब्दार्थ

अचाक्षुषः = जो दिखाई न दे, स्यात् = होगा, अरूपिद्रव्यत्वात् = रूपरहित द्रव्य होने के कारण, वायुवत्= वायु के समान, चाक्षुषम् = चाक्षुष - प्रतीति का विषय, उद्भूतरूपवत् = प्रकट रूप वाला, गुणाश्रयत्वाभावात् = गुणों का आश्रय न होने के कारण, गुणाश्रयः = गुणों का आश्रय।

गद्यार्थ -

(प्रश्न कर रहे हैं कि) यदि द्रव्य को प्रथम क्षण में निर्गुण उत्पन्न होना मानेंगे तो प्रथम क्षण में घट की नेत्र से प्रतीति नहीं हो पाएगी, रूपरहित द्रव्य हो जाने के कारण, जैसे रूपरहित वायु का नेत्रें से प्रत्यक्ष नहीं होता है। वही द्रव्य चाक्षुष होता है जो महत् परिमाण वाला होता हुआ प्रकट रूप वाला हो। साथ ही, गुणों का आश्रय नहीं होने से घट आदि द्रव्य भी नहीं माना जायेगा, क्योंकि द्रव्य का लक्षण है - गुणाश्रयो द्रव्यम् अर्थात् जो गुणों का आश्रय है, वह द्रव्य है।

व्याख्या -

निर्गुण द्रव्य की उत्पत्ति मानने पर घटादि द्रव्य का चक्षु से प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। यह प्रथम दोष होगा। क्योंकि महत् परिमाण के साथ उद्भूत रूप वाले का ही चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। प्रथम क्षण में घटादि अद्रव्य की कोटि में चले जाएंगे, क्योंकि द्रव्य वही होता है, जो गुणों का आश्रय हो। चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिए दो बातें आवश्यक हैं - पहली महत् परिमाण का होना और दूसरी उद्भूत रूप वाला होना। पार्थिवादि परमाणुओं में महत् परिमाण नहीं है, अतः उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है। आकाश में महत् परिमाण तो है, किन्तु रूप नहीं है। अतः उसका भी चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है। उष्ण जल के तेज द्रव्य में महत् परिमाण एवं रूप दोनों हैं, किन्तु रूप उद्भूत या प्रकट नहीं है। अतः वहाँ तेजस् का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है।

3.3.2 योग्यता का लक्षण

सत्यम्। प्रथमे क्षणे घटो यदि चक्षुषा न गृह्यते का नो हानिः। न हि सगुणोत्पत्तिपक्षेऽपि निमेषावसरे घटो गृह्यते। तेन व्यवस्थितमेतन्निर्गुण एव प्रथमं घट उत्पद्यते। द्वितीयादिक्षणेषु चक्षुषा गृह्यते।

न च प्रथमे क्षणे गुणाश्रयत्वाभावाद्द्रव्यत्वापत्तिः। समवायिकारणं द्रव्यमिति द्रव्यलक्षणयोगात्। योग्यतया गुणाश्रयत्वाच्च। योग्यता च गुणानामत्यन्ताभावाभावः।

शब्दार्थ -

का = क्या, नो = हमें, हानिः = क्षति, सगुणोत्पत्तिपक्षेऽपि = गुणसहित उत्पन्न होने पर, निमेषावसरे = पलक झपकने के समय में, गृह्यते = गृहीत होता है, व्यवस्थितम् = सिद्ध होता है, निर्गुण = गुण रहित, द्वितीयादिक्षणेषु = द्वितीय आदि क्षणों में, गुणाश्रयत्वाभावात् = गुणों का आश्रय न होने से, अद्रव्यत्वापत्तिः = (घटादि में) द्रव्यत्व का अभाव, योग्यतया = योग्यता के कारण, गुणानाम् = गुणों के।

गद्यार्थ -

(गुणाश्रयता के अभाव में प्रथम क्षण में घट की चाक्षुष प्रतीति नहीं होगी) यह ठीक है। परन्तु प्रथम क्षण में यदि नेत्रें से घट गृहीत न हो तो इसमें हमारी क्या हानि है? 'द्रव्य गुणसहित उत्पन्न होते हैं' इस पक्ष को मानने पर भी पलक झपकने के समय घट का नेत्र से ग्रहण नहीं होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रथम क्षण में घट निर्गुण ही उत्पन्न होता है और द्वितीय आदि क्षणों में नेत्र से गृहीत होता है।

और न ही प्रथम क्षण में गुण का आश्रय न होने से घट में अद्रव्यत्व हो सकता है, क्योंकि समवायिकारण द्रव्य होता है, द्रव्य का यह लक्षण तो घटित होता ही है। दूसरी बात - गुणों का आश्रय होने की योग्यता के कारण घट आदि गुणाश्रय माने ही जायेंगे। योग्यता क्या है? गुणों के अत्यन्ताभाव के अभाव को योग्यता कहते हैं।

व्याख्या -

प्रथम क्षण में घट के निर्गुण उत्पन्न होने पर उसका नेत्र से ग्रहण नहीं होगा। इस शघ्का का समाधान ग्रन्थकार ने 'का नो हानिः' कहकर दिया है, क्योंकि गुण सहित द्रव्य उत्पन्न होता है, इस पक्ष को मानने पर भी द्रष्टा जब पलक झपकाता है, उस क्षण घटादि द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता है, फिर भी व्यवहार में कोई हानि नहीं होती। इस प्रकार प्रथम क्षण में द्रव्य के निर्गुण उत्पन्न होने पर व्यवहार में हानि नहीं होगी। अतः प्रथम दोष दोष नहीं है।

दूसरा दोष 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' यह लक्षण प्रथम क्षण के घट में घटित नहीं होगा। इसका समाधान यह है कि 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' यह द्रव्य का लक्षण न करके 'समवायिकारणं द्रव्यम्' यह द्रव्य का लक्षण करेंगे। इससे यह होगा कि प्रथम क्षण में उत्पन्न घटादि द्रव्य द्वितीय क्षण में उत्पन्न होने वाले गुणों का समवायिकारण तो माना ही जायेगा और प्रथम क्षण के घट में द्रव्य का लक्षण घटित हो जायेगा तथा घट में द्रव्यत्व योग बन जायेगा। यदि पूर्वपक्षी 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' इसी लक्षण को मानना चाहेंगे तब कहेंगे कि इसमें भी दोष नहीं है, क्योंकि गुणाश्रय का अर्थ - 'गुणों का आश्रय बनने की योग्यता' यह करेंगे। इस योग्यता के कारण प्रथमक्षणोत्पन्न घट भी गुणाश्रय माना जायेगा। योग्यता क्या है? तो कहेंगे - गुणानाम् अत्यन्ताभावस्य त्रैकालिकाभावस्य, अभावो योग्यता अर्थात् गुणों के त्रैकालिक अभाव का अभाव योग्यता है। यह निश्चित है कि घटादि द्रव्य में गुणों का त्रैकालिक

(भूत, भविष्यद्, वर्तमानकालिक) अभाव नहीं रहता है। इस तरह द्वितीय क्षण का घट गुण का आश्रय तो हो ही जाता है।

स्वयं आकलन कीजिए-

अभ्यास प्रश्न - 1

1. तन्तु और पट का सम्बन्ध कैसा है?
2. तुरी और पट का सम्बन्ध कैसा है?
3. पट का समवायिकारण क्या है?
4. पटरूप का समवायिकारण क्या है?
5. प्रथम क्षण में द्रव्य की उत्पत्ति कैसे होती है?
6. द्रव्य का लक्षण क्या है?

3.4 असमवायिकारण

असमवायिकारणं तदुच्यते यत्समवायिकारणप्रत्यासन्नमवधृतसामर्थ्यं तदसमवायिकारणम्। यथा तन्तुसंयोगः पटस्यासमवायिकारणम्। तन्तुसंयोगस्य गुणस्य, पठसमवायिकारणेषु तन्तुषु गुणिषु, समवेतत्वेन समवायिकारणे प्रत्यासन्नत्वात्, अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वेन पटं प्रति कारणत्वाच्च। एवं तन्तुरूपं पटरूपस्य असमवायिकारणम्।

शब्दार्थ -

समवायिकारणप्रत्यासन्नम् = समवायिकारण में समीपतः सम्बद्ध, समवेतत्त्वेन = समवायसम्बन्ध से रहने के कारण, प्रत्यासन्नत्वात् = प्रत्यासत्ति है, अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वेन = अन्यथासिद्धरहित (कार्य से) नियत पूर्वभावी होने से (कारण लक्षण युक्त होने से), कारणत्वाच्च = कारणता भी है।

गद्यार्थ -

असमयायिकारण उसे कहते हैं जो समवायिकारण में उपस्थित हो और कार्य उत्पादन के लिए निश्चित सामर्थ्य रखता हो, उसको असमवायिकारण कहते हैं। जैसे तन्तु का संयोग पट का असमवायिकारण है। तन्तुसंयोग रूप गुण पट के समवायिकारण तन्तुरूप गुणी में समवायसम्बन्ध से रहने के कारण समवायिकारण में प्रत्यासन्न है और वह अनन्यथासिद्ध नियत पूर्वभावी होने से (कारण लक्षण युक्त होने) पट कार्य के प्रति कारण भी है। इसी प्रकार तन्तु का रूप भी पट के रूप का असमवायिकारण है।

व्याख्या -

असमवायिकारण के लक्षण में ग्रन्थकार ने दो बातें विशेष रूप से बताई हैं - समवायिकारण में प्रत्यासन्न होना और अवधृतसामर्थ्य। निकट में जो उपस्थित हो अथवा विद्यमान हो या सटा हो वह प्रत्यासन्न कहलाता है। कहाँ प्रत्यासन्न हो, तो कहा गया कि समवायिकारण में प्रत्यासन्न हो। अवधृतसामर्थ्यम् अर्थात् जिसमें कारण बनने की सामर्थ्य है अथवा कारण का लक्षण जिसमें घटित हो। असमवायिकारण में ये दोनों पद आवश्यक हैं। अवधृतसामथ्य पद के कारण तन्तुरूप पट का असमवायिकारण नहीं बनता है। अपितु तन्तुसंयोग पट का असमवायिकारण बनता है, क्योंकि यह तन्तुसंयोग जो गुण है, पट के समवायिकारण तन्तु में (गुणी में) समवायसम्बन्ध से है। अतः पट के समवायिकारण में प्रत्यासन्न (विद्यमान) है और पट के प्रति अनन्यथासिद्ध

नियतपूर्वभावित्व रूप कारणत्व की सामर्थ्य से युक्त भी है। परन्तु तन्तुरूप तो पट के प्रति अन्यथासिद्ध होने से कारणत्वशक्ति युक्त नहीं है। अतः तन्तुरूप पट का असमवायिकारण नहीं है, अपितु तन्तुसंयोग ही पट का असमवायिकारण है। इस तरह समवायिकारण से निकटतः सम्बद्ध तथा कारणत्व-लक्षणयुक्त असमवायिकारण सिद्ध होता है।

एक दूसरा उदाहरण है- तन्तुरूपं पटरूपस्य असमवायिकारणम्। यह गुणरूप कार्य का उदाहरण है। तन्तुसंयोग पट कार्य का असमवायिकारण है। यह द्रव्य है। अतः पूर्वोक्त उदाहरण द्रव्यरूप कार्य के असमवायिकारण का उदाहरण है। गुण एवं कर्म भी कार्य होते हैं और हो सकते हैं। जब गुण कार्य होता है तब तन्तुरूप पटरूप का असमवायिकारण बनता है। तन्तुरूप कारण है और पटरूप कार्य है। तन्तु गुणी है और रूप गुण है। रूप अपने गुणी में समवायसम्बन्ध से है। तन्तुरूप के बिना पटरूप नहीं हो सकता है। अतः तन्तुरूप में कार्य से नियतपूर्व भावित्व एवं अनन्यथासिद्धत्व के होने से कारणत्व सिद्ध है। इस तरह तन्तुरूप समवायिकारण तन्तु में प्रत्ययथासिद्धत्व से कारणत्व इस तरह असमवायिकारण है।

ननु पटरूपस्य पटः समवायिकारणं, तेन तद्गतस्यैव कस्यचिद्धर्मस्य पटरूर्ष प्रति असमवायिकारणत्वमुचितम्। तस्यैव समवायिकारणप्रत्यासन्नत्वात्, न तु तन्तुरूपस्य। तस्य समवायिकारणप्रत्यासत्त्यभावात् ।

मैवम्। समवायिकारणसमवायिकारणप्रत्यासन्त्रस्यापि परम्परया समवायिकारणप्रत्या- सन्नत्वात् ।

शब्दार्थ -

पटरूपस्य = पट के का, समवायिकारणम् = समवायिकारण है, तेन = उससे, तद्गतस्य एव = उस पट में ही, कस्यचिद् = किसी, असमवायिकारणत्वम् = असमवायिकारण बनना, समवायिकारण- प्रत्यासन्त्रत्वात् = समवायिकारण में प्रत्यासत्ति है, न तु = न कि, तन्तुरूपस्य = तन्तु के रूप की, मैवम् = ऐसा मत कहिए, तत्समवायिकारण = उसके समवायिकारण, समवायिकारणप्रत्यासन्नास्यापि = समवायिकारण (तन्तु) में प्रत्यासन्न (तन्तुरूप), परम्परया = परम्परा से।

गद्यार्थ -

(प्रश्न) पट के रूप का समवायिकारण पट है, इसलिए उस पट में रहने वाले किसी धर्म को ही पट के रूप के प्रति असमवायिकारण बनना उचित है, क्योंकि उस (पट का) धर्म ही समवायिकारण में प्रत्यासन्न है, न कि तन्तु का रूप प्रत्यासन्न है। तन्तु का रूप पटरूप के समवायिकारण पट में प्रत्यासन्न (निकट से सम्बद्ध) नहीं है।

(उत्तर) ऐसा नहीं है। उस पटरूप का समवायिकारण पट है और पट का समवायिकारण तन्तु में प्रत्यासन्न (रूप) को भी परम्परा से समवायिकारण में प्रत्यासन्न माना जाता है अर्थात् परम्परा से तन्तुरूप पटरूप का असमवायिकारण हो सकता है।

व्याख्या -

असमवायिकारण के लक्षण में बताया गया है कि उसे समवायिकारण में प्रत्यासन्न होना चाहिए। किन्तु यह लक्षण ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत उदाहरण 'एवं तन्तुरूपं पटरूपस्य असमवायिकारणम्' में घटित नहीं हो सकता है, क्योंकि जब पटरूप का समवायिकारण पट है, तब उसमें विद्यमान कोई धर्म ही पटरूप का असाधारण कारण होगा, न कि तन्तु में विद्यमान रूप। पट में विद्यमान धर्म ही पटरूप में प्रत्यासन्न होता है। अतः यह उदाहरण ठीक नहीं है, ऐसा पूर्वपक्ष के रूप में प्रश्न उपस्थित कर स्वयं ग्रन्थकार कहते हैं -'मैवम् तत्समवायि---परम्परया' इत्यादि अर्थात् ऐसा नहीं है।

पटरूप, उसका समवायिकारण पट, उसका (पट का) समवायिकारण तन्तु, उसमें प्रत्यासन्न विद्यमान रूप भी परम्परया, समवायिकारण पटरूप का पट, उसमें प्रत्यासन्न होने से, तन्तुरूप भी पटरूप का असमवायिकारण बनता है। इस तरह समवायिकारण में प्रत्यासन्न या समवायिकारण के समवायिकारण में प्रत्यासन्न को भी असमवायिकारण मान लिया गया है।

3.5 निमित्त कारण

निमित्तकारणं तदुच्यते। यन्न समवायिकारणं, नाप्यसमवायिकारणम्, अथ च कारणम्, तन्निमित्तकारणम्। यथा वेमादिकं पटस्य निमित्तकारणम्। तदेतद् भावानामेव त्रिविधं कारणम्। अभावस्य तु निमित्तमात्रं, तस्य क्वचिदप्यसमवायात्। समवायस्य भावद्वयधर्मत्वात् ।

शब्दार्थ -

निमित्तकारणम् = निमित्तकारण, तद् उच्यते = उसे कहते हैं, असमवायिकारणम् = असमवायिकारण होता है, वेमादिकं = वेमा, तन्तुवाय आदि, तदेतद् = वह यह, भावानाम् एव = भावपदार्थों का ही होता, अभावस्य = अभावपदार्थ का, क्वचिदपि = कहीं भी, असमवायात् = समवायसम्बन्ध नहीं होने से, भावद्वयधर्मत्वात् = दो भावपदार्थ का धर्म होने से।

गद्यार्थ -

निमित्तकारण उसे कहते हैं जो न समवायिकारण होता है और न ही असमवायिकारण होता है, लेकिन फिर भी वह कारण होता है, वही निमित्तकारण कहलाता है। जैसे कि तुरी तन्तुवाय आदि पट कार्य का निमित्तकारण है।

ये तीनों कारण भावपदार्थों के ही कारण होते हैं। अभावपदार्थ का तो निमित्तकारण मात्र होता है, क्योंकि अभाव कहीं भी समवायसम्बन्ध से नहीं रहता है। समवायसम्बन्ध दो भावपदार्थों का ही धर्म है।

व्याख्या -

सात पदार्थों में छह भावपदार्थ हैं एवं सातवाँ अभाव है। इस तरह भाव और अभाव इन दो भागों में पदार्थ बंटा हुआ है। कार्य के लिए कारण आवश्यक हैं। भावपदार्थों के तीनों कारण समवायि, असमवायि एवं निमित्त हो सकते है। किन्तु अभाव का केवल निमित्तकारण होता है, समवायि और असमवायि नहीं, क्योंकि अभाव (जो सत्ता शून्य है) किसी में समवेत नहीं होता है। समवेत, समवाय दो भावपदार्थों का धर्म है। इसलिए अभाव का किसी पदार्थ के साथ सम्बन्ध ही नहीं होगा तो उसका समवायिकारण कैसे होगा और समवायिकारण नहीं होने से असमवायिकारण भी नहीं होगा। क्योंकि असमवायि समवायिकारण में ही प्रत्यासन्न रहता है। अतः अभाव का केवल निमित्तकारण होता है।

तदेतस्य त्रिविधस्य कारणस्य मध्ये यदेव कथमपि सातिशयं तदेव करणम्। तेन व्यवस्थितमेतल्लक्षणं प्रमाकरणं प्रमाणमिति।

यत्तु अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणमिति लक्षणम्, तन्न, एकस्मिन्त्रेव घटे घटोऽयं घटोऽयमिति धारावाहिकज्ञानानां गृहीतग्राहिणामप्रामाण्यप्रसंगात् ।

शब्दार्थ -

एतस्य = इसका, त्रिविधस्य = तीन प्रकार के, कारणस्य = कारण के, कथमपि = किसी प्रकार से, व्यवस्थितम्= निश्चित हो गया है, एतल्लक्षणम् = यह लक्षण, प्रमाकरणम् = प्रमा का करण, अनधिगतार्थगन्तृ =

अप्राप्त अर्थ को प्राप्त कराने वाला (बोधक), धारावाहिकज्ञानानाम् = धारावाहिक ज्ञानों का, अप्रामाण्यप्रसंगात्= अप्रामाणिकता हो जायेगी।

गद्यार्थ -

इस प्रकार इन तीन प्रकार के कारण के मध्य जो भी कारण किसी तरह से उत्कृष्ट कारण है, वही करण होगा। इस विवेचन से यह लक्षण निश्चित हो गया कि प्रमा का करण प्रमाण कहलाता है।

जो मीमांसक एवं दिग्नाद आदि बौद्ध आचार्य कहते हैं कि अज्ञात अर्थ का ज्ञापक प्रमाण है यह प्रमाण का लक्षण है, अर्थात् अज्ञातविषय वाला यथार्थ-ज्ञान प्रमा है और उसका करण प्रमाण है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही घट में 'यह घट है, यह घट है', इस प्रकार के ज्ञात अर्थ का बोध कराने वाले धारावाहिक ज्ञानों की अप्रामाणिकता हो जायेगी अर्थात् धारावाहिक ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकेगा।

- **धारावाहिक ज्ञान और उसका खण्डन**

न चान्यान्यक्षणविशिष्टविषयीकरणादनधिगतार्थगन्तृता। प्रत्यक्षेण सूक्ष्मकालभेदानाकल- नात् । कालभेदग्रहे हि क्रियादिसंयोगान्तानां चतुर्णां यौगपद्याभिमानो न स्यात्। क्रिया, क्रियातो विभागो, विभागात् पूर्वसंयोगनाशः, ततश्चोत्तरदेशसंयोगोत्पत्तिरिति ।

शब्दार्थ -

अनधिगतार्थगन्तृता = अज्ञात अर्थ का बोध कराने वाला, प्रत्यक्षेण = प्रत्यक्ष के द्वारा, सूक्ष्मकालभेदानाकलनात् = सूक्ष्म कालभेदों का ग्रहण नहीं होता, कालभेदग्रहे = सूक्ष्मकालभेद का ग्रहण होने से, चतुर्णाम् = चारों कार्यों का।

गद्यार्थ -

यदि पूर्वपक्षी यह कहें कि भिन्न-भिन्न क्षणविशिष्ट घटादि का धारावाहिक ज्ञान भी अनधिगत अर्थ का बोधक ही होगा, तो यह कहना सही नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष सूक्ष्मकालभेदों का ग्रहण नहीं करता। यदि काल के भेद का ग्रहण प्रत्यक्ष द्वारा होने लगे तो क्रिया से लेकर संयोग पर्यन्त चारों कार्यों का एक साथ उत्पन्न होने का अभिमान नहीं होता। चारों कार्य हैं - क्रिया, क्रिया से उत्पन्न विभाग, विभाग से पूर्वसंयोग का नाश और पूर्वसंयोग के नाश से उत्तरदेश संयोग की उत्पत्ति।

व्याख्या -

मीमांसक के मत में अनुभव प्रमाण सिद्ध होता है। इनके मत में सभी अनुभव उत्पत्तिकाल में प्रमाण होते हैं। बाद में कारण दोष का ज्ञान होने पर अप्रमाण या अयथार्थ माने जाते हैं। नैयायिक इस लक्षण में दोष बताते हैं। वे कहते हैं कि यदि अज्ञातार्थ के ज्ञापक को प्रमाण मानेंगे तब धारावाहिक ज्ञान में प्रमाण का लक्षण घटित नहीं हो सकेगा। वह ज्ञान धारावाहिक है, जो एक ही विषय में एक के बाद दूसरा, तीसरा इस रूप में हो। जैसे एक घट मे यह घट है, यह घट है, यह घट है। इसमें प्रथम क्षण का घट अज्ञातार्थ है, परन्तु द्वितीय, तृतीय क्षण का घट अज्ञात अर्थ नहीं है, अतः उसमें प्रमाणलक्षण अव्याप्त हो जायेगा।

मीमांसक धारावाहिक ज्ञान में प्रमाणलक्षण को घटित करने हेतु न चान्यक्षण--- इत्यादि द्वारा उत्तर देते हैं - वे कहते हैं कि घटोऽयम् घटोऽयम् इस धारावाहिक ज्ञान में प्रथमज्ञान प्रथमक्षण घटित घट का बोध करायेगा तथा द्वितीय-तृतीयादि ज्ञान द्वितीय तृतीयादिक्षण में घटित घट का ज्ञान करायेगा, तब धारावाहिक ज्ञान में भी अनधिगतार्थगन्तृता रहेगी, वे प्रमा कहलायेंगे और उनका करण प्रमाण कहलायेगा।

नैयायिक इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि प्रत्यक्ष द्वारा सूक्ष्म कालभेद का ग्रहण नहीं होता है। भाव यह है कि कोई भी ज्ञान इन्द्रिय द्वारा सूक्ष्म काल को अपना विषय नहीं बनाता है। यदि कालभेद का ग्रहण होने लगे तो किसी पदार्थ के एक स्थान से दूसरे स्थान पर आ जाने से होने वाली क्रिया क्रिया से विभाग, विभाग से पूर्वसंयोग नाश, पूर्वसंयोगनाश से उत्तरदेश संयोग की उत्पत्ति, इन चारों व्यापारों में एक काल में उत्पन्न होने का ज्ञान नहीं हो सकेगा, जबकि चारों के होने पर भी इनमें एककालोत्पत्तिकत्व माना जाता है। अतः मीमांसक का लक्षण धारावाहिक ज्ञान में घटित नहीं होने से मान्य नहीं है।

ननु प्रमायाः कारणानि बहूनि सन्ति प्रमातृप्रमेयादीनि तान्यपि किं करणानि उत नेति ?

उच्यते। सत्यपि प्रमातरि प्रमेये च प्रमानुत्पत्तेरिन्द्रियसंयोगादौ सति अविलम्बेन प्रमोत्पत्तेरत इन्द्रियसंयोगादिरेव करणम्। प्रमायाः साधकत्वाविशेषेऽप्यनेनैवोत्कर्षेणास्य प्रमात्रदिभ्योऽतिशयितत्वादतिशयितं साधकं साधकतमं तदेव करणमित्युक्तम्। अत इन्द्रियसंयोगादिरेव प्रमाकरणत्वात् प्रमाणं न प्रमात्रदि।

तानि च प्रमाणानि चत्वारि तथा च न्यायसूत्रम् - प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि इति।

शब्दार्थ -

प्रमातृप्रमेयादीनि = प्रमातृ, प्रमेयादि, उत = यथार्थ ज्ञान के, अथवा, नेति = नहीं हैं? सति अपि = रहने पर भी, प्रमानुत्पत्तेः = प्रमा की उत्पत्ति नहीं होने से, इन्द्रियसंयोगादौ = इन्द्रिय व संयोग आदि के, अविलम्बेन= बिना विलम्ब के, प्रमोत्पत्तेः प्रमा की उत्पत्ति होने से। साधकत्वाविशेषेऽपि = साधकत्व में विशेष (भेद) न होने पर भी, उत्कर्षेण = उत्कृष्टता के द्वारा, प्रमात्रदिभ्यः = प्रमाता प्रमेय और प्रमाणादि से, अतिशयितत्त्वात् = प्रकृष्टता होने के कारण, साधकतमम् = साधकतम है।

गद्यार्थ -

(प्रश्न उठता है कि) प्रमा के बहुत से कारण प्रमाता प्रमेय आदि हैं, तो क्या वे भी करण हैं, अथवा नहीं?

उत्तर - प्रमाता और प्रमेय के होने पर भी प्रमा की उत्पत्ति नहीं होती है, और इन्द्रिय विषयादि संयोग होने पर शीघ्र ही प्रमा की उत्पत्ति होती है, अतः इन्द्रिय-विषय-संयोग आदि ही प्रमा के करण हैं। प्रमाता प्रमेय आदि में प्रमा की कारणता का भेद न होने पर भी इसी उत्कर्ष के कारण (शीघ्र प्रमात्व की उत्पत्ति) इन्द्रिय विषय संयोगादि प्रमाता आदि की अपेक्षा अतिशयित है। अतः अतिशयित साधक (प्रकृष्ट साधक) साधकतम है, वही करण है ऐसा कहा गया है। अतः प्रमा का करण होने से इन्द्रिय संयोगादि ही प्रमाण हैं न कि प्रमाता प्रमेय आदि।

और ये प्रमाण चार हैं। जैसा कि न्यायसूत्र कहता है- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द प्रमाण हैं।

व्याख्या -

विषय के साथ ही इन्द्रिय का संयोग होता है। इन्द्रिय और संयोग के रहने पर विषय अर्थ अवश्य रहता है। आशय यह है कि प्रमाता प्रमेय प्रमाण आदि प्रमा के कारण हैं, किन्तु इनके उपस्थित होने मात्र से प्रमा की उत्पत्ति नहीं होती है। इन्द्रियसंयोगादि के होने पर प्रमा की उत्पत्ति हो जाती है। अतः प्रमाता आदि की अपेक्षा इन्द्रियसंयोगादि में प्रकर्ष है। यह प्रकर्ष अपने व्यापार के पश्चात् प्रमा को उत्पन्न करता है, अतः इन्द्रियसंयोगादि साधकतम होने से प्रमा के करण प्रमाण हैं।

स्वयं आकलन कीजिए -

अभ्यास प्रश्न -2

1. असमवायिकारण किसे कहते हैं?
2. तन्तु का रूप पट के प्रति समवायिकारण है अथवा असमवायिकारण?
3. निमित्त कारण किसे कहते हैं?
4. समवाय सम्बन्ध किन पदार्थों का धर्म है?
5. क्रिया से लेकर संयोग पर्यन्त चार कार्य कौन से हैं?
6. किनका संयोग होने पर प्रमा की उत्पत्ति होती है?
7. प्रमाण कितने है?

3.6 सारांश

इस प्रकार हमने देखा कि समवायि, असमवायि और निमित्त कारण क्या होते हैं और इनके क्या-क्या लक्षण हैं। इसके साथ यह भी देखा कि बौद्ध अनुयायि जिस धारावाहिक ज्ञान की बात करते हैं, वह कैसा है और उस ज्ञान के विषय में न्यायिकों का क्या मत है। आशा है आप इस इकाई के अध्ययन से अवश्य लाभान्वित हुए होंगे।

3.7 कठिन शब्दावली -

अयुतसिद्धत्वात् = अयुतसिद्ध होने से, सव्येतरविषाणवत् = बायें (सव्य) और दायें (इतर) सींग के समान, पौर्वापर्याभावात् = पौर्वापर्य (पहले और पीछे का भाव) का अभाव होने से, अत्यन्ताभावाभावः = अत्यन्ताभाव का अभाव होना, अवधूतसामर्थ्यम् = जो कार्य के उत्पादन में निश्चित सामर्थ्य वाला हो, गृहीतग्राहिणाम् = ज्ञात अर्थ का ज्ञान कराने वाले, क्रियादिसंयोगान्तानाम् = क्रिया से प्रारम्भ कर संयोगपर्यन्त, यौगपद्याभिमानः = एक साथ उत्पन्न होने का भ्रम।

3.8 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर -

अभ्यास प्रश्न -1

1. समवाय सम्बन्ध
2. संयोग
3. तन्तु
4. पट
5. निर्गुण
6. जो गुणों का आश्रय हो

अभ्यास प्रश्न- 2

1. जो समवायिकारण में उपस्थित हो और जिसमें कार्योत्पादन की क्षमता हो
2. असमवायिकारण
3. जो न समवायिकारण हो और न असमवायिकारण
4. भावपदार्थों का
5. क्रिया, क्रिया से उत्पन्न विभाग, विभाग से पूर्व संयोग का नाश और पूर्व संयोग के नाश से उतर संयोग की उत्पत्ति
6. इन्द्रिय और विषय आदि

7. प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द

3.9 सहायक ग्रन्थ

1. तर्कभाषा, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणि, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी-221001, संस्करण-12, 2013.
2. तर्कभाषा, टीकाकार, पण्डित श्रीरुद्रधर झा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-221001, संस्करण-7, 2021.
3. तर्कभाषा, व्याख्याकार डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-221001, संस्करण-2013.
4. तर्कभाषा, व्याख्याकार एवं सम्पादक डॉ. अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर-302001, संस्करण-2021.
5. तर्कभाषा, व्याख्याकार श्रीबदरीनाथशुक्ल, मोतीलाल बनारसी दास, चौक वाराणसी, प्रथम संस्करण-1968.

3.10 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न -

1. तच्च कारणं त्रिविधम् - इस उक्ति के आधार पर तीन प्रकार के कारणों की उदाहरण सहित विस्तृत व्याख्या करें।
2. पदार्थों का सम्बन्ध किस प्रकार का होता है? उदाहरण सहित विवेचन करें।
3. निमित्त कारण से आप क्या समझते हैं? उदाहरण सहित व्याख्या करें।

इकाई - चार

प्रत्यक्ष प्रमाण निरूपण

संरचना

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 प्रत्यक्ष प्रमाण
  4.3.1 निर्विकल्पक ज्ञान
  4.3.2 इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष
  4.3.3 अवान्तर व्यापार
    - स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न-1
4.4 षोढा सन्निकर्ष
  4.4.1 संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष
  4.4.2 संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष
  4.4.3 समवाय सन्निकर्ष
  4.4.4 समवेतसमवाय सन्निकर्ष
  4.4.5 विशेषणविशेष्यभाव इन्द्रियार्थसन्निकर्ष
    - स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न-2
4.5 सारांश
4.6 कठिन शब्दावली
4.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर
4.8 सहायक ग्रन्थ
4.9 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियो, इस इकाई में प्रत्यक्ष प्रमाण की विस्तार से चर्चा की गई है। इसमें बताया गया है कि प्रत्यक्ष प्रमाण क्या है, जिससे हमें ज्ञान की प्राप्ति होती है। प्रत्यक्ष प्रमाण में क्या-क्या सहायक अवयव होते हैं जो हमें पदार्थ का साक्षात् करवाते हैं और हमें ज्ञान की अनुभूति होती है। ज्ञान की प्राप्ति में निर्वकल्पक ज्ञान और इन्द्रियों व अर्थ के सन्निकर्ष का महत्वपूर्ण स्थान है।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से विद्यार्थियों को निम्नलिखित जानकारी उपलब्ध होगी –

- प्रत्यक्ष प्रमाण निरूपण,
- प्रत्यक्ष लक्षण,
- निर्विकल्पक ज्ञान और
- इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष

4.3 प्रत्यक्ष प्रमाण

किं पुनः प्रत्यक्षम् ?

साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम्। साक्षात्कारिणी च प्रमा सैवोच्यते या इन्द्रियजा। सा च द्विधा सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदात्। तस्याः करणं त्रिविधिम्। कदाचिद् इन्द्रियं, कदाचिद् इन्द्रियार्थसन्निकर्षः, कदाचिद् ज्ञानम्।

शब्दार्थ -

साक्षात्कारिणी = साक्षात्कार करने वाली, उच्यते = कहलाती है, इन्द्रियजा = इन्द्रिय से उत्पन्न।

गद्यार्थ -

फिर प्रत्यक्ष किसे कहते हैं? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि साक्षात्कार करने वाली प्रमा के करण को प्रत्यक्ष कहते हैं। साक्षात्कारिणी प्रमा उसे कहते हैं जो इन्द्रिय से उत्पन्न होती है। वह इन्द्रिय से उत्पन्न प्रमा सविकल्पक एवं निर्विकल्पक भेद से दो प्रकार की होती है। इसके करण तीन प्रकार के हैं – 1. कभी इन्द्रिय करण होता है, 2. कभी इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष (सम्बन्ध) करण होता है, 3. और कभी निर्विकल्पकज्ञान करण होता है।

व्याख्या -

चारों प्रमाणों में प्रत्यक्ष का लक्षण है 'साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम्'। यहाँ लक्ष्य है- प्रत्यक्ष, और लक्षण है- साक्षात्कारि प्रमाकरणम्। वात्स्यायन ने प्रतिगतम् अक्षम् कहकर अक्षस्य अक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम् यह व्युत्पत्ति दी है। इससे इन्द्रियों का अपने विषयों में व्यापार या उपस्थिति ही प्रत्यक्ष है। इस तरह नेत्र, श्रोत्र, प्राण, रसना, त्वक् एवं मन प्रत्यक्षप्रमाण है।

प्रत्यक्ष शब्द वस्तुतः तीन अर्थों में प्रयुक्त है- 1. प्रत्यक्षप्रमाण, 2. प्रत्यक्षप्रमाण से उत्पत्र ज्ञान अर्थ में और 3. प्रत्यक्षज्ञान का विषय अर्थ में। साक्षात्कारिणी प्रमा इन्द्रिय से उत्पन्न होती है अर्थात् इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होती है। साक्षात्कारिणी पद के लक्षण में होने से अनुमानादि में अतिव्याप्ति नहीं होती है। मन एक इन्द्रिय है, उससे सुख-दुःख आदि का साक्षात्कार हो जाता है। यह लक्षण ईश्वर के प्रत्यक्षज्ञान में अव्याप्त है, क्योंकि ईश्वर का प्रत्यक्ष इन्द्रियज नहीं है। अतः व्याख्याकारों ने बताया है कि इस लक्षण का लक्ष्य ईश्वर का प्रत्यक्ष होना नहीं है। साक्षात्कारिणी प्रमा के दो भेद हैं - सविकल्पक और निर्विकल्पक।

सप्रकारकं ज्ञानं नामजात्यादियोजनासहितं सविकल्पकम् - विशेष्य विशेषण नाम जाति आदि के साथ होने वाला ज्ञान सविकल्पक है अर्थात् वस्तु के स्वरूप के साथ नाम, जाति आदि का ज्ञान होना। जैसे यह घट है, यह डित्थ है, इत्यादि। इस ज्ञान में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष करण होता है।

निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम् ज्ञान, वस्तुमात्र के स्वरूप का बोध कराने वाला ज्ञान निर्विकल्पक है। जैसे - यह कुछ है। यह ज्ञान अतीन्द्रिय ज्ञान भी होता है। इसका क्रम यह है आत्मा मन से, मन इन्द्रिय से और इन्द्रिय अर्थ से जब संयुक्त होता है तब अर्थ में संयुक्त इन्द्रिय से नाम जाति आदि की योजना से रहित वस्तु-मात्र का ज्ञान होता है। यह निर्विकल्पक है।

4.3.1 निर्विकल्पक ज्ञान

कदा पुनरिन्द्रियं करणम् ? यदा निर्विकल्पकप्रमा फलम्। तथा हि, आत्मा मनसा संयुज्यते, मनः इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन। इन्द्रियाणां वस्तुप्राप्यप्रकाशकारित्वनियमात्। ततोऽर्थसन्निकृष्टेनेन्द्रियेण निर्विकल्पकं

नामजात्यादियोजनाहीनं वस्तुमात्रवगाहि किञ्चिदिदमिति ज्ञानं जन्यते। तस्य ज्ञानस्येन्द्रियं करणं, छिदाया इव परशुः। इन्द्रियार्थसन्निकर्षोऽवान्तरव्यापारः छिदाकरणस्य परशोरिव दारुसंयोगः। निर्विकल्पकं ज्ञानं फलं, परशोरिव छिदा।

शब्दार्थ -

प्रकाशकारित्व-नियमात् = प्रकाशित करने का नियम है, अर्थसन्निकृष्टेन = अर्थ के साथ सम्बद्ध, निर्विकल्पकप्रमा= निर्विकल्पकज्ञान, नामजात्यादियोजनाहीनम् = नाम, जाति आदि की योजना से रहित, वस्तुमात्रवगाहि= वस्तु (अर्थ) मात्र का ग्रहण कराने वाला, अवान्तरव्यापारः = मध्य का भिन्न व्यापार, छिदाकरणस्य = काटने का करण, दारुसंयोगः = लकड़ी के साथ संयोग, छिदा = काटना।

गद्यार्थ -

फिर इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमा की करण कब होती है? उत्तर है कि जब निर्विकल्पकज्ञान फल होता है, तब इन्द्रिय करण होती है। जैसा कि आत्मा मन से संयुक्त होती है, मन इन्द्रिय के साथ संयुक्त होता है और इन्द्रियाँ अर्थ (वस्तु) के साथ संयुक्त होती हैं, क्योंकि इन्द्रियाँ अर्थ को ग्रहण करके प्रकाशित करती हैं, यह नियम है। (आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का वस्तु से जुड़ने के पश्चात्) अर्थ से संयुक्त इन्द्रिय द्वारा नाम जाति आदि की योजना से रहित वस्तु के स्वरूपमात्र का बोध कराने वाला 'यह कुछ है' इस प्रकार का निर्विकल्पकज्ञान उत्पन्न होता है।

इस ज्ञान का करण इन्द्रिय होती है, जैसे कि छेदन अथवा काटने का करण फरसा होता है। इसमें इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष (संयोग) अवान्तर (मध्यवर्ती) व्यापार होता है। जैसे छेदन का करण फरसा का अवान्तर व्यापार दारु (लकड़ी) का संयोग है। इस प्रक्रिया में निर्विकल्पकज्ञान फल होता है, जिस प्रकार फरसे का फल छिदा या काटना है।

व्याख्या -

साक्षात्कारिणी प्रमा के तीन करण हैं। इन्द्रिय करण तब बनती है, जब निर्विकल्पकप्रमा उसका फल होता है। निर्विकल्पक का लक्षण भी पूर्व पृष्ठ में बताया जा चुका है। करण फलवान् होता है, यह एक नियम है। इसे इस तरह समझाया गया है - आत्मा मन से संयुक्त होती है और मन इन्द्रिय से और इन्द्रिय अर्थ से। आत्मा से युक्त मन जब नेत्रेन्द्रिय से सम्बद्ध हो जाता है, तब नेत्र अपने अर्थ (रूपवान् पदार्थ) घटादि से जुड़ जाता है। इस अवस्था में घट का स्वरूपमात्र ज्ञात होता है, यही 'किञ्चित् इदम्' यह वस्तुमात्रवगाहि ज्ञान निर्विकल्पक है। इसमें नाम (घट ही है यह) जाति, घटत्व, उसके रक्तादिगुण आदि का भान नहीं होता है। इस ज्ञान में इन्द्रिय नेत्र करण है। इस करण द्वारा फल प्राप्त करने में तीन बातें सामने आती हैं - करण, अवान्तरव्यापार, फल। कुल्हाड़ी काटने का करण है, कुल्हाड़ी और लकड़ी का संयोग अवान्तरव्यापार है और उसका फल है कटना। इसी प्रकार इन्द्रिय करण है, इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष अवान्तरव्यापार हुआ, निर्विकल्पकज्ञान (प्रमा) फल हुआ। आत्मा से संयुक्त मन जिस इन्द्रिय से संयोग करेगा, उसी इन्द्रिय के अर्थ का ग्रहण होगा, दूसरी इन्द्रियों के अर्थ (विषय)

का नहीं, क्योंकि इन्द्रियाँ वस्तु सम्बद्ध होकर ही उसे प्रकाशित करती हैं। जिस इन्द्रिय की जिस विषयवस्तु को ग्रहण करने की सामर्थ्य है, वह उसे ही प्रकाशित करेगी।

4.3.2 इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष

कदा पुनरिन्द्रियार्थसन्निकर्षः करणम् ?

यदा निर्विकल्पकानन्तरं सविकल्पकं नामजात्यादियोजनात्मकं डित्थोऽयं, ब्राह्मणोऽयं, श्यामोऽयमिति विशेषणविशेष्यावगाहि ज्ञानमुत्पद्यते, तदेन्द्रियार्थसन्निकर्षः करणम्। निर्विकल्पकं ज्ञानमवान्तरव्यापारः, सविकल्पकं ज्ञानं फलम् ।

शब्दार्थ -

कदा पुनः = फिर कब, इन्द्रियार्थसन्निकर्षः = इन्द्रिय और अर्थ का संयोग, डित्थोऽयम् = यह डित्थ है, विशेषणविशेष्यावगाहिज्ञानम् = विशेषण और विशेष्य का बोध कराने वाला ज्ञान, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है, अवान्तरव्यापारः = मध्यवर्ती व्यापार।

गद्यार्थ -

इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष कब करण होता है?

जब निर्विकल्पकज्ञान के बाद नाम, जाति, गुण इत्यादि से अन्वित यह डित्थ है (नाम), यह ब्राह्मण है (जाति), यह श्याम है (गुण), इस प्रकार का विशेषण और विशेष्य का ग्रहण कराने वाला सविकल्पकज्ञान उत्पन्न होता है, तब इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष करण बनता है। इसमें निर्विकल्पक ज्ञान अवान्तर व्यापार है और सविकल्पकज्ञान फल है।

व्याख्या -

इन्द्रियार्थसन्निकर्ष जब करण बनता है तब सविकल्पकज्ञान उत्पन्न होता है, यही फल है तथा अवान्तरव्यापार है - निर्विकल्पकज्ञान। यह डित्थ है, यह ब्राह्मण है, यह श्याम है - यह सविकल्पकज्ञान है। यह ज्ञान निर्विकल्पकज्ञान के बाद होता है। अतः निर्विकल्पकज्ञान मध्यवर्ती व्यापार है।

कदा पुनर्ज्ञानं करणम् ?

यदा निर्विकल्पकानन्तरं हानोपदानोपेक्षाबुद्धयो जायन्ते तदा निर्विकल्पर्क ज्ञानं करणम्। सविकल्पकं ज्ञानमवान्तरव्यापारः, हानादिबुद्धयः फलम् ।

शब्दार्थ -

सविकल्पकानन्तरम् = सविकल्पकज्ञान के पश्चात्, हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः = (हान) त्याग, उपादान एवं उपेक्षा की बुद्धियाँ।

गद्यार्थ -

ज्ञान कब करण होता है? (यह प्रश्न है।)

जब पूर्व वर्णित सविकल्पकज्ञान के पश्चात् हान (त्याज्य), उपादान (ग्राह्य) और उपेक्षा की बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, तब निर्विकल्पकज्ञान करण होता है। सविकल्पकज्ञान मध्य का व्यापार होता है और हान, उपादान तथा उपेक्षा की बुद्धियों का उत्पन्न होना ही फल है।

4.3.3 अवान्तर व्यापार

तज्जन्यस्तज्जन्यजनकोऽवान्तरव्यापारः। यथा कुठारजन्यः कुठारदारुसंयोगः कुठारजन्य- च्छिदाजनकः। अत्र कश्चिदाह-सविकल्पकादीनामपीन्द्रियमेव करणम्। यावन्ति त्वान्तरालिकानि सन्निकर्षादीनि तानि सर्वाण्यवान्तरव्यापार इति।

शब्दार्थ -

तज्जन्यः = उससे उत्पन्न, तज्जन्यजनकः= उससे उत्पन्न कार्य का जनक, कुठारदारुसंयोगः = कुठार और लकड़ी का संयोग, कश्चिदाह = कोई विद्वान् कहते हैं।

गद्यार्थ -

उस करण से उत्पन्न और उस करण से उत्पन्न कार्य का जो जनक होता है, वह अवान्तरव्यापार कहलाता है। जैसे कि कुठार से उत्पन्न कुठार और लकड़ी का संयोग ही कुठार से उत्पन्न छेदन क्रिया का जनक होने से अवान्तरव्यापार है। कोई विद्वान् कहते हैं कि सविकल्पक, निर्विकल्पक एवं हान-उपादान-उपेक्षा बुद्धिरूप फलों का इन्द्रिय ही करण है और जितने मध्य में होने वाले इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष आदि हैं, वे सभी अवान्तरव्यापार ही हैं।

व्याख्या -

अवान्तरव्यापार सभी जगह करण और फल के मध्यम में रहता है। जिसके व्यापार के तुरन्त बाद फल की उत्पत्ति होती है वह कारण करण है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार निर्विकल्पकज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रिय करण होती है, किन्तु सविकल्पकज्ञान और हानोपादान उपेक्षा बुद्धि की उत्पत्ति में इन्द्रिय करण नहीं हो सकती, क्योंकि सविकल्पकज्ञान में इन्द्रिय द्वारा इन्द्रियार्थसन्निकर्ष एवं निर्विकल्पकज्ञान ये दो कार्य भी हो चुके होते हैं। यदि इन्द्रिय को ही सविकल्पकज्ञान में करण मानें तो 'फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम्' यह लक्षण घटित नहीं होगा, क्योंकि इन्द्रियव्यापार के तत्काल बाद सविकल्पक की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः प्रत्यक्षप्रमा तीन करण के माने जाते हैं।

दूसरा मत 'प्रतिगतम् अक्षम् प्रत्यक्षम्' इस व्युत्पत्ति के आधार पर है, क्योंकि इस व्युत्पति के अनुसार प्रत्यक्ष का अर्थ इन्द्रिय होता है। अतः त्रिविध प्रत्यक्षप्रमा का करण इन्द्रिय को माना जाता है। इस मत में करण और फल की उत्पत्ति के मध्य जो आएंगे वे अवान्तरव्यापार ही कहलायेंगे।

स्वयं आकलन कीजिए-

अभ्यास प्रश्न-1

1. प्रत्यक्ष प्रमाण किसे कहते हैं?
2. साक्षात्कारी प्रमा किससे उत्पन्न होती है?
3. प्रमा के कितने भेद हैं?
4. इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष क्या कहलाता है?
5. इनिद्रय और अर्थ का सन्निकर्ष कब करण होता है?
6. ज्ञान कब करण होता है?
7. अवान्तरव्यापार किसे कहते हैं?

4.4 षोढा सन्निकर्ष

इन्द्रियार्थयोस्तु यः सन्निकर्षः साक्षात्कारिप्रमाहेतुः, स षड्विध एव। तद्यथा - संयोगः, संयुक्तसमवायः संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः समवेतसमवायः विशेष्यविशेषणभावश्चेति ।

शब्दार्थ -

इन्द्रियार्थयोस्तु = इन्द्रिय और अर्थ का तो, साक्षात्कारिप्रमाहेतुः = प्रत्यक्ष प्रमा का हेतु, षड्विधः = छह प्रकार का।

गद्यार्थ -

इन्द्रिय और अर्थ का जो सन्निकर्ष साक्षात्कारि प्रमा का हेतु है, वह छः प्रकार का है। ये छः प्रकार हैं - 1. संयोग, 2. संयुक्तसमवाय, 3. संयुक्तसमवेत समवाय, 4. समवाय, 5. समवेत समवाय और 6. विशेष्यविशेषणभाव।

षड्विध सन्निकर्षों में संयोग प्रथम है, क्योंकि द्रव्य के साथ प्रथमतः इन्द्रिय का संयोग होता है। सभी पदार्थों का आश्रय द्रव्य ही सबमें प्रधान है। इसके बाद द्रव्य में रहने वाले शुभ का ग्रहण संयुक्तसमवायसन्त्रिकर्ष से होता है। उसके बाद गुण में रहने वाले सामान्य का सन्निकर्ष संयुक्तसमवेतसमवाय है। भावपदायों का धर्म होने से चौथे स्थान पर समवाय है। फिर समवेतसमवाय है, क्योंकि समवेत पदार्थ में समवाय से वह सामान्य का ग्राहक है। विशेषणविशेष्यभाव छठा है, क्योंकि वह समवाय और अभाव का ग्राहक है।

तत्र यदा चक्षुषा घटविषयं ज्ञानं जन्यते तदा चक्षुरिन्द्रियं घटीऽर्थः। अनयोः सत्रिकर्षः संयोग एव, अयुतसिद्ध्यभावात्। एवं मनसाऽन्तरिन्द्रियेण यदात्मविषयकं ज्ञानं जन्यतेऽहमिति, तदा मन इन्द्रियम् आत्माऽर्थः, अनयोः सत्रिकर्षः संयोग एव ।

शब्दार्थ -

अयुतसिद्धयभावात् = अयुतसिद्ध न होने से, अनयोः = इनका, जन्यते = उत्पन्न होता है, आत्माऽर्थः = आत्मा अर्थ है।

गद्यार्थ -

इन (षड्विध सन्निकर्षों) में जब चक्षु से घट विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है, तब चक्षु इन्द्रिय और घट अर्थ होता है। नेत्र और घट का सन्निकर्ष संयोग कहलाता है, क्योंकि ये दोनों अयुतसिद्धपदार्थ नहीं हैं। इसी प्रकार जब मन रूपी आन्तरिक इन्द्रिय से आत्मविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है, तब मन इन्द्रिय है और आत्मा अर्थ है। मन और आत्मा का सन्निकर्ष भी संयोग ही कहलाता है।

संयोग नामक यह सम्बन्ध दो द्रव्यों में होता है। जैसे इन्द्रिय और अर्थ। इन्द्रिय भी द्रव्य है। अतः इन्द्रिय द्रव्य और अर्थ का प्रत्यक्ष जहाँ होगा वहाँ सन्निकर्ष-संयोग होगा। इन्द्रियों में नेत्र एवं त्वगादि इन्द्रियों के द्वारा पटादि द्रव्यों का प्रत्यक्ष होता है तथा अन्तः इन्द्रिय मन द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार मन, नेत्र एवं त्वगिन्द्रिय संयोगनामक सन्निकर्ष से पदार्थ का प्रत्यक्ष कराते हैं।

4.4.1 संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष

कदा पुनः संयुक्तसमवायः सन्निकर्षः ?

यदा चक्षुरादिना घटगतरूपादिकं गृहाते घटे श्यामं रूपमस्तीति, तदा चक्षुरिन्द्रियं, घटरूपमर्थः, अनयोः सन्निकर्षः संयुक्तसमवाय एव। चक्षुः संयुत्तफ़े घटे रूपस्य समवायात्। एवं मनसाऽऽत्मसमवेते सुखखादौ गृह्यमाणे अयमेव सन्त्रिकर्षः।

शब्दार्थ -

चक्षुरादिना = नेत्रदि द्वारा, घटगतरूपादिकम् = घट में विद्यमान रूपाद, समवायात् = समवायसम्बन्ध होने से, आत्मसमवेते = आत्मा में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान, गृह्यमाणे = ग्रहण होने पर।

गद्यार्थ -

फिर संयुक्त समवाय सत्रिकर्ष कब होता है?

जब चक्षु आदि इन्द्रिय के द्वारा घट में विद्यमान रूपादि का ग्रहण होता है कि घट में श्याम रूप है, तब चक्षु इन्द्रिय है और घट का रूप अर्थ है। इन दोनों का सन्निकर्ष संयुक्तसमवाय ही है, क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में रूप समवायसम्बन्ध से रहता है। इसी प्रकार मन से आत्मा में समवायसम्बन्ध से विद्यमान सुख-दुःखादि का ग्रहण होने पर संयुक्तसमवायसन्निकर्ष ही होता है।

व्याख्या -

इन्द्रिय से द्रव्य का संयोग होने पर द्रव्य का प्रत्यक्षज्ञान होता है। उसके साथ-साथ उस द्रव्य में रहने वाले गुण क्रिया एवं जाति का भी ग्रहण होता है। इन तीनों के ग्रहण में संयुक्तमवायसत्रिकर्ष होता है। हम पढ़ चुके हैं कि अयुतसिद्धों का समवाय होता है। गुणी में गुण, क्रियावान् में क्रिया एवं व्यक्ति में जाति भी समवायसम्बन्ध से रहते हैं। जैसे चक्षु से संयुक्त घट में उसका श्याम रक्तादि गुण, घटत्व जाति, चलादि क्रिया भी प्रत्यक्षज्ञान के विषय होते हैं। उनका ग्रहण यही सत्रिकर्ष कराता है। गुण, क्रिया या जाति इन्द्रिय से सम्बद्ध घटादि द्रव्य में समवायसम्बन्ध से हैं, अतः ये संयुक्तमवाय से गृहीत होते हैं।

नेत्र से संयुक्त घट में उसका रूप समवायसम्बन्ध से है। रूप का प्रत्यक्षज्ञान संयुक्तसमवायसन्निकर्ष से होता है। इसी तरह त्वगिन्द्रिय से घट के स्पर्शगुण का, रसनेन्द्रिय से जल के माधुर्यादि का, घ्राण से पुष्प की गन्धदि का प्रत्यक्ष होता है, अतः चक्षुरादिना शुब्द से चक्षु त्वक रसना घ्राण इन्द्रिय का बोध होता है एवं रूपादि से रूप गन्ध स्पर्श रस अर्थ का बोध होता है।

घटगतपरिमाणादिग्रहे चतुष्टयसत्रिकर्षोऽप्यधिकं कारणमिष्यते। सत्यपि संयुक्तसमवाये तदभावे दूरे परिमाणाद्यग्रहणात्। चतुष्टयसन्निकर्षो यथा – 1. इन्द्रियावयवैरर्थावयविनाम्, 2. इन्द्रियावयविनाम-र्थावयवानाम्, 3. इन्द्रियावयवैरर्थावयवानाम्, 4. अर्थावयविनामिन्द्रियावयविनां सत्रिकर्ष इति ।

शब्दार्थ -

चतुष्टयसन्निकर्षोऽपि = चार अवयवों वाला सत्रिकर्ष भी, इष्यते = माना जाता है, तदभावे = उसके अभाव में, परिमाणाद्यग्रहणात् = परिमाण (माप) आदि का ग्रहण नहीं होता है, अर्धावयविनाम् = अर्थ के अवयवियों का सन्निकर्ष।

गद्यार्थ -

घट में विद्यमान परिमाण के ग्रहण में चार अवयवों वाला सन्निकर्ष भी विशेष कारण माना जाता है। संयुक्तसमवायसन्निकर्ष के रहने पर भी चतुष्टय सन्निकर्ष के नहीं होने पर दूरस्थ वस्तु में परिमाण आदि गुणों का ग्रहण सम्भव नहीं होता है। चतुष्टय सन्निकर्ष इस प्रकार है – 1. इन्द्रिय के अवयवों द्वारा अर्थ रूपी अवयवी का सन्निकर्ष, 2. इन्द्रिय रूपी अवयवी का अर्थ के अवयवों से सन्निकर्ष, 3. इन्द्रिय के अवयवों द्वारा अर्थ के अवयवों का सत्रिकर्ष, 4. अर्थरूपी अवयवियों का इन्द्रियरूपी अवयवियों के साथ सन्निकर्ष।

व्याख्या -

यह बात सत्य है कि द्रव्य में विद्यमान गुण का ग्रहण संयुक्तत्समवाय से होता है, परन्तु परिमाणरूपी गुण के ग्रहण में थोड़ी विशेष कल्पना करनी पड़ती है। दूरस्थ बड़े छोटे परिमाण के सम्यक् ग्रहण के लिए ग्रन्थकार ने इन्द्रिय और इन्द्रिय के अवयव तथा अर्थ एवं अर्थ के अवयव की बात कही है। घट आदि अवयवी तथा घट के अवयव, के साथ इन्द्रिय अवयवी एवं इन्द्रिय के अवयव के सन्निकर्ष की कल्पना से चतुष्टय सन्निकर्ष बन जाता है। यह चतुष्टय सन्निकर्ष संयुक्तसमवाय से अधिक है। वस्तुतः परिमाणविशेष की सही जानकारी हेतु चतुष्टय सन्निकर्ष भी अपेक्षित है।

4.4.2 संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष

कदा पुनः संयुक्तसमवेतसमवायः सन्निकर्षः ?

यदा पुनश्चक्षुषा घटरूपसमवेतं रूपत्वादिसामान्यं गृह्यते, तदा चक्षुरिन्द्रियं, रूपत्वादिसामान्यमर्थः, अनयोः सन्निकर्षः संयुक्तसमवेतसमवाय एव । चक्षुः संयुत्तफ़े घटे रूपं समवेतं, तत्र रूपत्वस्य समवायात् ।

शब्दार्थ -

घटरूपसमवेतम् = घटरूप में समवेत, रूपत्वादिसामान्यम् = रूपत्व आदि जाति, समवेतम् = समवायसम्बन्ध से, रूपत्वस्य = रूपत्व (जाति) का।

गद्यार्थ -

फिर संयुक्तसमवेतसमवायसन्निकर्ष कब होता है?

जब फिर चक्षु से घट के रूप में समवायसम्बन्ध से रहने वाले रूपत्व आदि सामान्य का ग्रहण होता है तब चक्षु इन्द्रिय होता है और रूपत्वादि सामान्य अर्थ होता है। चक्षु इन्द्रिय और रूपत्वादिसामान्य का सन्निकर्ष संयुक्तसमवेतसमवाय ही होता है। क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में रूप समवायसम्बन्ध से है और उस रूप में रूपत्व भी समवायसम्बन्ध से है।

व्याख्या -

इन्द्रिय से संयुक्त द्रव्य में, समवेत = समवायसम्बन्ध से रहना। इन्द्रियसंयुक्त द्रव्य में समवायसम्बन्ध गुण है और उसमें रूपत्व (जाति) का समवाय है। इस तरह इन्द्रियार्थसन्निकृष्ट रूप में उसकी जाति का ज्ञान संयुक्तसमवेत समवाय सम्बन्ध से होता है। न्यायवैशेषिक का सिद्धान्त है- येनेन्द्रियेण यद्गृह्यते तद्गतं सामान्यं, तत्समवायः, तदभावश्च तेनैव इन्द्रियेण गृह्यते अर्थात् जिस नेत्र से घटगत रूप का, रूप में विद्यमान समवाय का और उसके अभाव का भी ज्ञान होता है। इससे सिद्ध होता है कि शब्दभिन्न गुणों का, कर्म का, उसमें विद्यमान जाति का ग्रहण भी उसी इन्द्रिय से होगा। यही संयुक्तसमवेतसमवाय है।

4.4.3 समवाय सन्निकर्ष

कदा पुनः समवायः सन्निकर्षः ?

यदा श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दो गृह्यते तदा श्रोत्रमिन्द्रियं, शब्दोऽर्थः, अनयोः सन्त्रिकर्षः समवाय एव। कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभः श्रोत्रम्। श्रोत्रस्याकाशात्मकत्वाच्छब्दस्य चाकाशगुणत्वाद् गुणगुणिनोश्च समवायात् ।

शब्दार्थ -

श्रोत्रेन्द्रियेण = श्रोत्र इन्द्रिय से, आकाशात्मकत्वात् = आकाशरूप होने से, गुणगुणिनोः च = गुण और गुणी में।

गद्यार्थ -

फिर समवायसन्निकर्ष कब होता है?

जब श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण होता है तब श्रोत्र इन्द्रिय होता है और शब्द अर्थ होता है। इन दोनों का समवाय ही सन्निकर्ष है। कर्ण शुष्कलि से परिमित आकाश श्रोत्र है। श्रोत्र आकाश रूप है और शब्द आकाश का गुण है। गुण और गुणी में समवायसम्बन्ध होता है

व्याख्या -

यह पूर्व में बताया जा चुका है कि गुण एवं गुणी में समवायसम्बन्ध होता है। यहाँ पर श्रोत्र इन्द्रिय और शब्द का सन्निकर्ष समवाय माना गया है। इसमें गुण्गुणिानोः उमवायत् यह हेतु दिया गया है। शाब्द एक गुण है। यह गुण आकाश का है। आकाश गुणी है। कर्णशष्कुलि कर्णविवर को कहते हैं। उससे परिमित देश (स्थान) भी आकाश है। उसस आकाश का नाम यहाँ पर श्रोत्र रखा गया है। इस प्रकार श्रोत्र रूपी आकाश यहाँ गुण गुणी भी है और इन्द्रिय भी। अतः श्रोत्रेन्द्रिय और शब्द का सन्निकर्ष समवाय है।

4.4.4 समवेतसमवाय सन्निकर्ष

कदा पुनः समवेतसमवायः सन्निकर्षः ?

यदा पुनः शब्दसमवेतं शब्दत्वादिकं सामान्यं श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यते, तदा श्रोत्रमिन्द्रियं, शब्दत्वादि सामान्यमर्थः । अनयोः सन्त्रिकर्षः समवेतसमवाय एव । श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात् ।

शब्दार्थ -

शब्दसमवेतम् = शब्द में समवायसम्बन्ध से रहने बाला, श्रोत्रसमवेते = श्रोत्र में समवायसम्बन्ध से विद्यमान, शब्दत्वस्य = शब्दत्व जाति का।

गद्यार्थ -

कब पुनः समवेतसमवायसन्निकर्ष होता है?

उत्तर-जब फिर शब्द में समवायसम्बन्ध से विद्यमान शब्दत्व आदि सामान्य का श्रोत्र इन्द्रिय से ग्रहण होता है, तब श्रोत्र इन्द्रिय है और शब्दत्व-सामान्य अर्थ है। इन दोनों का सन्निकर्ष समवेतसमवाय ही है। श्रोत्र में समवायसम्बन्ध से रहने वाले शब्द में शब्दत्व जाति का समवायसम्बन्ध है।

4.4 विशेषणविशेष्यभाव इन्द्रियार्थसन्निकर्ष

कदा पुनः विशेषणविशेष्यभाव इन्द्रियार्थसन्निकर्षो भवति ?

यदा चक्षुषा संयुत्तफ़े भूतले घटाभावो गृह्यते 'इह भूतले घटो नास्ति' इति, तदा विशेष्यविशेषणभावः सम्बन्धः। तदा चक्षुः संयुक्तस्य भूतलस्य घटाद्यभावो विशेषणं, भूतलं विशेष्यम्। यदा च मनः संयुक्त आत्मनि सुखाद्यभावो गृह्यते 'अहं सुखरहित' इति, तदा मनः संयुक्तस्य आत्मनः सुखाद्यभावो विशेषणम्। यदा श्रोत्रसमवेते गकारे घत्वाभावो गृह्यते तदा श्रोत्रसमवेतस्य गकारस्य घत्वाभावो विशेषणम्।

तदेवं संक्षेपतः पञ्चविधसम्बन्धान्यतमसम्बन्धसम्बद्धविशेषणविशेष्यभावलक्षणेनेन्द्रियार्थ- सन्निकर्षेण अभाव इन्द्रियेण गृह्यते।

एवं समवायोऽपि। चक्षुः सम्बद्धस्य तन्तोर्विशेषणभूतः पटसमवायो गृह्यते 'इह तन्तुषु पटसमवाय' इति ।

शब्दार्थ -

इन्द्रियार्थसन्निकर्षः = इन्द्रिय और पदार्थ का सन्निकर्ष, संयुक्ते = सम्बद्ध, भूतले = पृथ्वी पर, घटाभावः= घट का अभाव, आत्मनि = आत्मा में, गकारे = गकार में, घत्वाभावः = घत्व का अभाव, समवायः अपि = समवाय भी, चक्षुःसम्बद्धस्य = चक्षु से सम्बद्ध, तन्तोः = तन्तु का।

गद्यार्थ -

फिर विशेषणविशेष्यभाव इन्द्रियार्थसन्निकर्ष कब होता है?

उत्तर - जब नेत्र से संयुक्त भूतल में 'घटाभाव' का ग्रहण होता है - 'यहाँ भूतल पर घट नहीं है' ऐसा, तब विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध होता है। उस समय नेत्र से सम्बद्ध भूतल का 'घटादि का अभाव' विशेषण होता है तथा 'भूतल' विशेष्य होता है और जब मन से सम्बद्ध आत्मा में सुखादि का अभाव गृहीत होता है कि 'मैं सुखरहित हूँ' ऐसा तब मन से संयुक्त आत्मा का सुखादि का अभाव विशेषण होता है। जब श्रोत्र में समवायसम्बन्ध से रहने वाले गकार में 'घत्व के अभाव' का ग्रहण होता है, तब श्रोत्र में समवायसम्बन्ध से स्थित गकार का घत्वाभाव विशेषण होता है।

इस प्रकार पाँच प्रकार के संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय और समवेतसमवाय में से किसी एक सम्बन्ध से सम्बद्ध विशेषणविशेष्यभावमूलक इन्द्रियार्थसन्निकर्ष द्वारा अभाव का इन्द्रिय से ग्रहण होता है।

इसी प्रकार समवाय भी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण होता है। चक्षु से सम्बद्ध तन्तु का विशेषणभूत पट का समवाय 'यहाँ तन्तुओं में पट का समवाय है' ऐसा गृहीत होता है।

व्याख्या -

विशेषणविशेष्यभाव एक विशेष प्रकार का सन्निकर्ष है। इसके द्वारा अभाव का ग्रहण होता है। येनेन्द्रियेण यद्वस्तु गृह्यते तेनैव तस्याभावोऽपि गृह्यते अर्थात् जिस इन्द्रिय से जो वस्तु गृहीत होती है, उसका अभाव भी उसी इन्द्रिय से गृहीत होता है, यह नियम है। अतः अभाव का ग्रहण भी भावग्राहक इन्द्रिय से होता है। विशेषण को आधेय तथा विशेष्य को आधार कहते हैं। उदाहरणार्थ घटवद्भूतलम् (घट युक्त भूतल है) में घट आधेय (विशेषण) है, भूतल आधार (विशेष्य) है। इन दोनों का संयोग है। इह भूतले घटो नास्ति घटाभाववद् भूतलम् अर्थात् इस भूतल में घट नहीं है, में घटाभाव विशेषण हुआ और भूतल विशेष्य हुआ। इन्द्रिय नेत्र है, क्योंकि घटवद्भूतलम् में घट वाले भूतल का ज्ञान नेत्र इन्द्रिय से हुआ है। दोनों में संयोग सन्निकर्ष है। अतः पञ्चविध सन्निकर्ष में से एक संयोग सम्बन्ध से सम्बद्ध नेत्र द्वारा भूतल में घटाभाव का ज्ञान भी होगा और सन्निकर्ष का नाम होगा। भूतल नेत्र से सम्बद्ध है और नेत्रसम्बद्ध भूतल में ही घटाभाव का ज्ञान होता है।

इसी तरह मन से संयुक्त आत्मा में सुखभाव का ज्ञान होता है। मन, इन्द्रिय और आत्मा का संयोग सन्निकर्ष है। मन से संयुक्त आत्मा में ही सुखभाव का ग्रहण मन इन्द्रिय द्वारा ही होता है। यहाँ आत्मा विशेष्य है, सुखभाव विशेषण है। मन, इन्द्रिय एवं अभाव का विशेषणविशेष्य भाव सन्निकर्ष से प्रत्यक्षज्ञान हो जाता है।

समवाय सम्बन्ध को नैयायिक अभाव के समान प्रत्यक्ष का विषय मानते हैं। वैशेषिक इसे अनुमान का विषय मानते हैं। अभाव के ग्रहण में पञ्चविध सन्निकर्षों में से किसी एक सम्बन्ध से सम्बद्ध विशेषणविशेष्यभाव सत्रिकर्ष होता है। परन्तु समवाय के ग्रहण में संयोग, संयुक्तसमवाय तथा समवाय, इन तीनों में से किसी एक सम्बन्ध से ही सम्बद्ध विशेषणविशेष्यभाव सत्रिकर्ष होता है।

उपर्युक्त पंक्ति में पट समवाय को तन्तु का विशेषण माना गया है और 'इह तन्तुषु परसमवायः' इस व्याख्या में तन्तु को विशेषण माना गया है। यह भ्रम की स्थिति है। इसे दूर करने के लिए विशेषणविशेष्य का अर्थ आधेय और आधार करना चाहिए। 'तन्तुषु पटसमवायः' कहने पर तन्तु आधार होकर विशेष्य हो जायेगा तथा पट समवाय आधेय बनकर विशेषण बन जायेगा।

तदेवं षोढासन्निकर्षो वर्णितः। संग्रहश्च-
अक्षजा प्रमितिद्वेधा सविकल्पाविकल्पिका।
करणं त्रिविधं तस्याः सन्निकर्षश्च षड्विधः।।
घट-तन्नील-नीलत्व-शब्द-शब्दत्वजातयः।
अभावसमवायौ च ग्राह्याः सम्बन्धषट्कतः ।।

शब्दार्थ -

वर्णितः = वर्णित हुआ, संग्रहश्च = और उसका संग्रह, अक्षजा = इन्द्रिय से उत्पन्न, प्रमितिः = प्रमा (प्रत्यक्ष), षड्विधः = छह प्रकार का, सम्बन्धषट्कतः = इन छह सन्निकर्षों द्वारा, शब्दत्वजातयः = शब्द में रहने वाली जाति, ग्राह्याः = ग्रहण किये जाने चाहिए।

गद्यार्थ -

तो इस प्रकार से छह प्रकार के सन्निकर्षों का वर्णन किया गया है और उसका संग्रह अर्थात् संक्षेप इस प्रकार है -

इन्द्रिय से उत्पन्न प्रमा दो प्रकार की है - सविकल्पक और निर्विकल्पक। उस प्रमा का करण तीन प्रकार का है और सन्निकर्ष छह प्रकार का है। घट में रहने वाला नील गुण, नील गुण में रहने वाला नीलत्व सामान्य, शब्द, शब्द में रहने वाली शब्दत्व जाति (क्रमशः संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय और समवेतसमवाय इन पाँच सन्निकर्षों द्वारा होता है) अभाव और समवाय का ग्रहण विशेषणविशेष्यभाव द्वारा होता है, इस तरह छह सन्निकर्षों से उपर्युक्तों का ग्रहण होता है।

ननु निर्विकल्पकं परमार्थतः स्वलक्षणविषयं भवतु प्रत्यक्षम्। सविकल्पकं तु शब्दलिंगवदनुगताकारावगाहित्वात् सामान्यविषयं कथं प्रत्यक्षमक्षजस्यैव प्रत्यक्षत्वात्। अर्थस्य च परमार्थतः सत एव तज्जनकत्वात्। स्वलक्षणन्तु परमार्थतः सत न तु सामान्यम्। तस्य प्रमाणनिरस्तविधिभावस्य अन्यव्यावृत्यात्मनस्तुच्छत्वात् ।

मैवम् । सामान्यस्यापि वस्तुभूतत्वात् । तदेवं व्याख्यातं प्रत्यक्षम् ।

शब्दार्थ -

परमार्थतः = वस्तुतः, स्वलक्षणविषयं = स्वलक्षण विषयक, सविकल्पकन्तु = सविकल्पक तो, शब्दलिंगवत् = शब्द तथा लिंग के समान, अर्थजस्यैव = अर्थ से उत्पन्न ज्ञान ही, परमार्थतः सतः = वस्तुतः सत् होने से, अन्यव्यावृत्त्यात्मनः = अन्यव्यावृत्तिस्वरूपवाला होने से।

गद्यार्थ -

(प्रश्न) निर्विकल्पकज्ञान वस्तुतः वस्तुमात्र-विषयक होने से प्रत्यक्ष हो सकता है। परन्तु सविकल्पक शब्द और अनुमान के सदृश अनुगत आकार (सामान्य) का ग्राहक होने से सामान्य विषय वाला है, वह प्रत्यक्ष कैसे होगा? क्योंकि अर्थ से उत्पन्न ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है। परमार्थसत् अर्थ ही उस प्रत्यक्ष का जनक माना जाता है।

स्वलक्षण तो परमार्थसत् (विद्यमान) ही होता है सामान्य नहीं। सामान्य की भावरूपता प्रमाणों से खण्डित है, वह अन्य व्यावृत्तिरूप होने से अभावमात्र (तुच्छ) है अर्थात् आकाश कुसुम के समान अत्यन्त असत् है।

(उत्तर) सामान्य के भी वस्तुभूत होने से यह ठीक नहीं है। तो इस प्रकार प्रत्यक्ष का व्याख्यान हो गया।

व्याख्या -

बौद्धों के मत में स्वलक्षण ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है। वे कहते हैं कि अर्थ से जन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है - 'अर्थजस्यैव प्रत्यक्षत्वात्'। यह अर्थ दो प्रकार का है – 1. परमार्थसत्, 2. कल्पित। परमार्थसत् ही प्रत्यक्ष का जनक है। उनके मत में पदार्थ दो प्रकार के माने जाते हैं - स्वलक्षण और सामान्यलक्षण। किसी वस्तु का अपना स्वरूप, जो अन्य सजातीय एवं विजातीय वस्तुओं से भिन्न हो, उसे स्वलक्षण कहते हैं। यही व्यक्ति की प्रवृत्ति या निवृत्ति का कारण हो सकता है। यही अर्थ क्रियाकारी है। घट ही स्वलक्षण है। वही जलानयनादि क्रिया को करता है। सामान्य अर्थात् घटत्व जाति नहीं। अतः स्वलक्षण ही परमार्थ सत् है। सामान्य लक्षण पदार्थ को वे कल्पित मानते हैं। यह अभावरूप तुच्छ माना जाता है। इसे प्रमाणनिरस्त विधिभाव कहते हैं। बौद्धों का प्रश्न है कि सामान्य (जाति) कहाँ रहता है? व्यक्ति में सम्पूर्ण रूप से रहता है या एकदेश में?

यदि इसे किसी व्यक्ति में सम्पूर्ण रूप से रहने वाला मानें तो अन्य व्यक्ति में उसकी उपस्थिति नहीं हो सकेगी, जबकि आप नैयायिक 'नित्यम् एकम् अनेकानुगतं सामान्यम्' यह लक्षण करते हैं। अनेकों में अनुगताकार की प्रतीति होने पर ही सामान्य होगा। एक में सम्पूर्ण रूप से रहने पर वह दूसरे में कैसे रहेगा? बौद्धों के मत में संसार के सारे पदार्थ क्षणिक हैं, नित्य नहीं हैं। यत् सत् तत् क्षणिकम् अर्थात् जो क्षणिक है, वही सत् है। जो क्षणिक नहीं, वह सत् भी नहीं है। अब क्षणिक सत् में नित्यत्व कहाँ से आयेगा?

इस तरह नित्यत्व एवं अनेकसमवेतत्व लक्षण वाला सामान्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं होने के कारण अभावरूप है। उसे प्रत्यक्ष कैसे माना जाये, यही बौद्धों का आशय है। नैयायिकों इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं कि सामान्य समवायसम्बन्ध से सभी में रहता है। अतः अनुपपत्ति नहीं होती है। यदि सामान्य की सत्ता न मानें तो 'अयं घटः अयं घटः' यह घट है, यह घट है, इस प्रकार की समानाकारक प्रतीति कैसे होगी? वस्तुतः अनेकों घटों में समानाकारक प्रतीति का हेतु सामान्य है।

स्वयं आकलन कीजिए-

अभ्यास प्रश्न-2

1. इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष कितने प्रकार का है?
2. नेत्र और घट का सन्निकर्ष क्या कहलाता है?
3. संयुक्त समवाय सन्निकर्ष कब होता है?
4. संयुक्तसमवेत समवाय सन्निकर्ष कब होता है?
5. समवाय सन्निकर्ष कब होता है?
6. समवेतसमवाय सन्निकर्ष कब होता है?
7. विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष कब होता है?

4.5 सारांश

इस तरह प्रस्तुत इकाई में प्रत्यक्ष प्रमाण की लक्षण और उदाहरण सहित जानकारी प्रदान की गई। इसके अतिरिक्त सोलह प्रकार के सन्निकर्षों का भी उदाहरण सहित वर्णन किया गया। आशा है आप लोग इस जाहकारी से लाभान्वित होंगे।

4.6 कठिन शब्दावली

परशुः = फरसा /कुल्हाड़ी, कुठारजन्यछिदाजनकः = कुठार से उत्पन्न होने वाली छेदन क्रिया का जनक, आन्तरालिकानि = मध्यवर्ती, घटगतपरिमाणादिग्रहे = घट में विद्यमान परिमाण इत्यादि के ग्रहण में, , कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं = कर्णविवर से परिमित या घिरा हुआ, पञ्चविधसम्बन्ध = पाँच प्रकार का सम्बन्ध, षोढा = छह प्रकार का, अनुगताकारावगाहित्यात् = सामान्य का ग्राहक होने से, निरस्तविधिभावस्य = खण्डित विधिभाव का।

4.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर –

अभ्यास प्रश्न-1

1. साक्षात्कार करने वाली प्रमा के करण का
2. इन्द्रिय से
3. दो भेद - सविकल्पक और निर्विकल्पक
4. अवान्तर व्यापार
5. जब सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है?
6. जब हान, उपादान व उपेक्षा बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं?
7. करण और फल की उत्पत्ति के मध्य आने वाले व्यापार

अभ्यास प्रश्न - 2

1. छः प्रकार का - 1- संयोग, 2- संयुक्तसमवाय, 3- संयुक्तसमवेत समवाय, 4- समवाय, 5- समवेत समवाय और 6- विशेषणविशेष्यभाव
2. संयोग
3. चक्षु द्वारा घटादि में विद्यमान रूपादि का ग्रहण होने पर
4. चक्षु से घटरूप में रहने वाले रूपत्वादि का ग्रहण होने पर
5. श्रोत्रेन्द्रिय और शब्द का सन्निकर्ष होने पर
6. श्रोत्रेन्द्रिय और शब्दत्व सामान्य का सम्बन्ध होने पर
7. भूतल में घटाभाव का ग्रहण होने पर

4.8 सहायक ग्रन्थ -

1. तर्कभाषा, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणि, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी-221001, संस्करण-12, 2013.
2. तर्कभाषा, टीकाकार, पण्डित श्रीरुद्रधर झा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-221001, संस्करण-7, 2021.
3. तर्कभाषा, व्याख्याकार डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-221001, संस्करण-2013.

4. तर्कभाषा, व्याख्याकार एवं सम्पादक डॉ. अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर-302001, संस्करण-2021.
5. तर्कभाषा, व्याख्याकार श्रीबदरीनाथशुक्ल, मोतीलाल बनारसी दास, चौक वाराणसी, प्रथम संस्करण-1968.

4.9 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न -

1. प्रत्यक्ष प्रमाण किसे कहते हैं? उदाहरण सहित विस्तृत व्याख्या करें।
2. तर्कभाषा के अनुसार छः प्रकार के सन्निकर्ष की उदाहरण सहित व्याख्या करें।
3. तर्कभाषा के अनुसार षोडा सन्निकर्ष का वर्णन करें।

इकाई - पाँच

अनुमाण प्रमाण निरूपण

संरचना

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 अनुमान प्रमाण
  5.3.1 लिंग परामर्श और उपाधि
  5.3.2 व्याप्ति सम्बन्ध
    - स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न -1
5.4 अनुमान के भेद
  5.4.1 स्वार्थानुमान
  5.4.2 परार्थानुमान
    - स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न -2
5.5 सारांश
5.6 कठिन शब्दावली
5.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर
5.8 सहायक ग्रन्थ
5.9 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

इस इकाई में अनुमान प्रमाण की चर्चा की गई है। इसमें बताया गया है कि जहाँ पर किसी पदार्थ के ज्ञान में प्रत्यक्ष प्रमाण काम नहीं करता, वहाँ अनुमान प्रमाण का सहारा लेना पड़ता है। यहाँ पर लिंग परामर्श और व्याप्ति के विषय पर चर्चा करते हुए बताया गया है कि अनुमान प्रमाण में लिंग परामर्श और व्याप्ति का क्या महत्त्व है। इसके पश्चात् अनुमान के भेदों की चर्चा की गई है।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से विद्यार्थियों को नम्नलिखित जानकारी उपलब्ध होगी –

- अनुमाण प्रमाण निरूपण,
- लिंग परामर्श,
- व्याप्ति सम्बन्ध,
- अनुमान के भेद

5.3 अनुमान प्रमाण

लिंगपरामर्शोऽनुमानम्। येन हि अनुमीयते तदनुमानम्। लिंगपरामर्शेन चानुमीयतेऽतो लिंगपरामर्शोऽनुमानम् । तच्च धूमादिज्ञानमनुमितिं प्रति करणत्वात् । अग्न्यादिज्ञानमनुमितिः । तत्करणं धूमादिज्ञानम्।

शब्दार्थ -

लिंगपरामर्शः = लिंग (हेतु) का परामर्श (पकड़ना), धूमादिज्ञानम् = धूम आदि का ज्ञान, अनुमितिम् = दिए हुए कारणों से किसी निर्णय पर पहुँचना, करणत्वात् = करण होने से, अग्न्यादिज्ञानम् = अग्नि आदि का ज्ञान।

गद्यार्थ -

लिंग परामर्श को अनुमान कहते हैं, जिससे अनुमिति की जाती है - वह अनुमान है और लिंग के परामर्श से अनुमिति होती है, इसलिए लिंगपरामर्श को अनुमान कहते हैं और वह लिंगपरामर्श है - धूमादि का ज्ञान, क्योंकि अनुमिति में वही करण होता है। अग्नि आदि का ज्ञान होना ही अनुमिति है। उस ज्ञान का करण धूमादि का ज्ञान है।

व्याख्या -

चतुर्विध प्रमाणों में अनुमान दूसरा प्रमाण है। अनुमान शब्द अनुमान प्रमाण एवं अनुमान प्रमाण से उत्पन्न ज्ञान (प्रमा) के लिए प्रयुक्त होता है। यहाँ पर 'लिंगपरामर्शः अनुमानम्' यह लक्षण किया गया है। यह अनुमान प्रमाण का वाचक है। अतः तर्कभाषाकार ने 'अनुमीयते येन तद् अनुमानम्' यह व्युत्पत्ति बताई है। न्यायभाष्य में 'प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानम्' कहा है, जिससे अनुमिति की जाती है, वह करण अनुमान प्रमाण हुआ और अनुमिति प्रमा उसका फल हुआ। चूँकि लिंगपरामर्श से अनुमिति होती है, इसलिए लिंगपरामर्श को अनुमान मान लिया जाता है।

5.3.1 लिंग परामर्श और उपाधि

किं पुनर्लिंग कश्च तस्य परामर्शः ?

उच्यते। व्याप्तिबलेनार्थगमकं लिंगम्। यथा धूमोऽग्नेर्लिंगम्। तथाहि यत्र धूमः तत्रग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः। तस्यां गृहीतायामेव व्याप्तौ धूमोऽग्नि गमयति, अतो व्याप्तिबलेनाग्न्यनुमापकत्वाद् धूमोऽग्नेर्लिंगम्।

तस्य तृतीयं ज्ञानं परामर्शः। तथाहि प्रथमं तावन्महानसादौ भूयो भूयो धूमं पश्यन् वह्नि पश्यति। तेन भूयो दर्शनेन धूमाग्न्योः स्वाभाविकं सम्बन्धमवधारयति, यत्र धूमस्तत्रग्निरिति ।

शब्दार्थ -

व्याप्तिबलेन = व्याप्ति के बल से, अर्थगमकम् = अर्थबोध कराने वाला, साहचर्यनियमः = साथ-साथ रहने का नियम, अग्न्यनुमापकत्वात् = अग्नि का अनुमापक होने से, भूयो भूयः = बार बार, पश्यति = देखता है, दर्शनेन = देखने से, धूमाग्न्योः = धूम और अग्नि का, स्वाभाविकम् = स्वाभाविक, अवधारयति = निर्णय करता है।

गद्यार्थ -

(प्रश्न पूछा जा रहा है) फिर लिंग क्या है और उसका परामर्श क्या है?

(उत्तर दे रहे हैं) कहते हैं - व्याप्ति के बल से अर्थ का बोध कराने वाला लिंग होता है जैसे - धूम अग्नि का लिंग है। जैसे कि 'जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि है' ऐसा साहचर्य का नियम व्याप्ति है। उस व्याप्ति के गृहीत होने पर ही धूम अग्नि का बोध कराता है। अतः व्याप्ति के बल से अग्नि का अनुमापक होने से धूम अग्नि का लिंग है।

उस धूम रूप लिंग का तीसरा ज्ञान परामर्श कहलाता है। जैसे कि पहले बताया गया है कि जो पाकशाला आदि में बार-बार धूम को देखता हुआ (व्यक्ति) अग्नि को देखता है। उस बार-बार के धूम और अग्नि के

दर्शन से व्यक्ति धूम और अग्नि में स्वाभाविक सम्बन्ध का निर्धारण करता है कि जहाँ धूम होता है, वहाँ अनि होती है।

व्याख्या -

अनुभान के लक्षण में परामर्श शब्द का क्या अर्थ है? इस जिज्ञासा की शान्ति हेतु ग्रन्थकार कहते हैं कि लिंग का तृतीयज्ञान 'तीसरी बार ज्ञान होना' परामर्श है। जैसे कि (1) पहली बार व्यक्ति रसोईघर में धूम और अग्नि को साथ देखता है। बार-बार देखने से धूम और वह्नि की व्याप्ति का निर्णय करना प्रथम लिंग दर्शन हुआ। (2) पुनः पर्वत में धूम को देखना द्वितीय बार लिंग का दर्शन हुआ। पुनः स्मरण होता है कि धूम और अग्नि एक साथ रहते हैं। इसके उपरान्त पुनः (3) पर्वत में धूमरूप लिंग का ज्ञान होता है। यह तृतीय लिंग दर्शन है अर्थात् अग्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः, यह ज्ञान होता है। इस ज्ञान को ही लिंग परामर्श कहते हैं। संक्षेप में रसोई में धूम का ज्ञान पहला लिंग ज्ञान हुआ। पर्वत में धूम का ज्ञान द्वितीय बार लिंग का ज्ञान हुआ। पुनः पर्वत में वह्निव्याप्य धूम का ज्ञान तृतीय ज्ञान हुआ। इसी तीसरे ज्ञानरूप परामर्श से अग्नि की अनुमिति होती है। अतः वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः, यह तृतीय ज्ञान वह्निज्ञान के प्रति करण होने से अनुमान कहलाता है।

परामर्श का अन्य लक्षण है - 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः' अर्थात् व्याप्ति विशिष्ट पक्ष धर्मता का ज्ञान परामर्श है। इस में दो अंश हैं - व्याप्ति और पक्षधर्मता। 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः' इस तृतीयज्ञान में वह्निव्याप्य द्वारा व्याप्ति की सूचना मिलती है तथा 'धूमवानयं पर्वतः' द्वारा पक्षधर्मता की सूचना मिलती है। इस अंश से धूम का पर्वतरूप पक्ष में सत्ता है, यह प्रतीति होती है। इस तरह अनुमान में व्याप्ति और पक्षधर्मता दो मुख्य अंश हैं। तृतीयज्ञान में (वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः) दोनों अंश हैं। अतः परामर्श के दोनों लक्षण 'लिंगस्य तृतीयं ज्ञानं परामर्शः' तथा 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः' एक ही बात को कहते हैं।

तद्यपि यत्र यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र तत्र श्यामत्वमपीति भूयो दर्शनं समानमवगम्यते, तथापि मैत्रीतनयत्वश्यामत्वयोर्न स्वाभाविकः सम्बन्धः किन्त्वौपाधिक एव। शाकाद्यन्नपरिणामस्योपाधे-र्विद्यमानत्वात्।

तथा हि श्यामत्वे मैत्रीतनयत्वं न प्रयोजकं किन्तु शाकाद्यन्नपरिणतिभेद एव प्रयोजकः। प्रयोजकश्चोपाधिरित्युच्यते।

शब्दार्थ -

मैत्रीतनयत्वम् = मैत्री का पुत्र होना, श्यामत्वम् = श्यामत्व वर्ण का होना, अवगम्यते = प्रतीत होता है, औपाधिक एव = औपाधिक सम्बन्ध, शाकाद्यन्त्रपरिणामस्य = शाक आदि अन्न का परिणाम, उपाधेः = उपाधि के रूप में, विद्यमानत्वात् = विद्यमान होने से, प्रयोजकम् = कारण।

गद्यार्थ -

यद्यपि जहाँ-जहाँ मैत्रीतनयत्व है, वहाँ-वहाँ श्यामत्व है। इस प्रकार का सहचार (यत्र धूमः तत्र वह्निः के समान) समान रूप से दिखाई पड़ता है। फिर भी मैत्रीतनयत्व और श्यामत्व में स्वाभाविक सम्बन्ध (व्याप्ति) नहीं माना जाता। किन्तु यहाँ सम्बन्ध औपाधिक अर्थात् प्रयोजक के कारण है। शाक आदि अन्न का परिणाम ही (श्यामत्व का कारण होने से) यहाँ उपाधि के रूप में विद्यमान है।

जैसे कि श्याम वर्ण होने में मैत्री का पुत्र होना कारण नहीं है। किन्तु शाकादि अन्न का परिपाक-विशेष ही श्याम वर्ण में कारण है, जो प्रयोजक कारण होता है, वही उपाधि कहलाता है।

व्याख्या -

'लिंगपरामर्शः अनुमानं' की व्याख्या में बताया गया है कि बार-बार धूमाग्नि का सहचार देखे जाने से धूम और अग्नि में स्वाभाविक सम्बन्ध (व्याप्ति) का निश्चय होता है। इस कथन पर प्रश्न उठता है कि 'यत्र यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र तत्र श्यामत्वम्' इस कथन में भी 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र अग्निः' के समान सहचार दिखाई पड़ता है, तो क्या 'अयं श्यामः मैत्रीतनयत्वात्' जैसा अनुमान कर लेंगे? इस शघ्का का समाधान ग्रन्थकार ने मूल में किया है।

मैत्री नामक किसी स्त्री के अनेक पुत्र हैं और सभी काले हैं। जब एक और पुत्र उत्पन्न हुआ, तो उसे किसी ने देखा नहीं। वस्तुतः वह गौरवर्ण है। किन्तु अन्य सभी पुत्रें को काला देखने के बाद अन्तिम पुत्र के लिए किसी ने 'भूयः सहचार दर्शन' (व्याप्ति) के आधार पर कह दिया कि 'यत्र यत्र मैत्रीतनयत्वं, तत्र तत्र श्यामत्वम्'। मैत्री तनयत्व और श्यामत्व का सहचार अनेकों पूर्व उत्पन्न पुत्रें में दिखाई दे चुका है। अतः अन्तिम पुत्र के लिए कहा गया वाक्य अनुमान होगा कि नहीं। यदि व्याप्ति के आधार पर देखें तो श्यामत्व का अनुमान होगा, परन्तु अन्तिम पुत्र गौरवण है, अतः यह अनुमान दोषयुक्त है। इस कथन से यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि व्याप्ति या स्वाभाविक सम्बन्ध अनुमान में ठीक नहीं है।

ग्रन्थकार का समाधान - यह ठीक है कि 'यत्र यत्र मैत्री तनयत्वं तत्र तत्र श्यामत्वम् अपि' इस प्रकार का सहचार उक्त वाक्य में यत्र--- धूमः तत्र तत्रग्निः के समान ही है। किन्तु मैत्रीतनयत्व और श्यामत्व में स्वाभाविक सम्बन्ध (व्याप्ति) नहीं है, क्योंकि इस भूयोदर्शन रूप सहचार में उपाधि (प्रयोजक) कोई और है। जहाँ स्वाभाविक सम्बन्ध (व्याप्ति) होता है, वहाँ उपाधि का अभाव भी होना चाहिए। जैसे कि 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्रग्निः' इस कथन में कोई उपाधि नहीं है।

वस्तुतः मैत्री के पुत्र में श्यामलता का कारण है - गर्भकाल में मैत्री का अधिक शाक खाना, जिससे उसके पूर्व में उत्पन्न सभी पुत्र श्यामल हो गये। श्यामता का कारण शाकादि - अन्न का परिपाक है। यही कारण उपाधि कहलाता है। मैत्री का पुत्र होना श्यामता का कारण नहीं है। अतः मैत्रीतनयत्व और श्यामत्व में कोई स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है।

जहाँ स्वाभाविक सम्बन्ध होता है, वहाँ कोई उपाधि या कारण नहीं हुआ करता है। अतः भूयः सहचार का दर्शन होने पर भी अनुमान शुद्ध नहीं होगा।

न च धूमाग्न्योः सम्बन्धे कश्चिदुपाधिरस्ति । अस्ति चेत्, योग्योऽयोग्यो वा। अयोग्यस्य शंकितुमशक्यत्वात्, योग्यस्य चानुपलभ्यमानत्वात् । यत्रेपाधिरस्ति तत्रेपलभ्यते । यथाग्नेे - र्धूमसम्बन्धे आर्द्रेन्धनसंयोगः । हिंसात्वस्य चाधर्मसाधनत्वेन सह सम्बन्धे निषिद्धत्वमुपाधिः । मैत्रीतनयत्वस्य च श्यामत्वेन सह सम्बन्धे शाकाद्यन्नपरिणतिभेदः ।

शब्दार्थ -

सम्बन्धे = सम्बन्ध में, योग्योऽयोग्यो वा = योग्य है या अयोग्य है, अनुपलभ्यमानत्वात् = उपलब्धि नहीं हो पा रही है, उपलभ्यते = उपलब्ध होती है, धूमसम्बन्धे = धूम के साथ सम्बन्ध होने में, हिंसात्वस्य = हिंसात्व का, अधर्मसाधनत्वेन सह = अधर्मसाधनत्व के साथ, निषिद्धत्वम् = निषिद्ध होने से, मैत्रीतनयत्वस्य = मैत्री के तनयत्व (पुत्रों का) का।

गद्यार्थ -

धूम और अग्न के सम्बन्ध में कोई उपाधि नहीं है। यदि कहें कि उपाधि है तो (उपाधि प्रत्यक्ष के) योग्य है या (प्रत्यक्ष होने के) अयोग्य है। यदि प्रत्यक्ष के अयोग्य हैं, तो उसकी शंका ही नहीं की जा सकती है (अप्रत्यक्ष है भी या नहीं इसमें क्या प्रमाण है)। यदि प्रत्यक्ष के योग्य है, तो उसकी उपलब्धि नहीं हो रही है। जहाँ उपाधि होती है वहाँ वह उपलब्ध भी होती है। जैसे कि- अग्नि का धूम के साथ सम्बन्ध या आन्द्र-इन्धन का संयोग उपाधि है। हिंसा का अधर्मसाधन के साथ सम्बन्ध होने पर (हिंसा अधर्म का साधन है निषिद्ध होने से इस वाक्य में) निषिद्धत्व उपाधि है। इसी प्रकार मैत्रीतनयत्व का श्यामत्व के साथ सम्बन्ध मानने पर शाक-आदि अन्न का परिपाक विशेष ही उपाधि है।

व्याख्या -

धूम और अग्नि के सम्बन्ध में कोई उपाधि नहीं है। इसको सिद्ध करने के लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि उपाधि दो प्रकार की हो सकती है – 1. योग्य - अर्थात् प्रत्यक्ष के योग्य 2. अयोग्य- अर्थात् प्रत्यक्ष के अयोग्य। यदि धूमाग्नि के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष के अयोग्य उपाधि है तब हम कह सकते हैं कि वह है ही नहीं। अतः विचार के योग्य यह नहीं है। यदि प्रत्यक्ष के योग्य उपाधि है ऐसा मानें तब तो उस उपाधि की पट आदि की भाँति उपलब्धि होनी चाहिए। यदि योग्य की उपलब्धि नहीं हो रही है तो मानना पड़ेगा कि उपाधि का अभाव ही है। अतः धूम और अग्नि के सम्बन्ध में उपाधि नहीं है, यह ग्रन्थकार का आशय है।

5.3.2 व्याप्ति सम्बन्ध

न चेह धूमस्याग्निसाहचर्ये कश्चिदुपाधिरस्ति। यद्यभविष्यत्ततोऽद्रक्ष्यत्, ततो दर्शनाभावान्नास्ति। इति तर्कसहकारिणानुपलम्भसनाथेन। प्रत्यक्षेणैवोपाध्यभावोऽवधार्यते। तथा च उपाध्यभावग्रहण-जनितसंस्कारसहकृतेन साहचर्यग्राहिणा प्रत्यक्षेणैव धूमाग्न्योर्व्याप्तिरवधार्यते। तेन धूमाग्न्योः स्वाभाविक एव सम्बन्धो न त्वौपाधिकः। स्वभाविकश्च सम्बन्धो व्याप्तिः ।

शब्दार्थ -

धूमस्याग्निसाहचर्ये = धूम का अग्नि के साथ साहचर्य में, यद्यभविष्यत् = यदि होती, अद्रक्ष्यत् = दिखलाई पड़ती, तर्कसहकारिणा = तर्क के सहकारी, अनुपलम्भसनाथेन = अनुपलब्धि से युक्त, उपाध्यभावोऽवधार्यते = उपाधि के अभाव का निश्चय किया जाता है, औपाधिकः = औपाधिक सम्बन्ध।

गद्यार्थ -

यहाँ धूम की अग्नि के साथ साहचर्य में कोई उपाधि नहीं है। यदि वह होती तो दिखाई पड़ती। उसके न दिखाई पड़ने से वह नहीं है, इस प्रकार के तर्क से युक्त एवं अनुपलब्धि से पुष्ट प्रत्यक्ष के द्वारा ही उपाधि के अभाव की बुद्धि से उत्पत्र संस्कार से युक्त साहचर्य (धूमाग्नि का) को ग्रहण कराने वाले प्रत्यक्ष के द्वारा धूम और अग्नि की व्याप्ति का निर्णय हो जाता है। इससे सिद्ध है कि धूम और अग्नि का स्वाभाविक सम्बन्ध ही है, उपाधि के कारण नहीं है और स्वाभाविक सम्बन्ध ही व्याप्ति कहलाता है।

व्याख्या -

धूम और अग्नि के सम्बन्ध में कोई उपाधि नहीं है। इसको सिद्ध करने के लिए दो बातें ग्रन्यकार कह रहे हैं - अनुकूल तर्क और अनुपलब्धि। अनुकूल तर्क यह है कि यदि उपाधि होती तो वह उपलब्ध भी होती है। चूँकि धूम और अग्नि के सम्बन्ध में उपाधि की उपलब्धि नहीं है, अतः उपाधि है ही नहीं। प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा उपाधि का ग्रहण नहीं होना ही धूम और अग्नि के सम्बन्ध में अनुपलब्धि है। उपर्युक्त कथन को ही ग्रन्थकार 'तथा च उपाध्यभाव---' द्वारा पुष्ट करते हैं। इसका सार यह है कि धूम और अग्नि के साहचर्य को ग्रहण कराने वाले प्रत्यक्ष से ही दोनों की व्याप्ति का निश्चय हो जाता है। इसमें संस्कार सहायक है।

तदनेन न्यायेन धूमाग्न्योर्व्याप्तौ गृह्यमाणायां, महानसे यद्धूमज्ञानं तत्प्रथमम्। पर्वतादौ पक्षे यद्धूमज्ञानं तद्द्वितीयम्। ततः पूर्वगृहीतां धूमाग्न्योर्व्याप्तिं स्मृत्वा यत्र धूमस्तत्रग्निरिति तत्रैव पर्वते पुनर्धूमं परामृशति। अस्त्यत्र पर्वते वह्निना व्याप्तो धूम इति। तदिदं धूमज्ञानं तृतीयम् ।

एतच्चावश्यमभ्युपेतव्यम्। अन्यथा यत्र धूमस्तत्रग्निरित्येव स्यात् । इह तु कथमग्निना भवितव्यम्। तस्मादिहापि धूमोऽस्ति इति ज्ञानमन्वेषितव्यम् । अयमेव लिंगपरामर्शः। अनुमितिं प्रतिकरणत्वाच्चानुमानम्। तस्मात्, अस्त्यत्र पर्वतेऽग्निरित्यनुमितिज्ञानमुत्पद्यते ।

शब्दार्थ -

गृह्यमाणायाम् = ग्रहण करते समय, महानसे = पाकशाला में, स्मृत्वा = स्मरण कर, परामृशति = परामर्श करता है, अन्वेषितव्यम् = मानना होगा, करणत्वाच्च = करण होने से, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है।

गद्यार्थ -

तब इस प्रकार से धूम और अग्नि की व्याप्ति का (स्वाभाविक सम्बन्ध का) ग्रहण किये जाने पर पाकशाला में जो धूम का ज्ञान होता है वह प्रथम ज्ञान (लिंग का) है। पर्वत आदि पक्ष में जो धम का ज्ञान होता है, यह द्वितीय (लिंग का) ज्ञान है। उसके बाद पूर्व में गृहीत 'जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है', इस व्याप्ति का स्मरण कर पुनः पर्वत में जो धूम का परामर्श करता है कि 'इस पर्वत में अग्नि से व्याप्त धूम है' वह धूमज्ञान तृतीय है।

और इस तृतीय धूम ज्ञान को अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए। नहीं तो 'जहाँ धूम होता है, वहीं अग्नि होती है' यही समान्य ज्ञान होगा। इस पर्वत में अग्नि कैसे (सिद्ध) होगी। अतः अग्नि को सिद्ध करने के लिए पर्वत में भी (अग्नि से व्याप्त) धूम है, यह ज्ञान अवश्य मानना होगा। यही लिंगपरामर्श कहलाता है, क्योंकि यह अनुमिति के प्रति करण है, अतः अनुमान है। इससे ही पर्वत में अग्नि है, इस प्रकार का अनुमिति रूप ज्ञान उत्पन्न होता है।

व्याख्या -

'लित्रपरामर्शः अनुमानम् इस पूर्वोक्त लक्षण का उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार कह रहे हैं कि धूम का तृतीय ज्ञान ही लिंगपरामर्श है। यही लिंगपरामर्श अनुमिति के प्रति करण बनता है। अनुमिति प्रमा का करण होने से यही अनुमान कहलाता है।

तीनों धूमज्ञान का क्रम यह है – 1. उपाधि के अभाव का निश्चय होने के साथ धूम और अग्नि का बार-बार सहचार देखने से दोनों की व्याप्ति का निश्चय होता है, यह प्रथम लिंगज्ञान होता है। 2. व्याप्ति का निश्चय हो जाने के उपरान्त पर्वतादि में जब धूम का दर्शन होता है, तब द्वितीय लिंगज्ञान होता है। 3. इसके बाद व्याप्ति-स्मरणपूर्वक 'वह्निव्याप्यधूमवान् अयं पर्वतः' का जो ज्ञान होता है, वह तीसरा लिंगज्ञान कहलाता है।

ग्रन्थकार के अनुसार तृतीय लिंगज्ञान को अवश्य स्वीकार करना चाहिए। 'एतच्यावश्यम् अभ्युपेतव्यम्, ऐसा कहने में न्यायकन्दलीकार श्रीधर की उक्ति का खण्डन करना अभिप्रेत है। श्रीधर ने कहा कि पृथक्-पृथक् होने वाले लिंग दर्शन तथा व्याप्ति के स्मरण से ही साध्य का ज्ञान हो जायेगा। तृतीय लिंगज्ञान की आवश्यकता नहीं है। श्री केशव मिश्र कहते हैं कि तृतीय लिंगज्ञान विशिष्ट ज्ञान है। यदि इसे न मानें तो 'यत्र धूमस्तत्रग्नि' यह सामान्य प्रतीति ही होगी। 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः' वह्नि से व्याप्त धूमवाला यह पर्वत है, यह विशिष्टज्ञान

नहीं हो पायेगा। अर्थात् पर्वत में अग्नि है, यह ज्ञान नहीं हो सकता। इससे वह्नि आदि साध्य की अनियत देश में प्रतीति होने लगेगी। नियत देश में साध्य की प्रतीति हो, इस हेतु तृतीय लिंगज्ञान को स्वीकार करना आवश्यक है।

ननु कथं प्रथमं महानसे यद्धूमज्ञानं तन्नाग्निमनुमापयति ? सत्यम्! व्याप्तेरगृहीतत्वात्। गृहीतायामेव व्याप्तावनुमित्युदयात्। अथ व्याप्तिनिश्चयोत्तर- कालं महानस एवाग्निरनुमीयताम्।

मैवम्! अग्नेर्दृष्टत्वेन सन्देहस्यानुदयात्। सन्दिग्धश्चार्थोऽनुमीयते । यथोक्तम़ं भाष्यकृता 'नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते', किन्तु सन्दिग्धे।'

अथ पर्वतगतमात्रस्य पुंसो यद्धूमज्ञानं, तत् कथं नाग्निमनुमापयति ? अस्ति चात्रग्निसन्देहः। साधकबाधकप्रमाणाभावेन संशयस्य न्यायप्राप्तत्वात् ।

शब्दार्थ -

महानसे = पाकशाला में, व्याप्तेः = व्याप्ति का, अगृहीतत्वात् = ग्रहण न होने के कारण, व्याप्तिनिश्चयोत्तरकालम् = व्याप्ति के निश्चय के बाद, अनुमीयताम् = अनुमान किया जाये, पर्वतगतमात्रस्य = पर्वत पर पहुँचे हुए मात्र।

गद्यार्थ -

(प्रश्न है) प्रथम बार पाकशाला में जो धूमज्ञान होता है, उसी से अग्नि का अनुमान क्यों नहीं होता है? (उत्तर) आपका प्रश्न ठीक है। परन्तु (पाकशाला में धूम का प्रथम दर्शन होने के समय धूम और वह्नि की) व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता है। व्याप्ति का ग्रहण होने पर ही अनुमिति उत्पन्न होती है।

(प्रश्न) तब व्याप्ति का निश्चय हो जाने के बाद रसोईघर में ही अग्नि का अनुमान हो जाना चाहिए? (उत्तर) ऐसा नहीं हो सकता है, क्योंकि महानस में अग्नि के दिखाई देने से सन्देह की उत्पत्ति नहीं होती है और सन्दिग्ध अर्थ का ही अनुमान किया जाता है। जैसा कि भाष्यकार (वात्स्यायन) ने कहा है - अज्ञात अर्थ और अनिर्णीत अर्थ में अनुमान प्रवृत्त नहीं होता, वह सन्दिग्ध अर्थ में ही प्रवृत्त होता है।

(प्रश्न) फिर पर्वत पर पहुँचे हुए मनुष्य का (व्याप्ति निश्चय के बाद एवं व्याप्ति स्मरण से पूर्व का) जो घूमज्ञान है, वह अग्नि का अनुमान क्यों नहीं कराता? यहाँ पर अग्नि का सन्देह भी है और साधक तथा बाधक प्रमाणों का अभाव रहने से सन्देह न्यायतः प्राप्त भी है।

सत्यम्! अगृहीतव्याप्तेरिव गृहीतविस्मृतव्याप्तेरपि पुंसोऽनुमानानुदयेन व्याप्तिस्मृतेर- प्यनुमितिहेतुत्वात्। धूमदर्शनाच्चोद्बुद्धसंस्कारो व्याप्तिं स्मरति। यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानस इति। तेन धूमदर्शने जाते व्याप्तिस्मृतौ भूतायां यद्धूमज्ञानं तत् तृतीयं धूमवांश्चायम् इति। तदेवाग्निमनुमापयति नान्यत्। तदेवानुमानम्। स एव लिंगपरामर्शः। तेन व्यवस्थितमेतद् - लिंगपरामर्शोऽनुमानमिति।

शब्दार्थ

अगृहीतव्याप्तेः = व्याप्ति का ग्रहण नहीं होने, गृहीतविस्मृतव्याप्तेरपि = व्याप्ति का ग्रहण कर भूल जाने वाले, अनुमानानुदयेन = अनुमान की उत्पत्ति नहीं होती है, व्याप्तिस्मृतेः अपि = व्याप्ति का स्मरण भी, अनुमितिहेतुत्वात् = अनुमिति के प्रति हेतु, धूमदर्शनात् = धूम का दर्शन होने से।

गद्यार्थ -

(उत्तर) (आपका प्रश्न) ठीक है। किन्तु व्याप्ति का ग्रहण न करने वाले पुरुष के समान, व्याप्ति का ग्रहण करके भूल जाने वाले पुरुष को भी अनुमान का उदय नहीं होता (अनुमिति नहीं होती)। इसलिए व्याप्ति का स्मरण होना भी अनुमिति के प्रति हेतु है। (पर्वत में) धूम के देखने से (पूर्व में गृहीत व्याप्ति के) संस्कार के उद्‌बुद्ध हो जाने से व्यक्ति व्याप्ति का स्मरण करता है-जो जो धूमवान् है वह वह अग्निमान् है, जैसे रसोईघर। इससे पर्वत में धूम का (द्वितीय) दर्शन होने पर व्याप्ति का स्मरण हो जाने पर जो धूमज्ञान होता है, वह तीसरा ज्ञान (यह पर्वत घूमवान् है)। इस प्रकार का तृतीय लिंगज्ञान है। वही अग्नि का अनुमान कराता है अन्य नहीं। उसी को अनुमान कहते हैं। उसी तृतीय लिंगज्ञान को परामर्श कहते हैं। इस विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि लिंगपरामर्श ही अनुमान है।

व्याख्या -

ग्रन्थकार ने 'लिंगपरामर्शोऽनुमानम्' का उपसंहार करते हुए, लिंग के तृतीय ज्ञान को परामर्श माना है। यही अनुमान है, अनुमिति ज्ञान में सहायक है। पाकशाला में व्याप्ति ग्रहण से पूर्व हुआ धूम का ज्ञान (प्रथम लिंगज्ञान) अनुमान कराने में सहायक नहीं है, क्योंकि उस समय व्याप्ति का निर्णय नहीं होता है। व्याप्ति निर्णय के उपरान्त महानस में जो धूम ज्ञान होता है, वह भी अधिक अनुमान नहीं कराता, क्योंकि वहाँ अग्नि का सन्देह ही नहीं है। साध्य के सन्देह में अनुमान होता है।

व्यातिनिश्चय के बाद पर्वत में धूम दर्शन होने पर भी अग्नि का अनुमान नहीं होता, क्योंकि द्वितीय लिंगदर्शन के समय व्याप्ति का स्मरण नहीं हुआ है। व्याप्ति का स्मरण भी अनुमिति में कारण होता है। व्याप्तिस्मरण के बाद पर्वत में अभिव्याप्य धूमवान् का जब ज्ञान होता है, तब वह तृतीय लिंगज्ञान कहलाता है। यही अनुमिति के प्रति करण होने से अनुमान है।

अनुमिति प्रक्रिया के चार आवश्यक अंग हैं – 1. व्याप्ति का ग्रहण, 2. साध्य का सन्देह, 3. व्याप्ति का स्मरण और 4. हेतु का पक्ष में रहना। बाद के आचार्यों ने परामर्श का लक्षण किया है - 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः' व्याप्ति शब्द व्याप्ति के ग्रहण एवं व्याप्ति के स्मरण इन दोनों अर्थों को कहता है।

'सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः' साध्य का जहाँ सन्देह हो, वह पक्ष कहलाता है। 'पक्षस्य भावः पक्षता' पक्ष का भाव पक्षता है। 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस अनुमानवाक्य में पक्ष 'पर्वत' है, साध्य 'वह्निमता' है और हेतु 'धूम' है। नैयायिकों के मत में अनुमान के प्रत्येक स्थल पर अनिवार्य रूप से परामर्श होता है। यह परामर्श एक प्रकार का विशिष्ट ज्ञान है, जो व्याप्तिज्ञान एवं पक्षधर्मता ज्ञान के विशेषणविशेष्यभाव संसर्ग से उत्पन्न होता है।

स्वयं आकलन कीजिए-

अभ्यास प्रश्न -1

1. अनुमान प्रमाण किसे कहते हैं?
2. लिंग क्या है?
3. परामर्श किसे कहते हैं?
4. धूम और अग्नि का कैसा सम्बन्ध है?

5. स्वाभाविक सम्बन्ध क्या कहलाता है?
6. प्रथम ज्ञान किसे कहते हैं?
7. अनुमिति कब उत्पन्न होती है?
8. तीसरा ज्ञान कहाँ होता है?

5.4 अनुमान के भेद,

न्यायशास्त्र में अनुमान के दो भेद बताए गए हैं, जिनका वर्णन निम्नलिखित प्रकार से है -

5.4.1 स्वार्थानुमान

तच्चानुमानं द्विविधिम्। स्वार्थं परार्थं चेति। स्वार्थं स्वार्थप्रतिपत्तिहेतुः। तथा हि स्वयमेव महानसादौ विशिष्टेन प्रत्यक्षेण धूमाग्न्योर्व्याप्तिं गृहीत्वापर्वतसमीपं गतस्तद्गते चाग्नौ सन्दिहानः पर्वतवर्तिनीमविच्छिन्नमूलामभ्रंलिहां धूमलेखां पश्यन् धूमदर्शनाच्चोद्बुद्धसंस्कारो व्याप्तिं स्मरति। ततोऽत्रपि धूमोऽस्तीति प्रतिपद्यते। तस्मादत्र पर्वतेऽग्निरप्यस्तीति स्वयमेव प्रतिपद्यते । तत्स्वार्थानुमानम् ।

शब्दार्थ -

स्वार्थप्रतिपत्तिहेतुः = अपने लिए ज्ञान का हेतु होता है, महानसादौ = पाकशाला आदि में, विशिष्टेन प्रत्यक्षेण= विशिष्ट प्रत्यक्ष से व्याप्तिं = व्याप्ति को, गृहीत्वा = ग्रहण करके, तद्गते = उसमें स्थित, सन्दिहानः = सन्देह करता हुआ, पर्वतवर्तिनीम् = पवर्त पर स्थित।

गद्यार्थ -

वह अनुमान दो प्रकार का है - स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। अपने ज्ञान का हेतु जो अनुमान है, वह स्वार्थानुमान कहलाता है। जैसे कि कोई व्यक्ति स्वयं ही महानस आदि में विशिष्ट प्रत्यक्ष से धूम और अग्नि के बार-बार दर्शन से धूम और अग्नि की व्याप्ति का ग्रहण करके पर्वत के समीप गया, पर्वत में स्थित अग्नि में सन्देह करता हुआ, पर्वत में विद्यमान धूमरेखा को देखता हुआ और धूम के दर्शन से (पूर्व में गृहीत व्याप्ति के विषय में) उद्बुद्धसंस्कार वाला होकर व्याप्ति का स्मरण करता है कि जहाँ धूम होता है, वहाँ अग्नि होती है। तदनन्तर यहाँ पर्वत में भी धूम है यह परामर्श करता है। उस लिंग के परामर्श से पर्वत में अग्नि है, ऐसा स्वयं ही जान लेता है। वही स्वार्थानुमान है।

व्याख्या -

उपर्युक्त गद्य में स्वार्थानुमान का निरूपण किया गया है। ग्रन्थकार ने 'स्वार्थ स्वप्रतिपत्तिहेतुः' कहा है। इसका आशय है कि अनुमान करने वाले व्यक्ति को जिस अनुमान से स्वयं अनुमिति हो जाये, वह स्वार्थानुमान है। जैसे कि मनुष्य पाकशाला में धूम और अग्नि को एक साथ देखकर निश्चय करता है कि जहाँ धूम होता है, वहाँ अग्नि भी होती है। यही उसकी व्याप्ति बनती है। बाद में कभी पर्वत पर जाता है, वहाँ धूम को देखता है तो यहां अग्नि है या नहीं, यह सन्देह करता है। किन्तु धूम को देखकर 'यत्र धूमः तत्र अग्निः' इस व्याति का स्मरण उसे

होता है। यही उसका उद्‌बुद्ध संस्कार है। इससे वह 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः' वह्नि से व्याप्त धूम वाला पर्वत है, यह अनुमान स्वयं कर लेता है अर्थात् पर्वत में अग्नि है। यह अनुमिति जो उसे होती है, वही स्वार्थानुमान है।

इस स्वार्थानुमान में विशिष्टप्रत्यक्ष आवश्यक है। विशिष्ट प्रत्यक्ष क्या है? जिस प्रत्यक्ष में उपाधि के अभाव का संस्कार तथा भूयोदर्शन का संस्कार सहायक होता है, वह साहचर्य का ग्राहक प्रत्यक्ष विशिष्ट प्रत्यक्ष होता है। पुनः अविच्छिन्न मूला धूमरेखा का दर्शन भी सहायक है।

5.4.2 परार्थानुमान

यत्तु कश्चित् स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं बोधयितुं पञ्चावयवमनुमानवाक्यं प्रयुङ्क्ते तत् परार्थानुमानम्। तद्यथा पर्वतोऽग्निमान्, धूमवत्वात्, यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान्, यथा महानसः, तथा चायं, तस्मात्तथा इति ।

अनेन वाक्येन प्रतिज्ञादिमता प्रतिपादितात् पञ्चरूपोपपन्नाल्लिङ्गात् परोऽप्यग्निं प्रतिपद्यते, तेनैतत् परार्थानुमानम्।

शब्दार्थ -

अनुमाय = अनुमान करके, बोधयितुम् = समझाने के लिए, पञ्चावयवम् = पाँच अवयवों वाले, प्रयुक्ते = प्रयोग करता है, तस्मात्तथा इति = इसलिए यह भी वैसा ही, प्रतिपादितात् = प्रतिपादित किए गए, लिंगात् - हेतु से, परार्थानुमानम् = परार्थानुमान।

गद्यार्थ -

और जो कोई व्यक्ति स्वयं धूमरूप हेतु के देखने से अग्नि का अनुमान करके अन्य व्यक्ति को उस अग्नि का बोध कराने के लिए पाँच अवयवों वाले अनुमानवाक्य का प्रयोग करता है तो वह परार्थानुमान कहलाता है। जैसे कि 1. यह पर्वत अग्नि से युक्त है (प्रतिज्ञा), 2. धूम से युक्त होने के कारण (हेतु), 3. जो जो धूमयुक्त होता है, वह वह अग्नि से युक्त होता है, जैसे कि- पाकशाला (उदाहरण), 4. यह पर्वत भी उसी प्रकार धूमवान् है (उपनय), 5- अतः यह पर्वत भी अग्नियुक्त है (निगमन)।

इस प्रतिज्ञा आदि से युक्त वाक्य के द्वारा प्रतिपादित (1. प्रतिज्ञा, 2. हेतु, 3. उदाहरण, 4. उपनय, 5. निगमन) पाँच रूपों से (पक्षसत्वादि से) युक्त हेतु से अन्य व्यक्ति भी अग्नि का ज्ञान कर लेता है। अतः यह परार्थानुमान है।

व्याख्या -

परार्थानुमान में पञ्चावयव वाक्यों (1. प्रतिज्ञा, 2. हेतु, 3. उदाहरण, 4.. उपनय, 5. निगमन) का प्रयोग आवश्यक है। परार्थानुमान में लिंग (हेतु) का पाँच रूपों से युक्त होना भी आवश्यक है। लिंग के पाँच रूप हैं - पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व, और असत्प्रतिपक्षत्व। वैशेषिक दर्शन में प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन, अनुसन्धान एवं प्रत्याम्नाय, ये पाँचों अवयवों के नाम हैं। कुछ ने अवयवों की संख्या दस भी मानी है। वात्स्यायन से पूर्ववर्ती आचार्य दस अवयवों का नाम बताते हैं। वे हैं – 1. जिज्ञासा, 2. संशय, 3. शक्यप्राप्ति, 4. प्रयोजन, 5. संशयव्युदास तथा 6. प्रतिज्ञा, 7. हेतु, 8. उदाहरण, 9. उपनय एवं 10. निगमन ये सब कुल 10 अवयव हैं।

न्यायकोश के अनुसार किन्हीं के मत में 1. हेतु, 2. उदाहरण, 3. उपनय ये तीन ही अवयव माने गये हैं। न्यायकोश में ही बौद्धों के मत में उदाहरण और उपनय ये दो ही अवयव माने गए हैं। साधारण रूप से बौद्धन्याय

हेतु एवं दृष्टान्त इन दो अवयवों को ही मानता है। आचार्य धर्मकीर्ति दृष्टान्त का अन्तर्भाव हेतु में करके केवल हेतु को ही अवयव मानते हैं।

स्वयं आकलन कीजिए-

अभ्यास प्रश्न -2

1. अनुमान कितने प्रकार का है?
2. सवार्थानुमान किसे कहते हैं?
3. परार्थानुमान के कितने अवयव वाक्य हैं?
4. परार्थानुमान अवयव वाक्यों के नाम क्या-क्या हैं?
5. केवलान्वयी हेतु किसे कहते हैं?
6. केवलव्यतिरेकी हेतु किसे कहते हैं?

5.5 सारांश

इस इकाई में अनुमान प्रमाण का लक्षण बताकर उसके दो भेदों के लक्षणों का उदाहरण सहित वर्णन किया गया है। इसमें बताया गया है कि किस तरह से प्रत्यक्ष प्रमाण के न होने पर स्वार्थानुमान और परार्थानुमान द्वारा मनुष्य को ज्ञान की प्राप्ति होती है।

5.6 कठिन शब्दावली

अनुमीयते = अनुमिति की जाती है, महानसादौ = पाकशाला आदि में, आर्द्रन्धनसंयोगः = गीली लकड़ी का संयोग, वह्निम् = अग्नि को, अभ्युपेतव्यम् = अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए, अनुमित्युदयात् = अनुमिति की उत्पत्ति होने के कारण, साधकबाधकप्रमाणाभावेन = साधक और बाधक प्रमाणों का अभाव रहने से, उद्बुद्धसंस्कारः = जागृत संस्कार वाला, पञ्चरूपोपपन्नात् = पाँच रूपों से युक्त।

5.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर -

अभ्यास प्रश्न - 1

1. लिंग परामर्श को
2. व्याप्ति के बल से अर्थ का बोध कराने वाला
3. धूमरूप लिंग के तीसरे ज्ञान को
4. स्वाभाविक
5. व्याप्ति
6. महानस (पाकशाला) में धूमज्ञान
7. व्याप्ति का ग्रहण होने पर
8. पर्वत में

अभ्यास प्रश्न - 2

1. दो - स्वार्थानुमान और परार्थानुमान
2. जिस अनुमान से स्वयं अनुमिति हो

3. पाँच अवयव वाले
4. प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन
5. जिस हेतु में केवल अन्वय से व्याप्ति हो
6. जिस हेतु में केवल व्यतिरेक से व्याप्ति हो

5.8 सहायक ग्रन्थ

1. तर्कभाषा, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणि, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी-221001, संस्करण-12, 2013.
2. तर्कभाषा, टीकाकार, पण्डित श्रीरुद्रधर झा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-221001, संस्करण-7, 2021.
3. तर्कभाषा, व्याख्याकार डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-221001, संस्करण-2013.
4. तर्कभाषा, व्याख्याकार एवं सम्पादक डॉ. अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर-302001, संस्करण-2021.
5. तर्कभाषा, व्याख्याकार श्रीबदरीनाथशुक्ल, मोतीलाल बनारसी दास, चौक वाराणसी, प्रथम संस्करण-1968.

5.9 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न -

1. अनुमान प्रमाण का लक्षण बतलाकर उसके भेदों की उदाहरण सहित व्याख्या करें।
2. व्याप्ति का लक्षण बताकर उसके भेदों का विवेचन कीजिए।
3. अनुमान के तीन हेतुओं की उदाहरण सहित व्याख्या करें।
4. परार्थानुमान के पाँच अवयव वाक्यों का विवेचन करें।

इकाई – छः

त्रिविध हेतु – अन्वयव्यतिरेकी, केवलव्यतिरेकी और केवलान्वयी

संरचना

6.1 प्रस्तावना
6.2 उद्देश्य
6.3 त्रिविध हेतु
  6.3.1 अन्वयव्यतिरेकी हेतु
    6.3.1.1 व्यतिरेकव्याप्ति क्रम
  6.3.2 केवलव्यतिरेकी हेतु
  6.3.3 केवलान्वयी हेतु
  - स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न - 1
6.4 अन्वयव्याप्ति के भेद
  - स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न - 2
6.5 सारांश
6.6 कठिन शब्दावली
6.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर
6.8 सहायक ग्रन्थ
6.9 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियो, इस इकाई में अनुमान प्रमाण के विभिन्न अंगों की चर्चा की गई है। इसमें व्यतिरेक व्याप्ति का क्रम बताया गया है। यहाँ तीन प्रकार के हेतुओं की चर्चा की है। ये हेतु हैं – केवलव्यतिरेकी, केवलान्वयी और अन्वयव्यतिरेकी। इनकी जानकारी के बिना अनुमान प्रमाण का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता।

6.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से विद्यार्थियों को निम्नलिखित जानकारी उपलब्ध होगी –

- व्यतिरेकव्याप्ति,
- अन्वयव्यतिरेकी,
- केवलान्वयी
- केवलव्यतिरेकी

6.3 त्रिविध हेतु

अनुमान प्रमाण की सिद्धि के लिए तर्कभाषाकार ने तीन प्रकार के हेतु बताए हैं जिनके आधार पर अनुमान प्रमाण से किसी पदार्थ का ज्ञान होता है। इनका वर्णन निम्नलिखित प्रकार से है -

6.3.1 अन्वयव्यतिरेकी हेतु

अत्र पर्वतस्याग्निमत्वं साध्यं, धूमवत्त्वं हेतुः। स चान्वयव्यतिरेकी, अन्ययेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमत्वात्। तथा हि यत्र यत्र धूमवत्वं तत्र तत्रग्मिमत्त्वं यथा महानसे इत्यन्वयव्याप्तिः। महानसे धूमाग्न्योरन्वयसद्भावात्। एवं यत्रग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा महाह्रदे इतीयं व्यतिरेकव्याप्तिः। महाह्रदे धूमाग्न्योर्व्यतिरेकस्य सद्भावदर्शनात् ।

शब्दार्थ -

पर्वतस्य = पर्वत का, अग्निमत्त्वम् = अग्नियुक्तता, धूमवत्त्वम् = धूमयुक्तता, व्यतिरेकेण = व्यतिरेक से, इत्यन्वयव्याप्तिः = यह अन्वय से व्याप्ति (का उदाहरण) है, महानसे = पाकशाला में, महाह्रदे = बड़े सरोवर में, सद्भावदर्शनात् = सद्भाव दर्शन से।

गद्यार्थ -

यहाँ पर्वत का अग्नियुक्त होना साध्य है तथा धूमयुक्त होना हेतु है अर्थात् अग्नि साध्य है तथा धूम हेतु है। यह हेतु अन्वय तथा व्यतिरेक द्वारा व्याप्ति वाला होने से अन्वयव्यतिरेकी हेतु है। जैसे कि 'जहाँ-जहाँ धूमवत्त्व है, वहाँ-वहाँ अग्निमत्त्व है। जैसे रसोईघर में'। यह अन्वयव्याप्ति का उदाहरण है, क्योंकि रसोईघर में धूम एवं वह्नि का सद्भाव (अस्तित्व दिखाई पड़ता) है। इसी प्रकार 'जहाँ अग्नि नहीं है, वहाँ धूम भी नहीं है, जैसे कि बड़े सरोवर में' यह व्यतिरेकव्याप्ति का उदाहरण है, क्योंकि सरोवर में धूम और अग्नि के अभाव का होना देखा जाता है।

व्याख्या -

अन्वयव्याप्ति एवं व्यतिरेकव्याप्ति ही हेतु के तीन प्रकार का होने में आधार बनते हैं। जहाँ पर हेतु अन्वय एवं व्यतिरेक दोनों प्रकार से व्याप्ति वाला होकर साध्य की सिद्धि करता है, वहाँ हेतु अन्वयव्यतिरेकी कहलाता है। जैसे कि पर्वतोऽग्निमान् धूमवत्त्वात्। यहाँ तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम् की स्थिति होती है। यह अन्वय का लक्षण है तथा तदभावे तदभावः की स्थिति भी होती है। यह व्यतिरेक का लक्षण है।

जिस हेतु में केवल अन्वय से व्याप्ति होती है, वह हेतु केवलान्वयी कहलाता है। जैसे घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्। प्रमेय हेतु केवलान्वयी है, क्योंकि अभिधेयत्व तथा प्रमेयत्व सभी पदार्थों में है। उसका व्यतिरेक अभाव कहीं नहीं होता है। अतः यहाँ व्यतिरेकव्याप्ति सम्भव नहीं है।

जिस हेतु में केवल व्यतिरेक से व्याप्ति बनती है, वह हेतु केवलव्यतिरेकी हेतु कहलाता है, जैसे - पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात्। यदितरेभ्यो न भिद्यते न तद् गन्धवत्, यथा जलम्। गन्धवती होने से पृथिवी अन्य जलादिकों से भिन्न है, जो अन्य से भिन्न नहीं है, वह गन्धयुक्त भी नहीं है, जैसे कि जल। यहाँ पृथिवी अन्य पदार्थों के समान गन्धहीन नहीं है। इसलिए पृथिवी अन्य पदार्थों से भिन्न है, इस प्रकार की अन्वयव्याप्ति बन ही नहीं सकती है, क्योंकि पृथवीमात्र यहाँ पक्ष है। अतः यह केवलव्यतिरेकी हेतु है।

6.3.1.1 व्यतिरेकव्याप्ति क्रम

व्यतिरेकव्याप्तेस्त्वयं क्रमः। अन्वयव्याप्तौ यद्व्याप्यं तदभावोऽत्र व्यापकः। यच्च व्यापकं तदभावोऽत्र व्याप्य इति। तदुक्तम् -

व्याप्यव्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते ।
तयोरभावयोस्तस्माद् विपरीतः प्रतीयते ।।
अन्वये साधनं व्याप्यं साध्यं व्यापकमिष्यते ।
तदभावोऽन्यथा व्याप्यो व्यापकः साधनात्ययः ।।
व्याप्यस्य वचनं पूर्वं व्यापकस्य ततः परम् ।
एवं परीक्षिता व्याप्तिः स्फुटीभवति तत्त्वतः ।।

शब्दार्थ -

तदभावः = उसका (व्यापक का) अभाव, भावयोः = दो भावपदार्थों का, विपरीतः = विपरीत, अन्वये = अन्वयव्याप्ति में, व्याप्यस्य = व्याप्य का, व्यापकस्य = व्यापक का, परीक्षिता = परीक्षा की गई, व्याप्तिः = साहचर्य नियम, स्फुटीभवति = स्पष्ट हो जाती है।

गद्यार्थ -

व्यतिरेकव्याप्ति के प्रयोग का यह क्रम है - अन्वयव्याप्ति में जो व्याप्य होता है, उसका अभाव व्यतिरेकव्याप्ति में व्यापक हो जाता है और अन्वयव्याप्ति में जो व्यापक होता है, उसका अभाव व्यतिरेकव्याप्ति में व्याप्य हो जाता है। श्लोकवार्तिक (मीमांसा का ग्रन्थ) में इसको इस प्रकार बताया है -

1. दो भावपदार्थों का जैसा व्याप्यव्यापकभाव अन्वयव्याप्ति में माना जाता है (धूम = साधन, व्याप्य एवं वह्नि= साध्य, व्यापक माना जाता है) व्यतिरेकव्याप्ति में उन दोनों के अभावों का उससे विपरीत व्याप्यव्यापकभाव माना जाता है।

2. अन्वयव्याप्ति में साधन हेतु धूमादि, व्याप्य माना जाता है और साध्य (विõ आदि) व्यापक माना जाता है। व्यतिरेकव्याप्ति में उससे भिन्न अर्थात् साध्य का अभाव व्याप्य माना जाता है तथा साधन का अभाव धूमाभावादि व्यापक माना जाता है।

3. अनुमान के प्रयोग में व्याप्य का कथन पहले किया जाता है, उसके बाद व्यापक का कथन होता है। इस प्रकार परीक्षा की गई व्याप्ति वास्तविक रूप से स्पष्ट होती है।

व्याख्या -

अनुमान प्रयोग में लिंग अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी एवं केवलव्यतिरेकी भेद से तीन प्रकार का होता है। अनुमान प्रक्रिया में अन्वय से व्याप्ति को दिखाने हेतु साधन (लिंग) को व्याप्य माना जाता है और साध्य को व्यापक माना जाता है। साधन का कथन पूर्व में होता है तथा साध्य का बाद में। उदाहरणार्थ 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात् (अनुमानवाक्य)। यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र अग्निः (अन्वय से व्याप्ति)।' यहाँ धूम साधन है तथा अग्नि साध्य है।

व्याप्य का लक्षण है - 'न्यूनदेशवृत्तित्वम् व्याप्यत्वम्' अर्थात् न्यून देश में रहने वाला व्याप्य होता है। जैसे धूम। जहाँ-जहाँ धूम होगा, वहाँ अग्नि होगी, परन्तु जहाँ अग्नि होगी, वहाँ धूम नहीं भी होता है। जैसे अयोगोलक अर्थात् तप्त लौहपिण्ड। यहाँ आग तो है, किन्तु धूम नहीं है। अतः धूमरूप हेतु कम देश में है।

व्यापक का लक्षण है - 'अधिकदेशवृत्तित्वम् व्यापकत्वम्' अर्थात् अधिक देश में रहने वाला व्यापक होता है। उपर्युक्त उदाहरण में अग्नि व्यापक है। व्यतिरेकव्याप्ति में यह क्रम विपरीत हो जाता है। साधन का अभाव

व्यापक हो जाता है और साध्य का अभाव व्याप्य हो जाता है। व्यतिरेक व्याप्ति का उदाहरण होगा - 'यत्र यत्र वह्नेरभावः तत्र तत्र धूमाभावः। अथवा - यत्र यत्र वह्निर्नास्ति तत्र तत्र धूमोऽपि नास्ति ।

उपर्युक्त को ध्यान में रखते हुए 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्' इस अनुमान प्रक्रिया में व्याप्तिप्रदर्शन क्रम इस प्रकार होगा -

1. यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्नि यथा महानसः (अन्वयव्याप्ति)।
2. यत्र यत्र वह्न्यभावस्तत्र तत्र धूमाभावः यथा महाह्रदः (व्यतिरेकव्याप्ति)

तदेवं धूमवत्त्वे हेतावन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिरस्ति। यत्तु वाक्ये केवलमन्वय- व्याप्तेरेव प्रदर्शनं तदेकेनापि चरितार्थत्वात्। तत्रप्यन्वयस्यावक्रत्वात् प्रदर्शनम्। ऋजुमार्गेण सिद्ध्यतोऽर्थस्य वक्रेण साधनायोगात्। न तु व्यतिरेकव्याप्तेरभावात्।

तदेवं धूमवत्त्वं हेतुरन्वयव्यतिरेकी। एवमन्येऽप्यनित्यत्वादौ साध्ये कृतकत्वादयो हेतवोऽन्वयव्यतिरेकिणो द्रष्टव्याः। यथा शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् घटवत्। यत्र कृतकत्वं तत्रनित्यत्वम्। यत्रनित्यत्वाभावस्तत्र कृतकत्वाभावो यथा गगने ।

शब्दार्थ -

अन्वयव्याप्तेरेव = अन्वयव्याप्ति का ही, चरितार्थत्वात् = चरितार्थ हो जाता है, सिद्ध्यतः = सिद्ध हो रहे अर्थ का, बक्रेण = टेढे (कठिन) मार्ग से, साधनायोगात् = सिद्ध करना अनुचित (अयुक्त) है।

गद्यार्थ -

इस प्रकार धूमवत्व हेतु में अन्वय और व्यतिरेक से व्याप्ति है। जो अनुमानवाक्य में केवल अन्वयव्याप्ति (यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः) का ही प्रदर्शन किया गया है, वह इसलिए है कि एक व्याप्ति से ही निर्वाह हो रहा है। उन दोनों व्याप्तियों में भी अन्वयव्याप्ति का प्रदर्शन सरल होने के कारण किया गया है। सरल मार्ग से सिद्ध हो रहे अर्थ (प्रयोजन) को कुटिल मार्ग से सिद्ध करना अनुचित माना जाता है। अतः व्यतिरेकव्याप्ति का प्रदर्शन नहीं किया गया है, इस में उसका नहीं होना कारण नहीं है।

तो इस प्रकार धूमवत्य नामक हेतु अन्वयव्यतिरेकी है। इसी प्रकार अन्य अनित्यत्व आदि के साध्य रहने पर 'कृतकत्व' आदि हेतुओं की अन्वयव्यतिरेकी जानना चाहिए। उदाहरण के तौर पर शब्द अनित्य है, कृतक (कार्य) होने से, घट के समान। जहाँ कृतकत्व होता है, वहाँ अनित्यत्व भी होता है (अन्वयव्याप्ति), जहाँ अनित्यत्व का अभाव होता है, वहीं कार्यत्व का भी अभाव होता है, जैसे कि गगन में (अनित्यत्व नहीं होने से कार्यत्व भी नहीं है)।

6.3.2 केवलव्यतिरेकी हेतु

कश्चिद्धेतुः केवलव्यतिरेकी। तद्यथा, सात्मकत्वे साध्ये प्राणादिमत्त्वं हेतुः। यथा जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्त्वात्। यत् सात्मकं न भवति तत् प्राणादिमन्न भवति, यथा- घटः। न चेदं जीवच्छरीरं तथा तस्मान्न तथेति। अत्र हि जीवच्छरीरस्य सात्मकत्वं साध्यं, प्राणादिमत्त्वं हेतुः। स च केवलव्यतिरेकी, अन्वयव्याप्तेरभावात्। तथा हि यत् प्राणादिमत् तत् सात्मकं, यथा अमुक इति दृष्टान्तो नास्ति । जीवच्छरीरं सर्वं पक्ष एव ।

शब्दार्थ -

सात्मकत्वे = आत्मा से युक्त होना, साध्ये = साध्य होने पर, प्राणादिमत्त्वम् = प्राणादि से युक्त होना, जीवच्छरीरम् = जीवित शरीर, अन्वयव्याप्तेः अभावात् = अन्वयव्याप्ति का अभाव होने के कारण।

गद्यार्थ -

कोई हेतु केवलव्यतिरेकी ही हुआ करता है। जैसे कि सात्मकत्व (आत्मा से युक्त) के साध्य रहने पर प्राणादिमत्त्व (प्राणादि से युक्त) हेतु है। उदाहरण 'जीवित शरीर सात्मक होता है, प्राणादिमान् होने से। जो सात्मक नहीं होता है वह प्राणादिमत् भी नहीं होता है, जैसे कि घट। और यह जीवित शरीर प्राणादिमत्त्व के अभाव वाला नहीं है। अतः यह सात्मकत्व का अभाव वाला भी नहीं है। इस अनुमान में जीवित शरीर की 'सात्मकता' साध्य है, और 'प्राणादिमत्ता' हेतु है। यह हेतु केवलव्यतिरेकी है, क्योंकि यहाँ अन्वयव्याप्ति का सर्वथा अभाव है। जो प्राणादिमत् है, वह सात्मक है, जैसे - वह, यह दृष्टान्त नहीं बनता है, क्योंकि सभी जीवित शरीर पक्ष ही बन जाता है।

व्याख्या -

केवलव्यतिरेकी हेतु को प्रदर्शित करते हुए ग्रन्थकार ने कहा कि कुछ हेतु केवलव्यतिरेकी ही होते हैं। वहाँ व्यतिरेकव्याप्ति ही हो सकती है। अन्वयव्याप्ति वहाँ होती ही नहीं। इसका उदाहरण प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार ने कहा- जीवत् शरीरम् सात्मकम् यह प्रतिज्ञा वाक्य है, इसमें 'सात्मक' साध्य है। प्राणादिमत्त्वात् यह हेतु है। 'यत् सात्मकं न भवत्ति तत् प्राणादिमत् न भवति यथा घटः यह उदाहरण है। 'नचेदं जीवच्छरीरम् तथा' यह उपनय है। 'तस्मान्न तथा' - यह निगमन है।

चार्वाक आदि देह के अतिरिक्त आत्मा को नहीं मानते। उनके लिए आत्मा की सिद्धि हेतु यह अनुमानवाक्य प्रयुक्त हुआ है। जीवित शरीर में आत्मा रहती है, इसे सिद्ध करना है। इस हेतु पञ्चावयव वाक्य के द्वारा उपर्युक्त को प्रदर्शित करते हुए प्राणादिमत्त्व को हेतु माना है। यह हेतु केवल व्यतिरेकदृष्टान्त वाला है।

इस हेतु में अन्वयव्याप्ति बनती ही नहीं। व्यतिरेकव्याप्ति से बताया गया है कि 'यद सात्मकं न भवति तत् प्राणादिमत् न भवति।' यथा 'घटः' अर्थात् जहाँ सात्मकता का अभाव होता है, वहाँ प्राणादिमत्ता का भी अभाव होता है। चूँकि जीवित शरीर में सात्मकता अभाव नहीं है, अतः वह प्राणादिमत्ता का अभाववाला भी नहीं है, अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, उन्मेष, निमेषादि युक्त जीवित शरीर है। अतः उसमें आत्मा भी है, यह सिद्ध होता है। इस सात्मकता को सिद्ध करने के लिए हेतु प्राणादिमत्त्व केवल व्यतिरेकव्याप्ति से प्रदर्शित किया जा सकता है। अन्वयव्याप्ति से नहीं।

यदि हम जीवित शरीर में आत्मा की सिद्धि अन्वयव्याप्ति से करना चाहें तो वह नहीं होगी, क्योंकि उसका उदाहरण ही नहीं मिलेगा। उदाहरण के लिए जीवित शरीर मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप आदि के शरीर हो सकते हैं। किन्तु उदाहरण इसलिए नहीं बन सकते कि ये सभी पक्ष ही हैं। उदाहरण पक्ष होता है, जैसे पर्वतो वह्निमान् धूमात् यथा महानसम्। जहाँ साध्य का होना निश्चित हो, यह उदाहरण होता है। ऐसा कोई उदाहरण नहीं है, जहाँ प्राणादिमत्व के साथ सात्मकत्व जात हो, ये दोनों धर्म जीवितशरीर के ही हैं। अतः जीवित शरीर दृष्टान्त या उदाहरण हो सकता था, किन्तु उपर्युक्त अनुमान में सभी जीवित शरीर पक्ष के रूप में उपयुक्त हो गये, अतः उनको दृष्टान्त नहीं बनाया जा सकता है, यह भाव है।

लक्षणमपि केवलव्यतिरेकी हेतुः। यथा पृथिवीलक्षणं गन्धवत्त्वम् । विवादपर्द पृथिवीति व्यवहर्तव्यम्, गन्धवत्त्वात्। यन्न पृथिवीति व्यवि"यते तन्न गन्धवत्, यथापः ।

प्रमाणलक्षणं वा। यथा प्रमाकरणत्वम् । तथाहि, प्रत्यक्षादिकं प्रमाणमिति व्यवहर्तव्यं प्रमाकरणत्वात्, यत्प्रमाणमिति न व्यवह्रियते तन्न प्रमाकरणं, यथा प्रत्यक्षाभासादि। न पुनस्तथेदं, तस्मान्न तथेति । न पुनरत्र यत्प्रमाकरणं तत्प्रमाणमिति व्यवहर्तव्यं, यथाऽमुक इत्यन्वयदृष्टान्तोऽस्ति, प्रमाणमात्रस्य पक्षीकरणत्वात् ।

अत्र च व्यवहारः साध्यो न तु प्रमाणत्वं तस्य प्रमाकरणत्वाद्धेतोरभेदेन साध्याभेददोषप्रसंगात् । तदेवं केवलव्यतिरेकीणो दर्शिताः।

शब्दार्थ -

व्यवहर्तव्यम् = व्यवहार करना चाहिए, व्यवक्रियते = व्यवहार किया जाता है, पक्षीकृतत्त्वात् = पक्ष बना लिया गया है, प्रमाणत्वम् = प्रमाणत्व (साध्य है), साध्याभेददोषप्रसंगात् = साध्य के अभेदरूप दोष की प्राप्ति, केवलव्यतिरेकीणो = केवलव्यतिरेकी हेतु।

गद्यार्थ -

लक्षण भी केवलव्यतिरेकी हेतु होते हैं। जैसे पृथिवी का लक्षण है गन्धवत्त्व (गन्धवाली) होना। उसको हेतु बनाकर जब किसी विवादग्रस्त पदार्थ को पृथ्वी सिद्ध करने के लिए विवादास्पद वस्तु को गन्धयुक्त होने से पृथ्वी यह कहकर व्यवहार करना चिाहए। जो गन्धयुक्त नहीं होता वहाँ पृथ्वी यह व्यवहार नहीं होता (यह व्यतिरेक व्याप्ति हुई)। जैसे जल।

अथवा जैसे प्रमाण का लक्षण प्रमाकरणत्व (अन्वयव्यतिरेकी हेतु होता है)। जैसे कि प्रत्यक्षादि प्रमाण है ऐसा व्यवहार करना चाहिए, क्योंकि यह प्रमा का करण है, जो प्रमाण है। जिससें प्रमाण ऐसा व्यवहार नहीं होता, वह प्रमा का करण भी नहीं होता, जैसे कि प्रत्यक्षाभास आदि। किन्तु यह वैसा प्रमाण व्यवहाराभाव युक्त नहीं है। इसलिए वैसा प्रमाकरणत्वाभावयुक्त भी नहीं है। किन्तु जो प्रमा का करण होता है, वह प्रमाण होता है, जैसे-अमुक, इस प्रकार का अन्वय दृष्टान्त यहाँ पर नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रमाणमात्र को यहाँ पक्ष बना लिया गया है।

और (प्रत्यक्षादिकं प्रमाणम्) इस अनुमानवाक्य में साध्य है - व्यवहार, प्रमाणत्व साध्य नहीं है। उसका प्रमाकरण रूप हेतु से अभेद होने के कारण साध्याभाव दोष होने लगेगा (अतः प्रमाणत्व साध्य नहीं है)। इस तरह केवलव्यतिरेकी हेतु दिखलाये गये।

व्याख्या -

किसी पदार्थ का असाधारण धर्म लक्षण होता है। तर्कभाषाकार लक्ष्य को साध्य एवं लक्षण को साधन (हेतु) के रूप में रखकर कहते हैं कि लक्षण भी हेतु होता है और वह केवलव्यतिरेकी हेतु होता है। इसमें कारण यह है कि जिसका लक्षण किया जाता है, वह सभी साध्य अर्थ पक्ष बन जाता है, उससे भिन्न किन्तु सदृश कोई भी अर्थ शेष नहीं रहता कि अन्वयव्याप्ति के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सके। उदाहरण के लिए ग्रन्थकार ने पृथिवी का लक्षण प्रस्तुत किया है तथा उसे विवादास्पद अर्थात् सन्दिग्ध मानकर पक्ष बनाया है। अनुमान प्रयोग 'विवादपदं पृथिवीति व्यवर्हतव्यम्, गन्धवत्त्वात् अर्थात् संशययुक्त पदार्थ को पृथिवी कहना चाहिए, क्योंकि वह गन्धवाला है, यहाँ साध्य है पृथिवी एवं हेतु है गन्धवत्त्व। यह केवल पृथिवी में है अन्यत्र नहीं। अतः इस वाक्य का अन्वयदृष्टान्त 'यत्र गन्धवत्त्वं तत्र पृथिवीत्वम्', यथा अमुकः। जहाँ गन्धवत्ता है वहाँ

पृथिवीत्व है, जैसे वह। वह कौन? यह पृथिवी के अलावा अन्य नहीं है। पृथिवी तो पक्ष ही है। अतः अन्वयदृष्टान्त नहीं बना, बलिक इसका व्यतिरेकदृष्टान्त बनता है - यन्त्र पृथिवी, तन्न गन्धवत्, यथापः- जो पृथिवी नहीं है, वह गन्धवत् भी नहीं है, जैसे कि जल। इस तरह किसी पदार्थ का लक्षण केवलव्यतिरेकी हेतु होगा, अन्य दो नहीं।

केवलव्यतिरेकी हेतु का एक अन्य उदाहरण ग्रन्थकार ने प्रमाण के लक्षण प्रमाणकरणत्व को बताया है। परन्तु 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्' इस अनुमान वाक्य से भिन्न वाक्य का यहाँ प्रयोग किया जाता है। जैसे - प्रत्यक्षादिकं प्रमाणमिति व्यवहर्तव्यम्, प्रमाकरणत्वात्, यत् यत् प्रमाणमिति न व्यवि"यते, तन्न प्रमाणं, यथा प्रत्यक्षाभासादि। यहाँ पर साध्य है व्यवहार, प्रमाणत्व नहीं। यदि 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्' इत्यादि के समान 'प्रत्यक्षादिकं प्रमाणं, प्रभाकरणत्वात्' इत्यादि अनुमानवाक्य का प्रयोग हो तब एक दोष उत्पन्न होगा। वह दोष है - साध्य का हेतु के साथ अभेद होना। प्रमाणत्व और प्रमाकरणत्व एक ही सिद्ध होता है। प्रमाणत्व का अर्थ भी प्रमाणकरणत्व ही है। साध्य एवं हेतु में भेद होना चाहिए तथा साध्य को असिद्ध भी होना चाहिए। अतः 'व्यवहर्तव्यम् कहकर साध्य-व्यवहार एवं हेतु प्रमाकरणत्व में भेद बताया जाता है ।

6.3.3 केवलान्वयी हेतु

कश्चिदन्यो हेतुः केवलान्वयी। यथा शब्दोऽभिधेयः, प्रमेयत्वात्। यत्प्रमेयं तदभिधेयं, यथा घटः। तथा चायं तस्मात्तथेति। अत्र शब्दस्याभिधेयत्वं साध्यं, प्रमेयत्वं हेतुः। स च केवलान्वयेव। यदभिधेयं न भवति तत्प्रमेयमपि न भवति, यथामुक इति व्यतिरेक- दृष्टान्ताभावात् । सर्वत्र हि प्रामाणिक एवार्थो दृष्टान्तः । स च प्रमेयश्चाभिधेयश्चेति ।

शब्दार्थ -

केवलान्वयी = केवल अन्वय दृष्टान्त वाला, अभिधेयः = कहा जाने योग्य, अभिधेयत्वम् = अभिधेयता,

गद्यार्थ -

कोई अन्य हेतु केवलान्वयी होता है। जैसे शब्द अभिधेय होता है, प्रमेय होने से। जो प्रमेय होता है वह अभिधेय भी होता है, जैसे घट। यह शब्द भी वैसा ही प्रमेय है, अतः यह शब्द अभिधेय है। इस अनुमानवाक्य में शब्द की अभिधेयता साध्य है और प्रमेयत्व हेतु है और वह हेतु केवलान्वयी ही है, क्योंकि जो अधिधेय नहीं होता है वह प्रमेय भी नहीं होता है, जैसे कि अमुक, यह व्यतिरेक दृष्टान्त यहाँ नहीं मिलता। सभी जगह प्रामाणिक (प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञात) अर्थ ही दृष्टान्त हुआ करता है और वह प्रामाणिक अर्थ प्रमेय भी होता है और अभिधेय भी होता है।

व्याख्या -

जिस हेतु में केवल अन्वयव्याप्ति ही हो, व्यतिरेकव्याप्ति न हो वह हेतु केवलान्वयी होता है। व्यतिरेकव्याप्ति नहीं होने का कारण है दृष्टान्त का अभाव। वस्तुतः केवलान्वयी हेतु वह होता है, जहाँ पर साध्याभाव की अप्रसिद्धि हो या हेतु के अभाव की अप्रसिद्धि हो, या दोनों के अभाव की अप्रसिद्धि हो। जैसे - शब्दः अभिधेयः (साध्य) प्रमेयत्वात् (हेतु)। यत् प्रमेयम् तत् अभिधेयम् यथा घटः (दृष्टान्त) तथा चायम् (उपनय) तस्मात्तथा (निगमन)।

अभिधेय का अर्थ है वाच्य। अभिधा का विषय, शब्द से कहा जाने लायक। प्रमेय का अर्थ प्रमा का विषय। घट दृष्टान्त में प्रमेयत्व और अभिधेयत्व दोनों हैं। अतः यह केवलान्वयी दृष्टान्त है। इस प्रमेयत्व और

अभिधेयत्व की व्यतिरेकव्याप्ति दृष्टान्त के अभाव में नहीं होती है। जैसे कि 'यद् अभिधेयं न भवति तत् प्रमेयम् अपि न भवति' जो अभिधेय नहीं होता वह प्रमेय भी नहीं होता, जैसे वह, इस प्रकार का दृष्टान्त उपलब्ध नहीं होता है। कारण यह है कि संसार के सारे पदार्थ अभिधेय और प्रमेय हैं। उन दोनों का अभाव किसी पदार्थ में नहीं है। इस तरह व्यतिरेकदृष्टान्त के अभाव में प्रमेयत्व हेतु केवलान्वयी ही होता है।

स्वयं आकलन कीजिए -

अभ्यास प्रश्न - 1

1. अन्वयव्याप्ति के व्याप्य का अभाव कब व्यापक होता है?
2. धूमवत्व हेतु में किससे व्याप्ति होता है?
3. धूमवत्व हेतु क्या कहलाता है?
4. अनित्यत्व कहाँ होता है?
5. किसी पदार्थ का लक्षण कौन-सा हेतु होता है?
6. प्रमाकरणरूप हेतु से अभेद होने पर कौन-सा दोष होने लगता है?
7. प्रामाणिक अर्थ कैसा होता है?

6.4 अन्वयव्यतिरेकी हेतु के भेद

एतेषां च अन्वयव्यतिरेकी-केवलान्वयि-केवलव्यतिरेकी-हेतूनां त्रयाणां मध्ये यो हेतुरन्वयव्यतिरेकी स पञ्चरूपोपपन्न एव स्वसाध्यं साधयितुं क्षमते, नत्वेकेनापि रूपेण हीनः। तानि पञ्चरूपाणि पक्षसत्त्वं, सपक्षसत्वं, विपक्षव्यावृत्तिः, अबाधितविषयत्वम्, असत्प्रतिपक्षत्वं चेति।

एतानि पञ्चरूपाणि धूमवत्त्वादौ अन्वयव्यतिरेकीणि हेतौ विद्यन्ते। तथाहि धूममवत्त्वं पक्षस्य पर्वतस्य धर्मः। पर्वते तस्य विद्यमानत्वात्। एवं सपक्षे सत्त्वम्, सपक्षे महानसे तद् विद्यत इत्यर्थः । एवं विपक्षान्महा"दात् व्यावृत्तिस्तत्र नास्तीत्यर्थः ।

एवमबाधितविषयं च धूमवत्त्वम्। तथाहि धूमवत्त्वस्य हेतोर्विषयः साध्यधर्मस्तच्चाग्नि- मत्त्वम्, तत् केनापि प्रमाणेन न बाधितं न ऽण्डितमित्यर्थः ।

एवमसत्प्रतिपक्षत्वम् असन् प्रतिपक्षो यस्येत्यसत्प्रतिपक्षं धूमवत्त्वं हेतुः। तथाहि साध्यविपरीतसाधकं हेत्वन्तरं प्रतिपक्ष इत्युच्यते। स च धूमवत्त्वे हेतौ नास्त्येवानुपलम्भात् ।

तदेवं पञ्चरूपाणि धूमवत्त्वे हेतौ विद्यन्ते। तेनैतद् धूमधत्वमग्निमत्त्वस्य गमकम्, अग्निमत्त्वस्य साधकम्।

शब्दार्थ

पञ्चरूपोपपन्नः = पाँच रूपों से अन्वित, साधयितुं = सिद्ध करने में, विद्यन्ते = विद्यमान, विद्यमानत्वात् = विद्यमानता, महाह्रदात् = विपक्ष महाह्रद से, साध्यधर्मः = साध्य का धर्म, अभिमत्त्वम् = प्रमाण से, असत्प्रतिपक्षत्वम् = प्रतिपक्षी का न होना, साध्यविपरीतसाधकम् = साध्य के विपरीत को सिद्ध करने वाला, अनुपलम्भात् = उपलब्ध न होने से, अग्निमत्त्वस्य साधकम् = पर्वत में अग्नि का साधक।

गद्यार्थ -

अन्वयतिरेकी, केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी इन तीन हेतुओं में जो हेतु अन्वयव्यतिरेकी है, वह पाँच रूपों से युक्त होकर ही अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ है। एक रूप से भी हीन होने पर साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता है। वे पाँच रूप हैं – 1. पक्षसत्त्व, 2. सपक्षसत्त्व, 3. विपक्षव्यावृत्ति, 4. अबाधितविषयत्व (साध्य का बाधित न होना), और 5. असत्प्रतिपक्षत्व (विरोधी) हेतु का न होना।

ये पाँचों रूप धूमवत्त्व आदि अन्वयव्यतिरेकी हेतु में विद्यमान हैं। जैसे कि धूमवत्त्व पक्ष-पर्वत का धर्म है क्योंकि पर्वत में (धूम) विद्यमान है। इसी प्रकार सपक्ष में भी धूम की सत्ता है, क्योंकि सपक्ष महानस में वह विद्यमान है यह अर्थ है। इसी तरह विपक्ष महाह्रद (जलाशय) से धूम की व्यावृत्ति है, क्योंकि वह धूमवत्त्व जलाशय में नहीं है।

इसी प्रकार धूमवत्त्व हेतु अबाधित विषय वाला भी है। जैसे कि धूमवत्त्व हेतु का विषय है साध्यधर्म, वह अग्निमत्त्व है, वह अग्निमत्त्व किसी भी प्रमाण से (पर्वत में) बाधित नहीं है, अर्थात् खण्डित नहीं है।

इसी प्रकार धूमवत्त्व हेतु में असत्प्रतिपक्षत्व भी है। नहीं है प्रतिपक्ष जिसका वह असत्प्रतिपक्ष धूमवत्त्व हेतु है। जैसे कि साध्य के विपरीत अर्थ का साधक अन्य हेतु प्रतिपक्ष कहलाता है। वह घूमवत्त्व हेतु में नहीं है, क्योंकि उपलब्ध नहीं होता है। (यदि होता तो अवश्य उपलब्ध होता)।

इस प्रकार पक्षसत्त्वादि पाँचों रूप धूमवत्त्व हेतु में विद्यमान हैं। अतः यह धूमवत्त्व हेतु अग्निमत्ता का बोधक है अर्थात् अग्नि का साधक हेतु है।

व्याख्या -

अनुमानवाक्य में प्रयुक्त अन्वयव्यतिरेकी नामक हेतु पाँच रूपों से युक्त होने पर ही अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है। यदि एक रूप भी कम रह जाये तो वह हेतु साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता है। वह असद्-हेतु बन जाता है। ये पाँच रूप हैं -

1. पक्षसत्त्व - पक्ष में हेतु का रहना। जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्' इस वाक्य में पक्ष पर्वत है, उसमें धूमवत्त्व हेतु है।
2. सपक्षसत्त्व - सपक्ष में हेतु का रहना सपक्षसत्त्व कहलाता है। निश्चित् साध्यवान् सपक्षः अर्थात् जिसमें साध्य का रहना निश्चित हो वह सपक्ष होता है। जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्, यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः, यथा महानसम्'। महानस सपक्ष हुआ। उसमें भी हेतु धूमवत्त्व विद्यमान है और वह्नि की सत्ता भी निश्चित है। यहाँ हेतु अन्वयव्याप्ति वाला है।
3. विपक्षव्यावृत्ति - विपक्ष में हेतु का न रहना। 'निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः' साध्य का निश्चित अभाव वाला विपक्ष होता है। वह्नि साध्य है, वह जलाशय में निश्चित ही नहीं है। अतः यहाँ विपक्ष जलाशय महा"द है। उसमें धूम की व्यावृत्ति है अर्थात् हेतु-धूम महा"द में नहीं है।
4. अबाधितविषयत्व - अबाधितः विषयः साध्यः यस्य, तस्य भावः अर्थात् जिस हेतु का साध्य अन्य प्रमाण से बाधित न हो वह हेतु अबाधितविषयत्व कहलाता है। पर्वत में साध्य वह्नि का बाध करने वाला कोई अन्य प्रमाण नहीं है, अतः यहाँ धूमवत्त्व हेतु अबाधितविषयत्व है। बाधितविषयत्व का उदाहरण है - 'अग्निः अनुष्णः कृतकत्वात्। घटवत्।' अग्नि शीतल है कार्य होने से, घट के समान। यहाँ पर कृतकत्व हेतु से वह्नि की शीतलता साध्य है। किन्तु त्वचा के स्पर्श से त्वचा प्रत्यक्षप्रमाण से शीतलता की सिद्धि

बाधित हो जाती है। अतः कृतकत्व हेतु बाधितविषयत्व है। यह साध्य को सिद्ध करने में असमर्थ होने से असत् हेतु है।

5. असत्प्रतिपक्षत्व - असन् प्रतिपक्षः यस्य, तस्य भावः अर्थात् साध्य के विपरीत अर्थ को सिद्ध करने वाला विरोधी हेतु जिसका न हो, वह हेतु असत्प्रतिपक्ष कहलाता है। पर्वत में साध्य अर्थ वह्नि को सिद्ध करने वाला धूमवत्त्व है। इसके विपरीत अर्थ को सिद्ध करने वाला विरोधी हेतु कोई नहीं है, अतः यह असत्प्रतिपक्ष हेतु है।

सत्प्रतिपक्ष का उदाहरण 1. शब्दो नित्योऽनित्यधर्मानुपलब्धेः अर्थात् शब्द नित्य है, अनित्य धर्म की अनुपलब्धि होने से, 2. शब्दोऽनित्यः नित्यधर्मानुपलब्धेः अर्थात् शब्द अनित्य है, नित्यधर्म की अनुपलब्धि होने से। प्रथम वाक्य में नित्यत्व साध्य है, अनित्यधर्मानुपलब्धि हेतु है। इसके विपरीत अर्थ अनित्यता द्वितीयवाक्य में साध्य है और प्रथम हेतु का विरोधी हेतु नित्यधर्मानुपलब्धि है। अतः ये सत्प्रतिपक्ष हेतु हैं। ये साध्य की सिद्धि में असमर्थ हैं। हेतु है। इस तरह धूमवत्त्व हेतु पाँच रूपों से युक्त होने के कारण सद्-हेतु है, अन्वयव्यतिरेकी हेतु है।

अग्नेः पक्षधर्मत्वं हेतोः पक्षधर्मताबलात् सिद्ध्यति । तथाहि, अनुमानस्य द्वे अघ्गे, व्याप्तिः पक्षधर्मता च। तत्र व्याप्त्या साध्यसामान्यस्य सिद्धिः। पक्षधर्मताबलात्तु साध्यस्य पक्षसम्बन्धित्वं विशेषः सिद्ध्यति । पर्वतधर्मेण धूमवत्त्वेन वह्निरपि पर्वतसम्बद्ध एवानुमीयते। अन्यथा साध्यसामान्यस्य व्याप्तिग्रहादेव सिद्धेः कृतमनुमानेन ।

यस्त्वन्योऽप्यन्वयव्यतिरेकी हेतुः स सर्वः पञ्चरूपोपपन्न एव सद्धेतुः । अन्यथा हेत्वाभासो, अहेतुरिति यावत् ।

शब्दार्थ -

अग्नेः = अग्नि का, पक्षधर्मताबलात् = पर्वतादि (पक्ष) में रहने की सामर्थ्य से, सिद्ध्यति = सिद्ध होता है, व्याप्त्या = व्याप्ति से, धूमवत्त्वेन= धूमवत्त्व हेतु द्वारा, पक्षधर्मता के अभाव में, साध्यसामान्यस्य = साध्य अग्नि सामान्य की, कृतम् अनुमानेन = अनुमान करना, सद्धेतुः = सद् – हेतु।

गद्यार्थ -

अग्नि का पर्वतादि-पक्ष में रहना हेतु का पर्वतादि-पक्ष में विद्यमान होने की सामर्थ्य से सिद्ध होता है। जैसे कि अनुमान के दो अङ्ग हैं - 1- व्याप्ति (साहचर्य नियम) और 2- पक्षधर्मता (पक्ष में विद्यमान होना)। जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है। इस व्याप्ति के द्वारा वह्नि सामान्य की सिद्धि होती है और पर्वत आदि पक्ष में हेतु के रहने की सामर्थ्य से (पक्षधर्मता के बल से) अग्नि का पक्ष सम्बन्धी होना अर्थात् पर्वतादिनिष्ठ होना रूप विशेष अर्थ की सिद्धि होती है। पर्वत का धर्म धूमवत्त्व द्वारा (पर्वत में विद्यमान धूम रूप हेतु द्वारा) पर्वत से सम्बद्ध वह्नि ही अनुमान का विषय बनता है। यदि पक्षधर्मता के बल से अग्नि-विशेष की सिद्धि न हुआ करे तब अग्नि-सामान्य की सिद्धि व्याप्ति के ग्रहण से ही हो जायेगी, अनुमान करना व्यर्थ होगा।

इसी प्रकार जो और भी 'अन्वयव्यतिरेकी हेतु हैं, वे सब 'पञ्चरूपोपपन्न' होने पर ही शुद्ध हेतु होते हैं। अन्यथा किसी एक भी रूप से रहित होने पर हेतु के समान प्रतीत होने वाला हेतुवदाभासमान हेत्वाभास अर्थात् अहेतु है।

व्याख्या -

यदि धूमवत्त्व हेतु अग्नि-सामान्य की ही सिद्धि करता हो तब 'यत्र यत्र धूमस्तत्रग्निः' इस व्याप्तिग्रह से ही सामान्य अग्नि की सिद्धि हो जाती है, उसके लिए अनुमान करना व्यर्थ है अथवा अनुमान करने पर सिद्ध अर्थ को ही अनुमान सिद्ध करेगा तो अनुमान में सिद्धसाधन दोष आ जायेगा या पिष्टपेषण ही होगा।

यदि कहा जाये कि अनुमान से अग्नि-विशेष की सिद्धि की जाती है तो यह कथन भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि पर्वत में रहने वाले अग्नि-विशेष के साथ धूम का कहीं भी साहचर्य दृष्टिगोचर नहीं होता है। अतः पर्वतवृत्ति अग्नि का अनुमान कैसे होगा?

केशवमिश्र ने उपर्युक्त दोनों शंकाओं के समाधान के लिए ही अनुमान के दो अंग माने हैं - व्याप्ति और पक्षधर्मता। 1. व्याप्ति - यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्रग्निः, इससे धूमसामान्य के रहने पर अग्निसामान्य की सिद्धि होगी।

2. पक्षधर्मता - साधन का पक्ष पर्वतादि में रहना है। पर्वतरूपी पक्ष में रहने वाले धूम से साध्य वह्नि भी पर्वत में रहने वाली ही अनुमान द्वारा सिद्ध हो जायेगी। पर्वत में धूम का रहना ही धूम की पक्षधर्मता हुई। इसके बल से ही 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः' का अनुमान हो जायेगा। सार यह है कि पक्षधर्मता रूपी अंग द्वारा अग्नि विशेष की अर्थात् पर्वत में विद्यमान अग्नि की सिद्धि हो जायेगी। हमें यह भी स्मरण करना होगा कि 'लिंगपरामर्शोऽनुमानम्' पर परामर्श का अन्य लक्षण विवेचन में उद्धृत किया गया है- व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः। अतः यहाँ पर अनुमान के दो अंग बताए गए हैं।

केवलान्वयी चतूरूपोपपन्न एव स्वसाध्यं साधयति। तस्य हि विपक्षाद् व्यावृत्तिर्नास्ति, विपक्षाभावात् ।

केवलव्यतिरेकी च चतूरूपोपपन्न एव। तस्य हि सपक्षे सत्त्वं नास्ति । सपक्षाभावात् ।

शब्दार्थ -

केवलान्वयी = केवलान्वयी हेतु, चतूरूपोपपन्नः = चार रूपों से युक्त होकर, स्वसाध्यं = अपने साध्य की, व्यावृत्तिः = विपक्ष में अभाव।

गद्यार्थ -

केवलान्वयी हेतु चार रूपों से युक्त होकर ही अपने साध्य की सिद्धि करता है। इसमें विपक्षव्यावृत्ति यह रूप नहीं होता है, क्योंकि यहाँ विपक्ष होता ही नहीं है।

केवलव्यतिरेकी भी चार रूपों से ही युक्त होता है, क्योंकि उसका 'सपक्ष' न होने से सपक्षत्व नहीं होता ।

व्याख्या -

केवलान्व्यी हेतु के चार रूप हैं - पक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व। यहाँ विपक्षव्यावृत्ति विपक्ष के अभाव से नहीं होता है। जैसे घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात् अर्थात् घट अभिधेय है, प्रमेय होने से। यहाँ घट पक्ष है, अभिधेय साध्य है, प्रमेयत्व हेतु है। यहाँ पर सभी अभिधेय हैं, इसलिए प्रमेय हैं। यहाँ पक्षसत्व और सपक्षसत्व दो रूप बनते हैं। विपक्ष कोई नहीं है, जिसस कारण विपक्षव्यावृत्ति रूप नहीं है। साध्य का बाध किसी अन्य प्रमाण से नहीं होता। इसलिए अबाधितविषयत्व हेतु है। साध्याभाव का साधक कोई अन्य हेतु नहीं है, अतःअसत्प्रतिपक्ष हेतु है। इस तरह प्रमेयत्व हेतु चार रूपों से ही युक्त है।

केवलव्यतिरेकी हेतु के चार रूप हैं - पक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व। यहाँ पर सपक्ष होता ही नहीं है। अतः सपक्षत्सत्त्व यह एक रूप नहीं होता है, क्योंकि इस हेतु का साध्य अनुमान से पूर्व कहीं पर भी सिद्ध नहीं रहता है। उदाहरणार्थ 'जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्त्वात्।' यहाँ प्राणादिमत्त्व

हेतु पक्ष जीवच्छरीर में है। अतः पक्षसत्त्व रूप है। जीवित शरीर से अन्य में नहीं है। अतः सपक्षसत्त्व रूप इसमें नहीं है। सात्मकत्व (साध्य) का बाध किसी प्रमाणान्तर से नहीं होता है, अतः प्राणादिमत्त्व हेतु अबाधितविषयत्व है और सात्मकत्व (साध्य) के अभाव का साधक कोई अन्य हेतु भी नहीं है, अतः प्राणादिमत्त्व हेतु असत्प्रतिपक्षत्व भी है। इस तरह केवलव्यतिरेकी हेतु चार रूपों वाला ही है।

के पुनः पक्ष-सपक्ष-विपक्षाः? उच्यन्ते सन्दिग्धसाध्यधर्मा धर्मी पक्षः। यथा धूमानुमाने पर्वतः पक्षः। सपक्षस्तु निश्चितसाध्यधर्मा धर्मी। यथा महानसो धूमानुमाने। विपक्षस्तु निश्चितसाध्याभाववान् धर्मी। यथा-तत्रैव महाह्रदः इति ।

तदेवमन्वयव्यतिरेकि-केवलान्वयि-केवलव्यतिरेकीणो दर्शिताः ।

शब्दार्थ -

सन्दिग्धसाध्यधर्मा= सन्दिग्ध है साध्य का धर्म जिसमें वह, धर्मी = धर्म वाला, धूमानुमाने = धूम से अग्नि के अनुमान में, तदेवम् = तो इस प्रकार।

गद्यार्थ -

(प्रश्न पूछ रहे हैं) अच्छा, तो फिर पक्ष, सपक्ष और विपक्ष कौन हैं ?

(उत्तर दे रहे हैं) जिस वस्तु में साध्य का धर्म सन्दिग्ध हो वह सन्दिग्धसाध्यधर्मा होता है। जैसे पर्वत में अग्नि साध्य है, साध्य का धर्म अग्नि, पर्वत में सन्दिग्ध है। जैसे धूम से अग्नि के अनुमान में पर्वत पक्ष है।

जिसमें साध्य का धर्म निश्चित रहे ऐसा धर्मी सपक्ष कहलाता है, जैसे धूम अनुमान में महानस। साध्य का निश्चित अभाव वाला धर्मी विपक्ष होता है। जैसे साध्य-अग्नि का निश्चित अभाव महाह्रद में है, अतः महाह्रद विपक्ष है। (पर्वत में धूम से अग्नि का अनुमान करने में महानस सपक्ष होता है, क्योंकि वहाँ पर अग्निरूप साध्य प्रत्यक्षप्रमाण से उपलब्ध है। पक्ष के लक्षण में सन्दिग्ध पद सपक्ष में अतिव्याप्ति रोकने के लिए है, तथा सपक्ष के लक्षण में निश्चित पद पक्ष में अतिव्याप्ति को रोकने के लिए है।)

इस प्रकार 1. अन्वयव्यतिरेकी, 2. केवलव्यतिरेकी और 3. केवलान्वयी - ये तीन प्रकार के हेतु बता दिए गए।

स्वयं आकलन कीजिए -

अभ्यास प्रश्न – 1

1. अन्वयव्यतिरेकी अपने साध्य को कितने रूपों से युक्त होकर सिद्ध करता है?
2. साध्य के विपरीत अर्थ का साधक अन्य हेतु क्या कहलाता है?
3. अनुमान के कितने अंग हैं?
4. साध्य के निश्चित अभाव वाले धर्मी को क्या कहते हैं?
5. केवलव्यतिरेकी हेतु के चार कौन-से हैं?

6.5 सारांश

इस इकाई में अनुमान प्रमाण के हेतुओं पर चर्चा की गई। अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी हेतु का लक्षण स्पष्ट करके उदाहरण देकर समझाया गया। अन्वयव्यतिरेकी के पाँच रूपों,

केवलान्वयी के चार रूपों और केवलव्यतिरेकी हेतु के भी चार रूपों के लक्षण बताकर उनको उदाहरण देकर समझाया गया है। आशा है आप लोग इससे अवश्य लाभान्वित होंगे।

6.6 कठिन शब्दावली

व्यतिरेकव्याप्तेः = व्यतिरेकव्याप्ति का (प्रयोग का), ऋजुमार्गेण = सरल मार्ग से, व्यवह्रियते = व्यवहार किया जाता है, व्यतिरेकदृष्टान्ताभावात् = व्यतिरेक-दृष्टान्त का अभाव, पक्षसम्बन्धित्वम् = पक्ष (पर्वतादि) में विद्यमान होना, व्याप्तिग्रहादेव = व्याप्ति के ग्रहण से, निश्चितसाध्यधर्मा = निश्चित साध्यरूपी धर्म वाला।

6.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर -

अभ्यास प्रश्न - 1

1. व्यतिरेक व्याप्ति में
2. अन्वय और व्यतिरेक से
3. अन्वय व्यतिरेकी
4. जहाँ कृतत्व हो
5. केवलव्यतिरेकी
6. साध्याभाव दोष
7. प्रमेय और अभिधेय

अभ्यास प्रश्न - 2

1. पाँच
2. प्रतिपक्ष
3. दो - व्याप्ति और पक्षधर्मता
4. विपक्ष
5. पक्षसत्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व

6.8 सहायक ग्रन्थ

1. तर्कभाषा, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणि, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी-221001, संस्करण-12, 2013.
2. तर्कभाषा, टीकाकार, पण्डित श्रीरुद्रधर झा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-221001, संस्करण-7, 2021.
3. तर्कभाषा, व्याख्याकार डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-221001, संस्करण-2013.
4. तर्कभाषा, व्याख्याकार एवं सम्पादक डॉ. अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर-302001, संस्करण-2021.
5. तर्कभाषा, व्याख्याकार श्रीबदरीनाथशुक्ल, मोतीलाल बनारसी दास, चौक वाराणसी, प्रथम संस्करण-1968.

6.9 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न -

1. केवलव्यतिरेकी हेतु का विस्तृत विवेचन करें
2. हेतु के पाँच रूपों से आप क्या समझते हैं? विस्तृत व्याख्या करें।
3. अन्वयतिरेकी और उसके भेदों का वर्णन करें।

इकाई - सात

हेत्वाभास और उसके भेद

संरचना

7.1 प्रस्तावना
7.2 उद्देश्य
7.3 हेत्वाभास
7.4 हेत्वाभास के भेद
  7.4.1 असिद्ध हेत्वाभास
  7.4.2 विरुद्ध हेत्वाभास
  7.4.3 अनैकान्तिक हेत्वाभास
  7.4.4 प्रकरणसम हेत्वाभास
  7.4.5 कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास
    - स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न
7.5 सारांश
7.6 कठिन शब्दावली
7.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर
7.8 सहायक ग्रन्थ
7.9 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियो, इस इकाई में हेत्वाभास की विस्तार से चर्चा की गई है। इसमें बताया गया है कि अनुमान प्रमाण के शुद्ध हेतुओं के अतिरक्त कुछ अन्य हेतु हैं हेत्वाभास कहते हैं। इन्हें हम असिद्ध हेतु भी कह सकते हैं। हेत्वाभास क्या है, जिससे हमें ज्ञान के प्रति कभी-कभी संशय उत्पन्न होता है। हेत्वाभास के भेदों पर भी विस्तृत चर्चा की गई है, ताकि आप विद्यार्थियों के मन में कोई संशय न रहे।

7.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से विद्यार्थियों को निम्नलिखित जानकारी उपलब्ध होगी –

- हेत्वाभास,
- हेत्वाभास के प्रकार और
- उपाधि

7.3 हेत्वाभास

पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व (साध्य का बाधित न होना), और असत्प्रतिपक्षत्व (विरोधी) हेतु का न होना – इन पाँच रूपों में से किसी एक भी रूप से रहित होने पर हेतु के समान प्रतीत होने वाला हेत्वाभास (अहेतु) कहलाता है।

7.4 हेत्वाभास के भेद

अतोऽन्ये हेत्वाभासाः। ते च असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक-प्रकरणसम-कालात्यय- अपदिष्ट भेदात् पञ्चैव।

गद्यार्थ -

अतः अन्य सभी हेत्वाभास होते हैं और वे 1. असिद्ध, 2. विरुद्ध, 3. अनैकान्तिक, 4. प्रकरणसम तथा 5. कालात्ययापदिष्ट भेद से पाँच प्रकार के होते हैं।

व्याख्या -

अन्वयव्यतिरेकी हेतु पञ्चरूप युक्त, केवलान्वयी हेतु चार रूपों से युक्त तथा केवलव्यतिरेकी हेतु चार रूपों से युक्त होने पर सद्-हेतु माने जाते हैं। उससे भिन्न हेतु असद्-हेतु हैं। असद्-हेतु को हेत्वाभास कहते हैं। ये हेतु के दोष माने जाते हैं।

हेत्वाभास की व्युत्पत्ति - 'आभासन्ते इत्याभासाः। हेतुवत् आभासाः हेत्वाभासाः' अर्थात् जो हेतु के समान प्रतीत हों, लेकिन हेतु न हों, वे अहेतु हेत्वाभास हैं। जो अनुमितिज्ञान के प्रतिबन्धक हो जायें या अनुमिति के कारण प्रतिबन्धित हो जायें, वे हेत्वाभास हैं अथवा 'आभासन्ते इत्याभासाः, हेतोः आभासाः हेत्वाभासाः' अर्थात् दुष्ट हेतु हेत्वाभास होते हैं। असिद्धत्वादि दोष है। अतः वे हेत्वाभास हैं।

हेत्वाभास पाँच ही हैं - असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट। हेत्वाभास की संख्या के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत देखे जाते हैं। कुछ तार्किक असिद्ध नामक एक ही हेत्वाभास को मानते हैं। अन्य सभी का अन्तर्भाव असिद्ध में करते हैं।

वैशेषिक दर्शन में हेत्वाभास तीन माने गए हैं – 1. असिद्ध, 2. विरुद्ध और 3. सन्दिग्ध।

न्यायबिन्दु के अनुसार बौद्धन्याय के मत में तीन हेत्वाभास हैं – 1. असिद्ध, 2. विरुद्ध, और 3. अनैकान्तिक। गौतम के न्यायसूत्र में पाँच हेत्वाभास वर्णित हैं। ग्रन्थकार न्यायदर्शन के आधार पर पाँच ही हेत्वाभास हैं ऐसा कहते हैं। अनैकान्तिक का नाम सव्यभिचार भी है तथा कालात्ययापदिष्ट को बाधित नाम भी अन्य आचार्यों ने दिया है।

7.4.1 असिद्ध हेत्वाभास

तत्र लिंगत्वेनासिद्धो हेतुरसिद्धः। तत्रसिद्धस्त्रिविधः। आश्रयासिद्धः, स्वरूपासिद्धः, व्याप्यत्वासिद्धश्चेति।

आश्रयासिद्धो यथा गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात्, सरोजारविन्दवत्। अत्र गगनारविन्दमाश्रयः, स च नास्त्येव।

स्वरूपासिद्धो यथा, अनित्यः शब्दः चाक्षुषत्वात्, घटवत्। अत्र चाक्षुषत्वं हेतुः, स च शब्दे नास्त्येव, तस्य श्रावणत्वात्।

शब्दार्थ -

लिंगत्वेन = लिंग अथवा ज्ञापक के रूप से, अनिश्चितः = निश्चित न होने वाला, गगनारविन्दं = आकाश कमल, सुरभि = सुगन्धित, अरविन्दत्वात् = कमल होने से, चाक्षुषत्वात् = नेत्र से ग्राह्य होने के कारण, श्रावणत्वात् = श्रवण से ग्राह्यत्व (श्रावणत्व) हेतु।

गद्यार्थ -

अनुमानवाक्य में ज्ञापक या बोधक के रूप में निश्चित न रहने वाला हेतु असिद्ध कहलाता है। वह असिद्ध तीन प्रकार का होता है – 1. आश्रयासिद्ध, 2. स्वरूपासिद्ध, और 3. व्याप्यत्वासिद्ध। आश्रयासिद्ध का लक्षण है, फ्यस्य हेतोराश्रयो नावगम्यते स आश्रयासिद्धःय् अर्थात् जिस हेतु का आश्रय (पक्ष) न हो उसको आश्रयासिद्ध

कहते हैं। जैसे - आकाश कमल सरोवर के कमल के समान कमल होने से सुगन्धित होता है। यहाँ पर सुगन्धि का आश्रय पक्ष आकाश कमल है, जो होता ही नहीं, अर्थात् कमल का आश्रय आकाश को बताया है। आकाश में कमल के न होने से आश्रय ही निश्चित नहीं है। अतः यह हेतु असिद्ध है। असिद्ध में भी आश्रयासिद्ध नामक हेत्वाभास है।

स्वरूपासिद्ध जैसे घट के समान चाक्षुष होने से शब्द अनित्य है। यहाँ पर चाक्षुषत्व हेतु है, और वह शब्द नामक पक्ष में होता ही नहीं है। शब्द में तो श्रावणत्व अर्थात् श्रोत्रग्राह्यता होती है। अतः यहाँ पर हेतु का स्वरूप ही असिद्ध है।

व्याख्या -

जिस हेतु को अनुमापक के रूप में निश्चित नहीं किया जा सकता है, वह हेतु असिद्ध होता है। इसके तीन भेद हैं- आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध, और व्याप्यत्वासिद्ध।

जिस हेतु का आश्रय (पक्ष) ही सिद्ध न हो वह आश्रयासिद्ध है। जैसे गगनारविन्द की सुगन्धि को सिद्ध करने में अरविन्दत्व हेतु है। पक्ष गगनारविन्द होता ही नहीं है। अतः हेतु का पक्ष असिद्ध है। स्वरूपासिद्ध वह है जिसका हेतु आश्रय में सिद्ध न हो। जैसे चाक्षुषत्व हेतु से शब्द की अनित्यता सिद्ध करना है। इसमें पक्ष शब्द है। शब्द श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य होता है, चाक्षुष नहीं होता है। अतः यहाँ पक्ष-शब्द में चाक्षुषत्व हेतु असिद्ध है, जिसका नाम स्वरूपासिद्ध है।

व्याप्यत्वासिद्धस्तु द्विविधः। एको व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावात् । अपरस्तूपाधिसद्भावात् । तत्र प्रथमो यथा - शब्दः क्षणिकः सत्त्वात् । यत्सत् तत् क्षणिकं यथा जलधरपटलं तथा च शब्दादिरिति। न च सत्त्वक्षणिकत्वयोर्व्याप्तिग्राहकं प्रमाणमस्ति। सोपाधिकतया व्याप्यत्वासिद्धौ उच्यमानायां क्षणिकत्वमन्यप्रयुक्तमित्यभ्युपगतं स्यात् ।

शब्दार्थ -

अपरः = दूसरा, उपाधिसद्भावात् = उपाधि के रहने से, सत्त्वात् = विद्यमान होने से, जलधरपटलम् = बादल समूह, शब्दादिरिति = शब्द आदि भी है, सत्त्वक्षणिकत्वयोः = सत्त्व और क्षणिकत्व का, व्याप्यत्वासिद्धौ= व्याप्यत्वासिद्ध, उच्यमानायाम् = कहे जाने पर, क्षणिकत्वम् = क्षणिकता।

गद्यार्थ -

असिद्ध का तीसरा भेद व्याप्यत्वासिद्ध है। जिसकी व्याप्ति सिद्ध न हो, उसको व्यापत्वासिद्ध कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है – व्याप्तिग्राहक प्रमाणाभावात् अर्थात् व्याप्तिग्राहक प्रमाण का अभाव होने से और दूसरा है - उपाधिसद्भावात् अर्थात् उपाधि का सद्भाव होने से। प्रथम का उदाहरण है जैसे - शब्द क्षणिक है (प्रतिज्ञा) सत् होने से (हेतु)। जो सत् होता है वह क्षणिक होता है। जैसे मेघसमूह (उदाहरण)। उसी प्रकार शब्दादि भी हैं (उपनय)। किन्तु सत्व और क्षणिकत्व की व्याप्ति का निश्चय करने वाला कोई प्रमाण नहीं है। यदि सोपाधिक होने से इसको व्याप्यत्वासिद्ध कहें तो दूसरे निमित्त से (शब्द में) क्षणिकत्व है, यह स्वीकार करना होगा (जो कि नैयायिकों को मान्य नहीं है)।

व्याख्या -

जहाँ हेतु व्याप्य नहीं होता है, अर्थात् उसमें व्याप्य-धर्म नहीं रहता है, वहाँ व्याप्यत्वासिद्ध नामक असिद्ध हेत्वाभास का तृतीय भेद माना जाता है। इसमें दो कारण होते हैं – व्याप्तिग्राहक प्रमाण का अभाव होना और उपाधि होना। व्याप्तिग्राहक प्रमाण का उदाहरण मूल में बताया गया है। क्षणिकत्व साध्य है तथा सत्त्व हेतु

है। इन दोनों की व्याप्ति नहीं बनती है अर्थात् 'जो सत् है वह क्षणिक है', इस प्रकार की व्याप्ति का निश्चायक कोई प्रमाण नहीं है।

वस्तुतः यह अनुमानवाक्य 'शब्दः क्षणिकः सत्त्वत्' बौद्धन्याय का है, जिसे यहाँ न्याय के अनुसार दिखाया गया है। बौद्धन्याय प्रत्येक पदार्थ को क्षण में उत्पन्न एवं नष्ट होने वाला मानता है। उनके मत में अनुमानवाक्य में दो ही अवयव होते हैं - हेतु और दृष्टान्त। अतः यहाँ भी दो ही अवयव दिखलाये गये हैं। सत्त्व-हेतु द्वारा क्षणिकता की सिद्धि की गई है। यहाँ सत्ता का अर्थ अर्थक्रियाकारिता है, योग्य कार्य करना है। उनके मत में सत्ता क्षणिक में है, अक्षणिक (स्थिर) में नहीं है।

परन्तु नैयायिकों के अनुसार सत्त्व और क्षणिकत्व की व्याप्ति को ग्रहण कराने वाला प्रमाण नहीं है। अतः सत्त्व-हेतु से क्षणिकत्व की सिद्धि नहीं होती है, उल्टे प्रत्यक्ष प्रमाण से घट आदि पदार्थ स्थिर दिखाई पड़ता है। इस तरह किसी भी प्रमाण से सत्त्व एवं क्षणिकत्व का निश्चित साहचर्य (व्याप्ति) न होने से हेतु में व्याप्ति का अभाव माना जाता है अर्थात् हेतु व्याप्ति से सिद्ध नहीं होता है। इसलिए व्याप्यत्वासिद्ध नामक हेत्वाभास है।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि 'सत्त्वात्' इस हेतु के सोपाधिक होने से व्याप्यत्वासिद्ध दोष क्यों नहीं मान लेते? व्याप्तिग्राहक प्रमाण के अभाव को क्यों लाते हो? इसका समाधान है कि यहाँ हेतु सोपाधिक नहीं है, क्योंकि जहाँ हेतु में उपाधि होती है, वहाँ साध्य की सत्ता माननी ही पड़ती है। किन्तु यह भी कहा जाता है कि साध्य धर्म दिये गये हेतु से सिद्ध नहीं होता, अपितु अन्य कारण से होता है। जैसे 'अयोगोलकः धूमवान् अग्निमत्त्वात्' अर्थात् लौहपिण्ड धूमवाला है, अग्निवाला होने से। यहाँ साध्य है धूमवत्त्व और हेतु है अग्निमत्त्व। साध्यधर्म-धूम अयोगोलक में नहीं है, किन्तु उसकी सत्ता है। धूम की सत्ता अग्नि के निमित्त से नहीं है, अपितु आर्द्र इन्धन-संयोगरूप उपाधि के कारण है, जो अन्यप्रयुक्त माना गया।

इसी प्रकार सत्त्वात् हेतु को सोपाधिक मानने पर व्याप्यत्वासिद्ध मानें, तो क्षणिकत्व की सत्ता स्वीकार करके कहना होगा कि क्षणकत्व सत्त्व-हेतु के कारण नहीं है, किसी अन्य कारण से है। किन्तु पदार्थ की स्थिरता को मानने वाले नैयायिकों को यह स्वीकार नहीं है। नैयायिक तो प्रथमक्षण में उत्पत्ति, द्वितीयक्षण में स्थिति और तृतीय क्षण में नाश मानते हैं। इस तरह नैयायिक के मत में क्षणिकत्व का अस्तित्व ही नहीं है। तब वह सत्त्व के निमित्त से कैसे सिद्ध होगा। यही प्रमाणाभाव है। चूंकि बौद्धों के अनुसार क्षणिकत्व अन्य निमित्त से नहीं है, अपितु सत्त्व-निमित्त से है, अतः यहाँ सत्त्व-हेतु को सोपाधिक मानकर व्याप्यत्वासिद्ध भी कैसे माना जा सकता है। अतः नैयायिक व्याप्तिग्राहक प्रमाण के अभाव से यहाँ व्याप्यत्वासिद्ध मानते हैं।

द्वितीयो यथाक्रत्वन्तर्वर्तिनी हिंसा अधर्मसाधनं, हिंसात्वात्, क्रतुबाह्यहिंसावत्। अत्र ह्यधर्मसाधनत्वे हिंसात्वं न प्रयोजकं, किन्तु निषिद्धत्वमेव प्रयोजकम्, उपाधिरिति यावत्। तथा हि 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापक' उपाधिरित्युपाधिलक्षणम्। तच्चास्ति निषिद्धत्वे। निषिद्धत्वं हि साध्यस्याधर्मसाधनत्वस्य व्यापकम्। यतो यत्र यत्रधर्मसाधनत्वं तत्र तत्रवश्यं निषिद्धत्वमपीति। एवं साधनं हिंसात्वं न व्याप्नोति निषिद्धत्वम्। न हि यत्र यत्र हिंसात्वं तत्र तत्रवश्यं निषिद्धत्वं, यज्ञीयपशुहिंसाया निषिद्धत्वाभावात्। तदेवं निषिद्धत्वस्योपाधेः सद्भावादन्यप्रयुक्तव्याप्युपजीवि हिंसात्वं व्याप्यत्वासिद्धमेव ।

शब्दार्थ -

अधर्मसाधनम् = अर्धम का साधन, अधर्मसाधनत्वे = अधर्म साधनत्व में, निषिद्धत्वम् = (शास्त्र द्वारा) निषिद्धत्व, साध्यव्यापकत्वे = साध्य का व्यापक होने पर, न व्याप्नोति= व्याप्त नहीं करता, यज्ञीयपशुहिंसायाः = यज्ञ में होने वाली पशु हिंसा में, अन्यप्रयुक्तव्याप्त्युपजीवि = अन्य (निषिद्धत्व) से होने वाली व्याप्ति पर आश्रित रहने वाला।

गद्यार्थ -

द्वितीय-उपाधि के सद्भाव से होने वाले व्याप्यत्वासिद्ध का उदाहरण है - यज्ञ के अन्दर की गई हिंसा अधर्म का साधन है (प्रतिज्ञा), हिंसा होने से (हेतु), यज्ञ के बाहर होने वाली हिंसा के समान (उदाहरण)। इस अनुमानवाक्य के अधर्म साघनत्व में हिंसात्व निमित्त नहीं है, किन्तु (शास्त्र द्वारा किया गया) निषिद्धत्व ही प्रयोजक है और उस प्रयोजक को ही उपाधि कहते हैं। जैसे कि साध्य का व्यापक होने पर भी जो साधन (हेतु) का अव्यापक (धर्म) होता है वह उपाधि है और वह निषिद्धत्व में है। यह उपाधि का लक्षण है। निषिद्धत्व में उपाधि का यह लक्षण घटित होता है। निषिद्धत्व साध्यभूत अधर्मसाधनत्व का व्यापक है, क्योंकि जहाँ-जहाँ अधर्म साधनत्व है वहाँ-वहाँ अवश्य ही निषिद्धत्व भी है। इसी प्रकार निषिद्धत्व साधन हिंसात्व का व्यापक निषिद्धत्व नहीं बनता है, क्योंकि जहाँ-जहाँ हिंसात्व है वहाँ-वहाँ निषिद्धत्व भी अवश्य हो, ऐसा नहीं है। जैसे यज्ञसम्बन्धी पशु-हिंसा में निषिद्धत्व नहीं है। तो इस प्रकार निषिद्धत्व उपाधि के विद्यमान रहने से अन्य निषिद्धत्व के कारण से व्याप्ति पर आश्रित रहने वाला जो हिंसात्व हेतु है वह व्याप्यत्वासिद्ध ही है।

व्याख्या -

अनुमानवाक्य में प्रयुक्त हेतु जब उपाधि के रहने से असिद्ध हो जाता है, तब वह व्याप्यत्वासिद्ध कहलाता है। उपाधि प्रयोजक कारण को कहते हैं। ग्रन्थकार ने इसका लक्षण बताया कि 'जो साध्य का व्यापक हो, किन्तु साधन का व्यापक न हो (अव्यापक हो) वह उपाधि है।' उपाधि के रहने से हेतु के व्याप्यत्वासिद्ध का उदाहरण यह है - 'क्रत्वन्तर्वर्तिनी हिंसा अधर्मसाधनम् (प्रतिज्ञा) हिंसात्वात् (हेतु) क्रतुबाह्यहिंसावत् (उदाहरण)।' इसमें प्रयुक्त हिंसात्व हेतु दोषग्रस्त है, क्योंकि हिंसा शास्त्रों में निषिद्ध होने से अधर्म-साधन है, केवल हिंसा से नहीं। अतः निषिद्धत्व यहाँ पर उपाधि अर्थात् प्रयोजक है। यह साध्य अधर्म-साधनत्व का व्यापक है, क्योंकि जहाँ-जहाँ अधर्म साधनत्व होता है, वहाँ-वहाँ निषिद्धत्व भी होता है, यह व्याप्ति बनती है। यज्ञ की हिंसा में भी हिंसात्व है, किन्तु उसका मीमांसाशास्त्र में निषेध नहीं है। अतः यज्ञीय हिंसा में निषिद्धत्व नहीं है। इसको इस प्रकार भी कह सकते हैं जहाँ-जहाँ हिंसात्व होता है, वहाँ-वहाँ निषिद्धत्व नहीं होता है। उपर्युक्त वाक्य में अधर्मसाधनत्व का निषिद्धत्व के साथ व्याप्ति बनती है। इस व्याप्ति का आरोप हिंसा में कर लिया जाता है। अतः हेतु के रूप में प्रयुक्त हिंसात्व निषिद्धत्व के कारण व्याप्ति पर आश्रित है। वह तो स्वयं व्याप्य रूप में असिद्ध है। अतः व्याप्यत्वासिद्ध नामक असिद्ध हेत्वाभास है।

7.4.2 विरुद्ध हेत्वाभास

साध्यविपर्ययव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः। स यथा शब्दो नित्यः कृतकत्वादात्मवत्। अत्र कृतकत्वं हि साध्यनित्यत्वविपरीतानित्यत्वेन व्याप्तम्। यत्कृतकं तदनित्यमेव, न नित्यमित्यतो, विरुद्धं कृतकत्वमिति ।

शब्दार्थ -

साध्यविपर्ययव्याप्तः = साध्य के विपर्यय से व्याप्त, व्याप्तम् = व्याप्त है, विरुद्धम् = विरुद्ध का, कृतकत्वम् इति= कृतकत्व हेत्वाभास।

गद्यार्थ -

साध्य के विपर्यय (अभाव से) व्याप्त हेतु विरुद्ध (हेत्वाभास) कहलाता है। वह इस प्रकार है - शब्द नित्य है (प्रतिज्ञा), कृतक होने (हेतु) से, आत्मा के समान (उदाहरण)। यहाँ पर कृतकत्व हेतु साध्यभूत नित्यत्व के विपरीत अनित्यत्व से व्याप्त है, क्योंकि जो कृतक होता है, वह अनित्य ही होता है, नित्य नहीं। इस कारण कृतकत्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है।

व्याख्या -

'साध्यविपर्ययव्याप्तः हेतुः विरुद्धः' इस लक्षण में साध्यविपर्यय का अर्थ है, साध्याभाव। विपर्ययः अर्थात् विपरीत। साध्य के विपरीत साध्याभाव होगा। अतः साध्याभाव से व्याप्त हेतु विरुद्ध है। जैसे 'शब्दो नित्यः कृतकत्वात्' में साध्य नित्यत्व के विरुद्ध अनित्यत्व से व्याप्त हेतु कृतकत्व है, क्योंकि जो कृतक होगा, वह अनित्य होगा ही।

7.4.3 अनैकान्तिक हेत्वाभास

सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः। स द्विविधः, साधारणानैकान्तिकोऽसाधारणानैकान्तिकश्- चेति। तत्र पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिः साधारणः। यथा शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात्, व्योमवत्। अत्र हि प्रमेयत्वं हेतुस्तच्च नित्यानित्यवृत्ति। सपक्षाद् विपक्षाद् व्यावृत्तो यः पक्ष एव वर्तते सोऽसाधारणानैकान्तिकः। स यथा- भूर्नित्या गन्धवत्त्वात्। गन्धवत्त्वं हि सपक्षान्नित्याद् विपक्षाच्चानित्याद् व्यावृत्तं भूमात्रवृत्ति ।

शब्दार्थ -

सव्यभिचारः = व्यभिचार अव्यवस्था से ग्रस्त, प्रमेयत्वात् = प्रमेय होने से, व्योमवत् = आकाश के समान, नित्यानित्यवृत्ति = नित्य एवं अनित्य दोनों में रहता है, विपक्षात् = विपक्ष से, व्यावृत्तः = अलग होकर, वर्तते = रहता है, नित्याद्ध = नित्य से (आकाशादि से) भूमात्रवृत्ति = पृथिवी मात्र में रहती है।

गद्यार्थ -

सव्यभिचार को अनैकान्तिक (हेत्वाभास) कहते हैं। वह दो प्रकार का है - साधारण अनैकान्तिक और असाधारण अनैकान्तिक। उन दोनों में से पक्ष, सपक्ष एवं विपक्ष में रहने वाला हेतु साधारण अनैकान्तिक होता है। यथा शब्द नित्य है (प्रतिज्ञा), प्रमेय होने से (हेतु), आकाश के समान (उदाहरण)। इस वाक्य में प्रमेयत्व हेतु है, और वह नित्य-पक्ष तथा सपक्ष एवं अनित्य विपक्ष में रहने वाला है (जब कि इसे विपक्ष में नहीं होना चाहिए)। सपक्ष एवं विपक्ष दोनों से अलग जो हेतु पक्षमात्र में रहे वह असाधारण अनैकान्तिक होता है। जैसे- पृथिवी नित्य है (प्रतिज्ञा), गन्धवती होने से (हेतु), यहाँ गन्धवत्त्व नामक हेतु सपक्ष-नित्य आकाशादि से एवं विपक्ष-अनित्य जलादि से अलग पृथिवीमात्र (पक्ष में) रहता है। अतः असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

व्याख्या -

'सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः', इसका अभिप्राय है कि औचित्य का उल्लंघन या नियमपूर्वक न रहना सव्यभिचार है और एक साध्य या उसके अभाव का जो सहचार अर्थात् दोषरहित सहचार है, वह एकान्त कहलाता है। एकान्त वाले से ऐकान्तिक होगा। उससे भिन्न अनैकान्तिक है।

सारांश यह है कि जो हेतु साध्य के साथ व्यवस्थित रूप से या नियमपूर्वक न रहे, वह हेतु सव्यभिचार कहलाता है। सव्यभिचार को ही अनैकान्तिक कहते हैं। वस्तुतः 'अनैकान्तिकः' यह सव्यभिचार का लक्षण है। दोनों का अर्थ भी व्युत्पत्ति से एक ही प्राप्त होता है।

वात्स्यायन ने 'नित्यत्वमपि एकः अन्तः, अनित्यत्वमपि एकः अन्तः। एकस्मिन्नन्ते विद्यते इति ऐकान्तिकः। विपर्ययाद् अनैकान्तिक उभयान्तव्यापकत्वात् इति' में कहा है, अर्थात् जिस हेतु का निश्चय एक में न हो वह अनैकान्तिक है।

1. जो हेतु पक्ष, सपक्ष व विपक्ष तीनों में रहे, वह साधारण अनैकान्तिक है।
2. तथा जो केवल पक्ष में ही रहे वह असाधारण अनैकान्तिक है।

जैसे 'शब्दः नित्यः प्रमेयत्वात्।' हेतु प्रमेयत्व पक्ष (शब्द में), सपक्ष (आकाश में) और विपक्ष (घट) में रहता है। नित्यपदार्थ आकाश में भी है तथा अनित्यपदार्थ घट में भी है। अतः साधारण अनैकान्तिक है।

'भूर्नित्या गन्धवत्त्वात्' में गन्धत्वत्त्व पक्ष-भू में है, सपक्ष नित्य आकाशादि में नहीं है तथा विपक्ष अनित्यजलादि में भी नहीं है। केवल पक्ष भू में होने से असाधारण अनैकान्तिक है।

7.4.4 प्रकरणसम हेत्वाभास

प्रकरणसमस्तु स एव यस्य हेतोः साध्यविपरीतसाधकं हेत्वन्तरं विद्यते। स यथा-शब्दोऽनित्यो नित्यधर्मरहितत्वात्। शब्दो नित्योऽनित्यधर्मरहितत्वात् इति। अयमेव हि सत्प्रतिपक्ष इति चोच्यते ।

शब्दार्थ -

प्रकरणसमस्तु = प्रकरणसम है, साध्यविपरीतसाधकम् = साध्य के विपरीत अर्थ का साधक, हेत्वन्तरम्= अन्य हेतु, विद्यते = विद्यमान होता है, सत्प्रतिपक्षः = सत्प्रतिपक्ष।

गद्यार्थ -

प्रकरणसम वह हेत्वाभास होता है, जिस हेतु के साध्य अर्थ के विपरीत अर्थ का साधक कोई अन्य हेतु विद्यमान हो। जैसे- शब्द अनित्य है (प्रतिज्ञा), नित्य धर्म के न होने से (हेतु)। इसका विपरीत अर्थसाधक हेतु- शब्द नित्य है (प्रतिज्ञा), अनित्यधर्म के न होने से (हेतु)। यह प्रकरणसम ही सत्प्रतिपक्ष कहलाता है।

व्याख्या -

प्रकरणसम का परवर्ती आचार्यों ने सत्प्रतिपक्ष नाम से प्रयोग किया है। 'साध्यविपरीतसाधकं हेत्वन्तरं प्रतिपक्षः' साध्य के विपरीत अर्थ का साधक हेत्वन्तर प्रतिपक्ष कहलाता है। जहाँ पर दो हेतु परस्पर विरोधी अर्थ को सिद्ध करें, वहाँ हेतु सत्प्रतिपक्ष होगा। जैसे 'शब्दोऽनित्यः नित्यधर्मरहितत्वात्' इस वाक्य में अनित्यत्व साध्य है और हेतु नित्यधर्मरहितत्वात्। परन्तु अनित्यत्व अर्थ के विपरीत नित्यत्व अर्थ को सिद्ध करने वाला हेतु 'शब्दः नित्यः अनित्यधर्मरहितत्वात्' इस वाक्य में अनित्यधर्मरहितत्वात् है। इस तरह ये दोनों हेतु दोनों वाक्यों में जो प्रयुक्त हैं वे परस्पर विपरीत अर्थ को सिद्ध करने से सत्प्रतिपक्ष प्रकरणसम नामक हेत्वाभास बन जाते हैं। अतः ये अनुमिति कराने में असमर्थ हैं।

7.4.5 कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास

पक्षे प्रमाणान्तरावधृतसाध्याभावो हेतुर्बाधितविषयः कालात्ययापदिष्ट इति चोच्यते। यथा अग्निरनुष्णः कृतकत्वाज्जलवत्। अत्र हि कृतकत्वस्य हेतोः साध्यमनुष्णत्वं तदभावः प्रत्यक्षेणैवावधारितः, स्पार्शनप्रत्यक्षेणैवोष्णत्वोपलम्भात् ।

इति व्याख्यातमनुमानम्।

शब्दार्थ -

पक्षे = पक्ष में, प्रमाणान्तरावधृतसाध्याभावः = जिसका साध्य अभाव अन्य प्रमाण से निश्चित कर लिया गया है, बाधित विषयः = बाधित विषय वाला, कालात्ययापदिष्टः = कालात्ययापदिष्ट कृतकत्वात् = कृतक (जन्य) होने से, अनुष्णत्वम् = अनुष्णत्व (शीतलता)।

गद्यार्थ -

पक्ष में जिस हेतु के साध्य का अभाव अन्य-प्रमाण से निश्चित कर लिया गया हो ऐसा हेतु बाधित विषय वाला तथा कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास कहलाता है। जैसे अग्नि अनुष्ण है (प्रतिज्ञा), कृतक अर्थात् जन्य होने से (हेतु), जल के समान (उदाहरण)। इस अनुमानवाक्य में कृतकत्व हेतु का साध्य अनुष्णत्व है। किन्तु अनुष्णत्व का अभाव त्वचा के स्पर्श रूप प्रत्यक्षप्रमाण से ही निश्चित हो जाता है। अतः कृतकत्वात् यह हेतु कालात्ययापदिष्ट है।

इस प्रकार अनुमान की व्याख्या पूर्ण हुई।

व्याख्या -

बाधित का एक अर्थ 'विपरीत' भी किया जाता है। इसलिए यह कह सकते हैं कि पक्ष में जिस हेतु के साध्य-अर्थ के विपरीत अर्थ का निश्चय किसी अन्य प्रमाण से हो जाये, वह बाधितविषय हेत्वाभास है। उदाहरणार्थ 'अग्निरनुष्णः (प्रतिज्ञा), कृतकत्वात् (हेतु) जलवत् (उदाहरण)।' अग्नि में उष्णता का अभाव (अनुष्णत्व) साध्य है। किन्तु पक्ष अग्नि में त्वचा के स्पर्श से ही अनुष्णत्व के विपरीत उष्णता अर्थ की सिद्धि होती है। इस तरह कृतकत्व हेतु का साध्य अनुष्णत्व बाधित हो जाता है। अतः कृतकत्व यहाँ कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास है।

सत्प्रतिपक्ष एवं बाधितविषय में भेद -

1. सत्प्रतिपक्ष में अन्य हेतु द्वारा साध्याभाव की सिद्धि की सम्भावना होती है।
2. बाधितविषय में अन्य प्रमाणों से साध्याभाव का निश्चय हो जाता है।

स्वयं आकलन कीजिए -

अभ्यास प्रश्न -

1. हेत्वाभास किसे कहते हैं?
2. हेत्वाभास के कितने भेद हैं?
3. असिद्ध हेतु कितने प्रकार का होता है?
4. जिस हेतु का आश्रय सिद्ध न हो, उस हेतु को क्या कहते हैं?
5. जिस हेतु की व्याप्ति सिद्ध न हो, उसे क्या कहते हैं?
6. साध्य के अभाव से व्याप्त हेतु को क्या कहते हैं?
7. अनैकान्तिक हेत्वाभास कितने प्रकार का है?
8. प्रकरणसम हेत्वाभास का दूसरा नाम क्या है?
9. जो हेतु सपक्ष और विपक्ष दोनों से अलग पक्षमात्र में रहे, उस हेतु को क्या कहते हैं?

7.5 सारांश

इस इकाई में अनुमान प्रमाण के असिद्ध हेतु हेत्वाभास पर चर्चा की गई। इसमें सबसे पहले हेत्वाभास का लक्षण बताया गया। असद्-हेतु को हेत्वाभास कहते हैं, जो हेतु के दोष माने जाते हैं। ये हेतु के समान प्रतीत होते हैं, लेकिन हेतु नहीं होते। तर्कभाषाकार ने हेत्वाभास के पाँच भेद बताए हैं - असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट। हेत्वाभास की संख्या के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत देखे जाते हैं। हेत्वाभास के इन पाँचों भेदों के उदाहरण सहित लक्षण बताए गए हैं, ताकि किसी भी विद्यार्थी को समझने में परेशानी न हो। आशा है आप लोग इससे अवश्य लाभान्वित होंगे।

7.6 कठिन शब्दावली -

सरोजारविन्दवत्= सरोवर में उत्पन्न कमल के समान, व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावात् = व्याप्तिग्राहक प्रमाण के न होने से, क्रत्वन्तर्वर्तिनी = यज्ञ के मध्य में होने वाली, क्रतुबाह्यहिंसावत् = यज्ञ के बाहर की हिंसा के समान, पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिः = पक्ष, सपक्ष एवं विपक्ष में रहने वाला, नित्यधर्मरहितत्वात् = नित्य धर्म के न होने से।

7.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर -

1. जो हेतु न हो
2. पाँच
3. तीन
4. आश्रयासिद्ध
5. व्याप्यत्वासिद्ध
6. विरुद्ध हेत्वाभास
7. दो प्रकार का
8. सत्प्रतिपक्ष
9. असाधारण अनैकान्तिक

7.8 सहायक ग्रन्थ

1. तर्कभाषा, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणि, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी-221001, संस्करण-12, 2013.
2. तर्कभाषा, टीकाकार, पण्डित श्रीरुद्रधर झा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-221001, संस्करण-7, 2021.
3. तर्कभाषा, व्याख्याकार डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-221001, संस्करण-2013.
4. तर्कभाषा, व्याख्याकार एवं सम्पादक डॉ. अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर-302001, संस्करण-2021.
5. तर्कभाषा, व्याख्याकार श्रीबदरीनाथशुक्ल, मोतीलाल बनारसी दास, चौक वाराणसी, प्रथम संस्करण-1968.

7.9 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न -

1. हेत्वाभास किसे कहते हैं? हेत्वाभास के किन्हीं दो रूपों की विस्तृत व्याख्या करें।
2. हेत्वाभास पर प्रकाश डालते हुए असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक भेदों का उल्लेख करें।
3. प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट हेतुओं की चर्चा कीजिए।

इकाई - आठ

उपमान और शब्द प्रमाण निरूपण

संरचना

8.1 प्रस्तावना
8.2 उद्देश्य
8.3 उपमान प्रमाण
- स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न -1

8.4 शब्द प्रमाण
8.4.1 वाक्य का लक्षण
8.4.2 पद का लक्षण
- स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न -2

8.5 सारांश
8.6 कठिन शब्दावली
8.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर
8.8 सहायक ग्रन्थ
8.9 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियो, इस इकाई में उपमान प्रमाण और शब्द प्रमाण का उल्लेख किया गया है। इसमें बताया गया है कि प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के न रहने पर उपमान प्रमाण और शब्द प्रमाण का सहारा लिया जाता है, जिससे हमें ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान की प्राप्ति में उपमान प्रमाण और शब्द प्रमाण का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इसके अतिरिक्त वाक्य निरूपण और गदार्थ निरुपण की जानकारी भी प्रदान की गई है।

8.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से विद्यार्थियों को नम्नलिखित जानकारी उपलब्ध होगी –

- उपमानम प्रमाण निरूपण,
- शब्द प्रमाण निरूपण,
- वाक्यनिरूपण और
- पदार्थज्ञान निरूपण

8.3 उपमान प्रमाण

अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृतं गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानम्। यथा गवयमजानन्नपि नागरिको 'यथा गौस्तथा गवयः' इति वाक्यं कुतश्चिदारण्यकात् पुरुषाच्छ्रुत्वा वनं गतो वाक्यार्थं स्मरन् यदा गोसादृश्यविशिष्टं पिण्डं पश्यति तदा तद्वाक्यार्थस्मरणसहकृतं गोसादृश्यविशिष्ट-पिण्डज्ञानमुपमानमुपमितिकरणत्वात् । गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानानन्तरमयमसौ गवयशब्दवाच्यः पिण्ड इति

संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतीतिरुपमितिः। सैव फलम्। इदन्तु प्रत्यक्षानुमानासाध्यप्रमासाधकत्वात् प्रमाणान्तरमुपमानमस्ति ।

शब्दार्थ -

गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानम् = गो की समानता से युक्त आकृति वाला, कुतश्चित् = किसी, आरण्यकात् = वनवासी, तद्वाक्यार्थस्मरणसहकृतम् = उस वाक्य के अर्थ के स्मरण के साथ, उपमितिकरणत्वात् = उपमिति ज्ञान का करण है, गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानानन्तरम्= गो की समानता से युक्त पिण्डज्ञान के पश्चात्, प्रमाणान्तरम् = प्रत्यक्षानुमान से भिन्न प्रमाण।

गद्यार्थ -

अतिदेश वाक्य के अर्थ के स्मरण के साथ गोसादृश्य-पिण्ड का ज्ञान उपमान प्रमाण है। जैसे नील गाय को नहीं जाने वाला नगरवासी 'जैसी गाय होती है वैसी ही नील गाय भी होती है' इस प्रकार का वाक्य किसी वनवासी पुरुष से सुनकर वन जाता है और (गोसदृशो गवयः) इस वाक्यार्थ का स्मरण करते हुए जब गो की समानता वाली आकृति या पिण्ड को देखता है तब अतिदेशवाक्य के अर्थ के स्मरण के साथ गो की समानता से युक्त पिण्ड का ज्ञान उपमान प्रमाण कहलाता है। गो की समानता वाले पिण्ड के ज्ञान के पश्चात् 'यह वह पिण्ड गवय शब्द का वाच्य है' इस प्रकार की जो संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध की प्रतीति है, वह उपमिति (उपमान से जन्य ज्ञान) कहलाती है। वही उपमिति उपमान प्रमाण का फल है। यह उपमान प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाणों से सिद्ध नहीं किये जा सकने वाले ज्ञान का साधक (साधन) होने से एक भिन्न प्रमाण उपमान है।

व्याख्या -

प्रत्यक्ष एवं अनुमान के बाद प्रमेय की सिद्धि का तृतीय प्रमाण उपमान है। किसी अज्ञात पदार्थ को ज्ञात पदार्थ की समानता वाली आकृति से जानने के लिए अतिदेश वाक्य का प्रयोग किया जाता है। यथा - गोसदृशो गवयः गाय के समान गवय होती है। अतिदेशवाक्य के अर्थ का स्मरण अज्ञात पदार्थ को देखने के बाद होता है। तब उपमिति होती है कि यह पदार्थ ही गवय है क्योंकि गोसादृश्यविशिष्ट पिण्ड इसका भी है। न्यायसूत्र 1/1/6 में कहा गया है - 'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनम् उपमानम् अर्थात् प्रसिद्ध पदार्थ के साधर्म्य से साध्य अर्थ को सिद्ध करने वाला उपमान होता है।

न्यायभाष्यकार कहते हैं 'समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिः उपमानार्थः' यह उपमान संज्ञा-संज्ञी के सम्बन्ध की प्रतीति कराती है। यही उपमान का फल है। उपमान शक्तिग्रह का एक साधन भी माना गया है। उपमान से उत्पन्न प्रमा को उपमिति कहते हैं। उपमिति का करण सादृश्यज्ञान है। अतिदेशवाक्यार्थ का स्मरण अवान्तर व्यापार है। तर्कसंग्रहकार कहते हैं - 'संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानम् उपमितिः, तत्करणं सादृश्यज्ञानम्, अतिदेशवाक्यार्थस्मरणम् अवान्तरव्यापारः।'

प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाणों से उपमिति रूप फल की प्राप्ति न होने से उपमान को नैयायिक पृथक् प्रमाण मानते हैं। प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से होता है। यहाँ पर इसके अलावा अतिदेशवाक्यार्थस्मरण भी अपेक्षित है। अतः प्रत्यक्ष में इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता। अनुमान में भी अन्तर्भाव इसीलिए नहीं हो सकता कि अनुमान के लिए कोई अनुमापक हेतु उपस्थित नहीं है।

वैशेषिक, सांख्ययोग तथा बौद्ध उपमान को पृथक् प्रमाण नहीं मानते हैं। वैशेषिक इसे अनुमान में अन्तर्भूत करते हैं। सांख्यदर्शन उपमान का अन्तर्भाव कहीं प्रत्यक्ष में, कहीं अनुमान में और कहीं आगम में करते हैं। कुछ आचार्य इसका अन्तर्भाव शब्द में करते हैं।

स्वयं आकलन कीजिए –

अभ्यास प्रश्न – 1

1. उपमान प्रमाण किसे कहते हैं?
2. संज्ञा-संज्ञी के सम्बन्ध की प्रतीति क्या कहलाती है?
3. उपमिति किसका फल है?

8.4 शब्द प्रमाण

आप्तवाक्यं शब्दः। आप्तस्तु यथाभूतस्यार्थस्योपदेष्टा पुरुषः। वाक्यं त्वाकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिमतां पदानां समूहः। अत एव 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इति पदानि न वाक्यम्, परस्पराकाङ्क्षाविरहात्। 'वह्निना सिञ्चेदिति' न वाक्यं योग्यताविरहात्। नाग्निसेकयोः परस्परान्वययोग्यताऽस्ति तथा हि अग्निनेति तृतीयया सेकरूपं कार्यं प्रति करणत्वमग्नेः प्रतिपादितम्। न चाग्निः सेके करणीभवितुं योग्यः। तेन कार्यकारणभावलक्षण-सम्बन्धेऽग्निसेकयोरयोग्यत्वादग्निना सिञ्चेदिति न वाक्यम्।

शब्दार्थ -

आप्तवाक्यम् = आप्त (पुरुष) का वाक्य, आकांक्षायोग्यतासन्त्रिधिमतां = आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि (आसत्ति) युक्त, परस्पराकांक्षाविरहात् = (इनमें) परस्पर आकांक्षा का अभाव, योग्यताविरहात् = योग्यता का अभाव, परस्परान्वययोग्यता = एक-दूसरे से अन्वित होने की योग्यता, प्रतिपादितम् = बताया गया।

गद्यार्थ -

आतवाक्य शब्द-प्रमाण है। जो अर्थ जैसा है उसे वैसा ही बताने वाला पुरुष आप्त कहलाता है। आकांक्षा योग्यता और आसत्ति युक्त पदों के समूह को वाक्य कहते हैं। इसलिए गाय, अश्व, पुरुष, हाथी ये पदसमूह वाक्य नहीं हैं, क्योंकि इनमें परस्पर आकांक्षा का अभाव है। आग से सींचता है, यह भी वाक्य नहीं है, क्योंकि इसमें योग्यता का अभाव है। अग्नि और सेचन क्रिया में परस्पर अन्वय की योग्यता नहीं होती है। जैसे कि अग्नि शब्द से आई तृतीया विभक्ति के द्वारा सेचन कार्य के प्रति अग्नि को करण बताया गया है। किन्तु सेचनकार्य में अग्नि करण नहीं बन सकती है। इस तरह अग्नि और सेचन के कार्यकारण-भावसम्बन्ध में अयोग्य होने के कारण अग्नि से सींचना, यह वाक्य नहीं है।

व्याख्या -

ग्रन्थकार ने शब्दप्रमाण का लक्षण बताया - आप्तवाक्यं शब्दः। इसमें शब्द लक्ष्य है और आप्तवाक्यम् यह लक्षण है। आप्त कहते हैं यथार्थवक्ता को। पतञ्जलि ने कहा है - आप्तो नाम अनुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कात्स्न्येन निश्चयवान्, रागादिवशादपि नान्ययावादी सः अर्थात् जो अनुभव के द्वारा वस्तुतत्त्व को सम्पूर्ण रूप से निश्चय करने वाला है तथा राग द्वेषादि के वशीभूत होने पर भी जो गलत नहीं कहता है, वह आप्त है।

आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि से युक्त पदों का समूह वाक्य कहलाता है। केवल 'पदानां समूहः वाक्यम्' यह लक्षण नहीं है, अपितु 'पदानां' का विशेषण है - आकांक्षायोग्यता- सन्निधिमताम्। पदों में परस्पर आकांक्षा आवश्यक है, योग्यता और सन्निधि भी आवश्यक हैं। तभी वे पदसमूह वाक्य कहलायेंगे, जब उनमें आंकाक्षा होगी, योग्यता होगी और सन्निधि होगी। एक पद का दूसरे के बिना अन्वय बोध न होना आकांक्षा है। आकांक्षा के अभाव में ही गौः, अश्वः, पुरुषः इत्यादि पदसमूह वाक्य नहीं कहलाते। जैसे 'गाम्' इतना ही कहने पर, 'आनय'

इत्यादि पद की आकांक्षा बनी रहती है। केवल 'गाम्' यह पद किसी अन्वित अर्थ का बोध नहीं करा सकता है। इस तरह साकांक्ष पद अर्थ का बोध कराते हैं। पदों में योग्यता भी होनी चाहिए, योग्यता के बिना भी पदसमूह वाक्य नहीं बन सकते। 'अर्थाबाधो योग्यता' अर्थात् अर्थ का बाध न होना योग्यता है। 'वह्निना सिंचेत्' (आग से सींचे) यह वाक्य नहीं है, क्योंकि वह्नि सेचन क्रिया में करण के रूप में प्रयुक्त होने से सेचन का साधन बनाया गया है, परन्तु सेचन की योग्यता वह्नि में नहीं है। अतः यह पदसमूह वाक्य नहीं हो सकता। जल में सेचन की योग्यता के अभाव के होने से ही अग्नि और सेचन के कार्यकारण भावसम्बन्ध की योग्यता नहीं बनती है। इसी तरह पहर पहर में एक-एक कर अलग अलग उच्चारित नहीं होने वाले पद समूह भी सन्निधि के अभाव में वाक्य नहीं बनते। भले ही वे परस्पर साकांक्ष हों तथा योग्यतायुक्त हों।

8.4.1 वाक्य का लक्षण

एवमेकैकशः प्रहरे प्रहरे असहोच्चारितानि 'गामानय' इत्यादि पदानि न वाक्यम्, सत्यामपि परस्पराकांक्षायां सत्यामपि परस्परान्वययोग्यतायां परस्परसान्निध्याभावात् । यानि तु साकांक्षाणि योग्यतावन्ति सन्निहितानि पदानि तान्येव वाक्यम्। यथा 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्' इत्यादि। यथा च नदीतीरे पञ्चफलानि सन्ति इति। यथा च तान्येव गामानय इत्यादि पदान्यविलम्बितोच्चरितानि ।

शब्दार्थ -

असहोच्चरितानि = अलग-अलग उच्चारित, योग्यतावन्ति = योग्यता से युक्त, यजेत = यज्ञ करे, अविलम्बितोच्चरितानि = बिना विलम्ब के उच्चारित किये गए।

गद्यार्थ -

इसी प्रकार एक-एक कर पहर-पहर में (रुक रुक कर) साथ-साथ उच्चारण नहीं किये गये 'गाय को ले आओ' इत्यादि पद वाक्य नहीं कहलाते हैं। भले ही उनमें परस्पर आकांक्षा हो और परस्पर अन्वय की योग्यता हो, फिर भी परस्पर सन्निधि के अभाव में वे पद (समूह) वाक्य नहीं कहलाते हैं। जो आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त पद हैं (पद समूह है), वे ही वाक्य कहलाते हैं। जैसे 'स्वर्ग की इच्छा रखने वाला ज्योतिष्टोम याग करे' इत्यादि (वैदिक वाक्य) और 'नदी के तट पर पाँच फल हैं' इत्यादि (लौकिक वाक्य हैं) और वे ही 'गाय को लाओ' इत्यादि पद जो बिना विलम्ब किये उच्चरित हुए हैं, वाक्य हैं।

व्याख्या -

सन्निधि का अर्थ होता है पदों की परस्पर समीपता। अविलम्ब उच्चारण करना। पदसमूह में परस्पर सानिध्य आवश्यक है। यदि अभी 'गाम्' यह कहा तथा कुछ घण्टे भर बाद 'आनय' कहा जाये तो इसे वाक्य नहीं कहेंगे, क्योंकि शाब्दबोध पूर्णतः नहीं हो पाता है। सन्निधियुक्त पदसमूह के दो उदाहरण दिये गये हैं।

1. ज्योतिष्टोमेन यजेत - यह वैदिक वाक्य है। इस वाक्य के कहने से साध्य-स्वर्ग, साधन-यज्ञ एवं अधिकारी-स्वर्ग की कामना करने वाला व्यक्ति रूप अर्थ प्रतीत होता है। यहाँ पर तीनों में आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि है। अतः ये पद वाक्य है।
2. नदीतीरे पञ्चफलानि सन्ति - यह लौकिक वाक्य है। यहाँ पर भी सभी पदों में आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि है, अतः ये वाक्य है।

इस तरह कहा जा सकता है कि यदि पदसमूह में आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि में से किसी एक का भी अभाव होगा, तो पदसमूह वाक्य नहीं कहलायेगा।

नन्वत्रपि न पदानि साकांक्षाणि किन्त्वर्थाः फलादीनामाधेयानां तीराद्याधारा- किंक्षितत्वात्। न च विचार्यमाणेऽर्था अपि साकांक्षाः। आकांक्षाया इच्छात्मकत्वेन चेतनधर्मत्वात् ।

सत्यम् ! अर्थास्तावत् स्वपदश्रोतर्यन्योन्यविषयाकांक्षाजनकत्वेन साकांक्षा इत्युच्यन्ते। तद्द्वारेण तत्प्रतिपादिकानि पदान्यपि साकांक्षाणीत्युपचर्यन्ते। यद्वा पदान्येवार्थान् प्रतिपाद्यार्थान्तर-विषयाकांक्षाजनकानीत्युपचारात् साकांक्षाणि। एवमर्थाः साकांक्षा परस्परान्वययोग्याः। तद्द्वारेण पदान्यपि परस्परान्वययोग्यानीत्युच्यन्ते।

शब्दार्थ -

आधेयानाम् = आधेयरूप अर्थों को, आधाराकांक्षितत्त्वात् = तीर आदि आधाररूप अर्थों की आकांक्षा से, विचार्यमाणे = विचार करने पर, इच्छात्मकत्वेन = इच्छारूप मानने से, तद्द्वारेण = उन अर्थों के द्वारा, उपचारात् = गौणरूप से।

गद्यार्थ -

(प्रश्न है कि) पूर्वोक्त उदाहरणों में भी पद साकांक्ष नहीं हैं, किन्तु अर्थ ही साकांक्ष हैं, क्योंकि फल आदि आधेयरूप अर्थों को तीरादि - आधाररूप अर्थों की आकांक्षा होती है। वस्तुतः विचार करने पर अर्थ भी साकांक्ष नहीं माने जा सकते, क्योंकि आकांक्षा इच्छारूप है और वह चेतन का धर्म है।

(उत्तर) यह कथन ठीक है। अर्थ अपने वाचक पद को श्रोता के मन में एक-दूसरे पद के विषय में आकांक्षा उत्पन्न करने के कारण साकांक्ष कहे जाते हैं। उन अर्थों के द्वारा पद में साकांक्ष का व्यवहार उपचार से (गौण रूप से) होता है। अथवा पद ही अर्थों का प्रतिपादन करके अन्य अर्थ के विषय में आकांक्षा को उत्पन्न करने वाले हैं। अतः गौण रूप से (उपचार से) साकांक्ष कहे जाते हैं। इसी प्रकार आकांक्षायुक्त अर्थ भी परस्पर अन्वय के योग्य होते हैं। इसी प्रकार अर्थ भी साकांक्ष परस्पर अन्वय योग्य होते हैं और उनके द्वारा पद भी परस्पर अन्वय योग्य कहलाते हैं।

व्याख्या -

न पदानि--- इत्यादि उद्धरण में दो प्रकार की शंका है – 1. शब्द साकांक्ष नहीं होते, अपितु अर्थ साकांक्ष होते हैं। 2. विचार करने पर वस्तुतः अर्थ भी साकांक्ष नहीं होते, क्योंकि यह आकांक्षा इच्छारूप होने से चेतन आत्मा का धर्म है, जड़ पदार्थ का नहीं। जैसे 'नदी तीरे पञ्चफलानि सन्ति' इस वाक्य के घटक तीरे एवं फलानि इत्यादि पदों में आकांक्षा नहीं है, क्योंकि एक-दूसरे के बिना भी इनका अस्तित्व है। अतः आकांक्षा तीर और फल के अर्थ में है। फलपदार्थ तीरपदार्थ में साकांक्ष है। फल पदार्थ यहाँ आधेय है और तीरपदार्थ आधार है। आधेय को आधार की अपेक्षा है। इस तरह फलपदार्थ को (आधेय को) तीरपदार्थ (आधार की) और तीरपदार्थ को फलपदार्थ की आकांक्षा है, क्योंकि आधारता आधेय के विना एवं आधेय आधारता के विना उत्पन्न नहीं हो सकती है। अतः अर्थ ही साकांक्ष है, यह प्रथम प्रश्न का आशय है।

वस्तुतः आकांक्षा अर्थों में भी नहीं रहती है, क्योंकि आकांक्षा चेतन का धर्म है। पदार्थ अचेतन है, अतः उसमें आकांक्षा कैसे रहेगी? जैसे 'घटं पश्य' को सुनने के बाद श्रोता के मन में जिज्ञासा होती है कि घट पदार्थ को देखने या पश्य मात्र कहने से देखने की जिज्ञासा भी श्रोता में ही उत्पन्न होती है। यह जिज्ञासा ही आकांक्षा है। यह शब्द अथवा अर्थ में नहीं रह सकती, श्रोता के मन में रहती है, यह द्वितीय प्रश्न का आशय है।

अर्थास्तावत्--- इत्यादि के द्वारा समाधान दिया गया है कि आकांक्षा चेतन का धर्म है, यह कथन ठीक है। परन्तु आकांक्षा का जनक तो अर्थ ही है। अतः जनकता-सम्बन्ध से अर्थ साकांक्ष माना जाता है। पद अर्थ का वाचक होता है। इसलिए परम्परा से जनकता-सम्बन्ध से पद भी साकांक्ष माने जाते हैं। यही उपचार या गौण-रूप व्यवहार है। उपचार से अर्थ या पद भी साकांक्ष कहे गये हैं।

अथवा पद स्वार्थ का प्रतिपादन कर अन्य अर्थ-विषयक आकांक्षा को उत्पन्न करते हैं। अतः साक्षात् उपचार से पद साकांक्ष माने जाते हैं। इस तरह अर्थ उपचार से परस्पर साकांक्ष एवं परस्पर अन्वय योग्य माने जाते हैं।

सन्निहितत्वं तु पदानामेकेनैव पुंसा अविलम्बेनोच्चरितत्वम्। तच्च साक्षादेव पदेषु सम्भवति नार्थ द्वारा। तेनायमर्थः सम्पन्नः। अर्थप्रतिपादनद्वारा श्रोतुः पदान्तरविषयामर्थान्तरविषयां वाकांक्षां जनयतां प्रतीयमानपरस्परान्वययोग्यार्थप्रतिपादकानां सन्निहितानां तानां पदानां समूहो वाक्यम्।

शब्दार्थ -

पदानाम् = पदों का, अविलम्बेन = बिना विलम्ब के, उच्चरितत्त्वम् = उच्चारण करना है, सम्भवति = होता है, न अर्थद्वारा = अर्थ के द्वारा नहीं। पदान्तरविषयाम् = अन्य पद के विषय में, जनयताम् = उत्पन्न कर रहे, प्रतीयमान परस्परान्वययोग्यार्थप्रतिपादकानाम् = स्पष्टरूप से या अबाधित रूप से, परस्पर अन्वय के योग्य अर्थों का प्रतिपादन करने वाले, सन्निहितानाम् = सन्निधियुक्त/अविलम्ब उच्चारण किये गये, पदानाम् = पदों का, समूहः समूह, वाक्यम् = वाक्य है।

गद्यार्थ -

एक ही पुरुष के द्वारा पदों का विना विलम्ब किये उच्चारण करना सन्निधि है। वह सन्निधि साक्षात् पदों में ही हो सकती है। अर्थ के माध्यम से सन्निधि सम्भव नहीं है। इस विवेचन से वाक्य के लक्षण का यह अर्थ फलित हुआ कि अर्थ के प्रतिपादन के द्वारा (पद) अन्य पद के विषय में अथवा अर्थ के विषय में श्रोता की आकांक्षा को उत्पन्न करने वाले तथा स्पष्ट रूप से प्रतीत हो रहे परस्पर अन्वययोग्य अर्थ का प्रतिपादन करने वाले सन्निधियुक्त पदों का समूह वाक्य है।

व्याख्या -

ग्रन्धकार वाक्य का निष्कृष्ट लक्षण प्रस्तुत करना चाहते हैं। अतः कहते हैं कि आकांक्षा श्रोता में रहती है, किन्तु उपचार से अर्थ या पद आकांक्षा के जनक माने जाते हैं तथा योग्यता साक्षात् अर्थों में रहती है, किन्तु औपचारिक रूप से पदों को योग्यताविशिष्ट कहा जाता है, वैसा सन्निधि में नहीं होता। सन्निधि तो सीधे-सीधे पदों में ही रहती है।

सन्निधि का अर्थ है - एक ही पुरुष के द्वारा बिना बिलम्ब पदों का उच्चारण करना। जब पुरुष आकांक्षायुक्त एवं योग्यतायुक्त पदों का विना विलम्ब किये उच्चारण करेगा तब वहाँ पदों की सन्निधि मानी जायेगी।

अविलम्बेन उच्चारण का अर्थ है - साकांक्ष पदों के उच्चारण के मध्य अनिवार्य काल से अधिक काल का नहीं रहना। उदाहरण - 'भुत्तफ़े पर्वतः देवदत्तः अग्निमान्'। इस पद समूह का भले ही अविलम्बेन उच्चारण हो, किन्तु यहाँ सन्निधि नहीं है। इसमें 'भुंक्ते' पद देवदत्त के प्रति साकांक्ष है तथा 'पर्वतः' पद अग्निमान् के प्रति साकांक्ष है। अन्वय की योग्यता होने से योग्यतायुक्त भी है, किन्तु जो जो पद साकांक्ष एवं योग्यताविशिष्ट हैं, उनमें सन्निधि नहीं है। अतः यह पदसमूह वाक्य नहीं है।

अर्थप्रतिपादन द्वारा पद अपने अर्थ का प्रतिपादन कर अन्य पद के विषय में श्रोता के मन में आकांक्षा को उत्पन्न करते हैं। किसी पद को सुनकर और अर्थ को जानकर श्रोता के मन में अन्य अर्थ की आकांक्षा उत्पन्न होती

है। इस तरह पद अर्थप्रतिपादन के माध्यम से अन्य अर्थ के विषय की आकांक्षा का जनक होता है। इस तरह 'प्रतीयमानपरस्परान्वययोग्यार्थप्रतिपादकानां सन्निहितानां पदानां समूहो वाक्यम्' यह निष्कृष्ट वाक्य लक्षण बनता है।

8.4.2 पद का लक्षण

पदं च वर्णसमूहः। समूहश्चात्र एकज्ञानविषयीभावः। एवं च वर्णानां क्रमवतामाशुतरविनाशित्वेन एकदाऽनेकवर्णानुभवासम्भवात् पूर्वपूर्ववर्णाननुभूय अन्त्यवर्णश्रवणकाले पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनित-संस्कारसहकृतेन अन्त्यवर्णसम्बन्धेन पदव्युत्पादनसमयग्रहानुगृहीतेन श्रोत्रेणैकदैव सदसदनेकवर्णावगाहिनी पदप्रतीतिर्जन्यते, सहकारिदाढ्यात्, प्रत्यभिज्ञानवत् । प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षे ह्यातीतापि पूर्वावस्था स्फुरत्येव । ततः पूर्वपूर्वपदानुभवजनितसंस्कारसहकृतेनान्त्यपदविषयेण श्रोत्रेन्द्रियेण पदार्थप्रत्ययानुगृहीतेनानेक- पदावगाहिनी वाक्यप्रतीतिः क्रियते ।

शब्दार्थ -

एकज्ञानिवषयीभावः = एक ज्ञान का विषय बनना, क्रमवताम् = क्रम से उत्पन्न, अनुभूय = अनुभव करके, अनुभवजनितसंस्कार = अनुभव से उत्पन्न संस्कार, सहकारिदार्थात् = सहयोगी संस्कार की दृढ़ता से।

गद्यार्थ -

वर्णों का समूह पद कहलाता है। यहाँ पर समूह का अर्थ 'एक ज्ञान का विषय होना है'। इस प्रकार क्रम से उत्पन्न होने वाले वर्ण अतिशीघ्र विनष्ट हो जाने वाले होते हैं, अतः एक काल में अनेक वर्णों का ज्ञान होना सम्भव नहीं होता, फिर भी पूर्व में उच्चरित वर्णों का अनुभव करके अन्तिम वर्ण के सुनने के काल में पूर्व पूर्व में उच्चरित वर्णों के अनुभव से उत्पन्न संस्कार के सहयोग से सम्बद्ध, अन्तिम वर्ण से सम्बद्ध और पदबोध के संकेत-ज्ञान से अनुगृहीत श्रोत्र के द्वारा एक ही काल में नष्ट एवं विद्यमान अनेक वर्णों का ग्रहण करने वाली पद की प्रतीति उत्पन्न हो जाया करती है। ऐसा संस्कार की दृढ़ता से होता है, जैसे कि 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष में होता है। प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष में अतीत काल की पूर्व अवस्था स्फुरित (भासित) होती ही है। उस प्रतीति के अनन्तर पूर्व पूर्व में उच्चारण किये गये पदों के अनुभव से उत्पन्न संस्कार के सहयोग से युक्त अन्तिम पद को ग्रहण करने वाले पदों के अर्थों के बोध से अनुगृहीत, श्रोत्र-इन्द्रिय के द्वारा अनेक पदों का ग्रहण करने वाली (पदसमूह) वाक्य की प्रतीति होती है।

व्याख्या -

'वर्णसमूहः पदम्' यह पद का लक्षण है। नैयायिक शब्द को अनित्य मानते हैं। प्रथम क्षण में वर्ण उत्पन्न होता है, द्वितीय क्षण में स्थिति होती है एवं तृतीय क्षण में वर्ण नष्ट हो जाता है। अर्थात् द्वितीय वर्ण की उत्पत्ति काल में प्रथम का नाश होता है। इसी क्रम से तृतीय वर्ण के उत्पत्ति काल में द्वितीय का नाश होता है। इस तरह वर्ण क्रमिक उत्पत्ति एवं विनाश वाले हैं। अतः एक काल में अनेक वर्षों के समूह की प्रतीति हो ही नहीं सकती है। तब 'वर्णसमूहः पदम्' यह कहना नितान्त असंगत प्रतीत होता है। यही प्रश्न 'पदसमूहो वाक्यम्' पर भी उपस्थित होता है। पद उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं। अन्तिम पद के श्रवण काल में पूर्व पूर्व में उच्चारित पद अविद्यमान हैं, तब उनका परस्पर अन्वय कैसे होगा? जबकि आकांक्षा, परस्परान्वय, योग्यता एवं सन्निधि वाला पदसमूह वाक्य कहलाता है। सत् एवं असत् का परस्परान्वय न होने से पदलक्षण एवं वाक्यलक्षण असंगत प्रतीत होते हैं।

'समूहश्चात्र एकज्ञानविषयीभावः' यहाँ पद और वाक्य के विषय में प्रयुक्त समूह का अर्थ एकज्ञान का विषय होना है। 'एकं पदम् इति ज्ञानविषयत्वम्' यह व्युत्पत्ति है। अतः एक ज्ञान में भासित होना ही समूह है। ऐसे वर्णसमूह को पद तथा पदसमूह को वाक्य कहेंगे जो एक ज्ञान में भासित हों। यह समूह बुद्धिकृत होता है।

पुनः एक अन्य प्रश्न पैदा होता है कि बुद्धिकृत समूह भी नहीं बन सकता है, क्योंकि अनेकों वर्ण एक ज्ञान का विषय नहीं हो सकते या अनेक वर्णों का एक साथ अनुभव नहीं हो सकता। कारण यह है कि वर्ण क्रम से उत्पन्न होते हुए अतिशीघ्र विनष्ट हो जाते हैं। तब व्यक्ति एक काल में अनेक वर्णों का उच्चारण कैसे करेगा?

(समाधान) 'पूर्वपूर्व--- जन्यते' इत्यादि द्वारा बताया जाता है कि किसी भी एक पद के घटक वर्ण जिस क्रम से उत्पन्न होते हैं उसी क्रम से श्रोत्र द्वारा उनका अनुभव किया जाता है और उसी क्रम से अनुभव द्वारा श्रोता में संस्कार उत्पन्न हो जाता है। इस तरह उस पद के अन्तिम वर्ण के कर्ण तक पहुँचने पर अन्तिम वर्ण से सम्बद्ध हुआ (कर्ण) श्रोत्र पूर्व पूर्व में उच्चरित वर्णों के अनुभवों से उत्पन्न हुए संस्कारों के सहयोग से नष्ट एवं विद्यमान सभी वर्णों को पद का विषय बनाता है। इस विषयीभाव में 'यह घट है, यह पट है' इत्यादि संकेतग्रह को श्रोता ने जो पद के विषय में किया था अर्थात् घट-पटरूपों में पदों को जाना था, उसका सहयोग भी प्राप्त होता है। इसका फल यह होता है कि श्रोत्र एक काल में ही उत्पन्न होकर नष्ट हुए और उस समय अनुभव किए जा रहे अन्तिम वर्ण का ग्रहण कर घट आदि पद की प्रतीति करा देती है।

पुनः प्रश्न उठता है कि जिस विषय के अनुभव से जो संस्कार उत्पन्न होता है, वह संस्कार उस विषय का स्मरण मात्र कराता है, उससे भिन्न कार्य में संस्कार की सामर्थ्य नहीं होती। अतः संस्कारों के सहयोग से भी विनष्ट एवं विद्यमान वर्णों का एक साथ ग्रहण कराने वाली प्रतीति कैसे उत्पन्न होगी?

प्रत्यभिज्ञा नामक प्रत्यक्ष में इन्द्रिय के सहकारी संस्कार की दृढ़ता से पूर्वावस्था तथा विद्यमानावस्था का एक साथ बोध हो जाता है। उदाहरण के लिए 'सोऽयं देवदत्तः जयपुरे दृश्यते यः पूर्वं पाटलिपुत्रे दृष्टः' यह वही देवदत्त जयपुर में दिखाई पड़ता है जो पहले पाटलिपुत्र में देखा गया था। यह प्रत्यभिज्ञा है। इस प्रत्यभिज्ञा में संस्कार निमित्त है। यह संस्कार नेत्र का सहकारी हो गया है और चाक्षुषप्रत्यक्ष से 'सोऽयं देवदत्तः' की प्रत्यभिज्ञा हुई। इसमें पूर्व में अनुभूत की अतीतावस्था एवं वर्तमान में अनुभव की जा रही अवस्था दोनों का स्फुरण हुआ है। इसमें नेत्रेन्द्रिय के सहकारी संस्कार की दृढ़ता से पूर्वावस्था एवं वर्तमानावस्था दोनों का भान हुआ है।

इसी प्रकार पूर्व पूर्व में उच्चारित वर्णों के संस्कार की दृढ़ता से श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा सत्-असत् विद्यमान नष्ट वर्णों का भान हो जाता है। यहाँ केवल इन्द्रिय या संस्कार में इस प्रकार की प्रतीति की सामर्थ्य नहीं है, दोनों मिलकर इस प्रतीति की सामर्थ्य वाले हो जाते हैं।

इसी वर्णसमूह रूप पद की प्रतीति के समान पदसमूह रूप वाक्य की प्रतीति को भी जाना जा सकता है। 'ततः पूर्वपूर्व--- वाक्य प्रतीतिः क्रियते' से बता रहे हैं कि श्रोत्रेन्द्रिय से वाक्य की प्रतीति की जाती है अर्थात् वाक्यघटक अन्तिम पद के ग्रहण काल में पूर्व पूर्व पदों के अनुभव से उत्पन्न संस्कार के सहयोग वाले अन्तिम पद को एकज्ञान का विषय बनाने वाली श्रोत्रेन्द्रिय जो श्रोता को होने वाली पदार्थ की प्रतीति से अनुगृहीत है, वह श्रोत्रेन्द्रिय अनेक नष्ट एवं विद्यमान पद को ग्रहण कराने वाली वाक्यप्रतीति को कराती है।

तदिदं वाक्यमाप्तपुरुषेण प्रयुक्तं सच्छब्दनामकं प्रमाणम्। फलन्त्वस्य वाक्यार्थज्ञानम्। तच्चैतच्छब्दलक्षणं प्रमाणं लोके वेदे च समानम्। लोके त्वयं विशेषो यः कश्चिदेवाप्तो भवति, न सर्वः। अतः किञ्चिदेव लौकिकं वाक्यं प्रमाणं यदाप्तवक्तृकम्। वेदे तु परमाप्तश्रीमहेश्वरेण कृतं सर्वमेव वाक्यं प्रमाणं, सर्वस्यैवाप्तवाक्यत्वात् ।

वर्णितानि चत्वारि प्रमाणानि। एतेभ्योऽन्यन्न प्रमाणं, प्रमाणस्य सतोऽत्रैवान्तर्भावात् ।

शब्दार्थ -

लोके वेदे च = लोक और वेद में, समानम् = समान है, आप्तो भवति = आप्तपुरुष होता है, किञ्चित् एव= कुछ ही, यदाप्तवक्तृकम् = जो आप्तपुरुष द्वारा बोला जाता है, कृतम् = रचा गया, अन्तर्भावात् = अन्तर्भाव हो जाता है।

गद्यार्थ -

यही वाक्य आप्त पुरुष द्वारा प्रयुक्त होता हुआ शब्द नामक प्रमाण कहलाता है। इस शब्द प्रमाण का फल वाक्यार्थ का ज्ञान है। यह शब्द नामक प्रमाण लोक और वेद में समान है। लोक में अन्तर यह है कि कुछ ही पुरुष आप्त होता है सभी आप्त नहीं होते। इसलिए कुछ ही लौकिक वाक्य प्रमाण होता है जो आप्तपुरुष द्वारा कहा गया होता है। वेद में तो सभी वाक्य परम-आप्त श्री महेश्वर द्वारा रचे गए हैं। अतः सभी वाक्य आप्तवाक्य होने से प्रमाण हैं।

चारों प्रमाणों का वर्णन कर दिया गया। इन चारों से भिन्न कोई प्रमाण नहीं है। यदि भिन्न कोई प्रमाण हो तो उसका इन्हीं चारों में अन्तर्भाव हो जाता है।

व्याख्या -

'आप्तवाक्यं शब्दः' इसमें शब्द लक्ष्य है तथा आप्तवाक्यम् लक्षण है। इस शब्द-प्रमाण का फल है - वाक्यार्थज्ञान, अर्थात् आप्तशब्द को सुनकर होने वाली प्रमा। यह लक्षण वेद तथा लोक में समान ही है। अन्तर इतना है कि यथाभूत अर्थ के ज्ञाता बहुत हो सकते हैं, किन्तु वक्ता कुछ ही होते हैं। अतः लोक में कुछ ही आप्तोक्त वाक्य प्रमाण हैं, सभी नहीं। वेद को नैयायिक परमेश्वरकृत मानते हैं। परमेश्वर समस्त पदार्थों के रचयिता होने से द्रष्टा भी हैं, रागद्वेषादि से रहित हैं। अतः परमेश्वरोक्त सभी वेदवाक्य यथार्थ के ज्ञापक होने से प्रमाण हैं। इस तरह शाब्दी प्रमा या वाक्यार्थबोध का करण शब्द प्रमाण है।

प्रमाण चार ही हैं - प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द। इनके अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं है। अन्य सभी का इन्हीं चारों में अन्तर्भाव हो जाता है। चार्वाक शब्द को प्रमाण नहीं मानता। बौद्ध शब्द प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव करते हैं। वैशेषिक लौकिक शब्द प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव करते हैं, किन्तु वैदिकवाक्य को पृथक् शब्दप्रमाण मानते हैं। शब्द को प्रमाण मानने वाले न्याय, सांख्य, योग, वेदान्त शास्त्र तथा कुमारिल के अनुयायी मीमांसक हैं।

चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता है। बौद्ध प्रत्यक्ष एवं अनुमान को मानते हैं। सांख्ययोग में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण हैं। प्रभाकर मिश्रानुयायी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द एवं अर्थापत्ति इन पाँच को मानते हैं। भाट्ट मीमांसक एवं वेदान्त छः प्रमाण मानते हैं। अभाव को उपर्युक्त पाँच के अतिरिक्त प्रमाण मानते हैं। पौराणिक लोग ऐतिह्य और सम्भव नामक दो अन्य प्रमाणों को जोड़कर आठ प्रमाण मानते हैं। न्याय की परम्परा में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द ये चार ही प्रमाण हैं।

अर्थापत्ति का अनुमान में, अभाव का प्रत्यक्ष में, ऐतिह्य का शब्द में एवं सम्भव का अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

स्वयं आकलन कीजिए –

अभ्यास प्रश्न - 2

1. शब्द प्रमाण किसे कहते हैं?
2. आप्त किसे कहा जाता है?
3. आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि (आसत्ति) युक्त पदसमूह को क्या कहते हैं?
4. सन्निधि किसे कहते हैं?
5. पद किसे कहते हैं?
6. शाब्द प्रमाण का फल क्या है?
7. आकांक्षा क्या है?

8.5 सारांश

इस इकाई में उपमान प्रमाण तथा शब्द प्रमाण का व्याख्यान किया गया है। जब प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से ज्ञान की प्राप्ति न हो तो उस समय उपमान प्रमाण तथा शब्द प्रमाण का का सहारा लिया जाता है। अतिदेश वाक्य के अर्थ के स्मरण के साथ गोसादृश्य-पिण्ड का ज्ञान उपमान प्रमाण है। जैसे नील गाय को नहीं जाने वाला नगरवासी 'जैसी गाय होती है वैसी ही नील गाय भी होती है' इस प्रकार के वाक्य के स्मरण के साथ गो की समानता से युक्त पिण्ड का ज्ञान उपमान प्रमाण कहलाता है। प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाणों से उपमिति रूप फल की प्राप्ति न होने से उपमान को नैयायिक पृथक् प्रमाण मानते हैं।

आतवाक्य को शब्द प्रमाण कहा जाता है अर्थात् जो अर्थ जैसा है उसे वैसा ही बताने वाला पुरुष आप्त कहलाता है। हमारे सभी पुरातन वेद, पुराण, उपनिषद् इत्यादि ग्रन्थ आप्त वाक्य हैं। लेकिन सभी आप्त वाक्य शब्द प्रमाण नहीं होते। आशा है आप लोग इससे अवश्य लाभान्वित होंगे।

8.6 कठिन शब्दावली

अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृतम् = अतिदेश वाक्य के अर्थ के स्मरण के साथ, सेकरूपं = सिञ्चनरूप, सन्निहितानि = सन्निधियुक्त, इत्युपचर्यन्ते = ऐसा उपचार से कथन होता है, अर्थप्रतिपादनद्वारा = अर्थ के प्रतिपादन के द्वारा, पदव्युत्पादनसमयग्रहानुगृहीतेन = पदबोध के संकेत ग्रह से अनुगृहीत, आशुतर = अत्यन्त शीघ्र।

8.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर -

अभ्यास प्रश्न - 1

1. गोसदृश पिण्डज्ञान को
2. उपमिति
3. उपमान प्रमाण का

अभ्यास प्रश्न - 2

1. आप्त वाक्य को
2. जो अर्थ जैसा है उसे वैसा ही बताने वाला पुरुष
3. वाक्य
4. एक पुरुष के द्वारा बिना विलम्भ किए पदों के उच्चारण को

5. वर्णों के समूह को
6. वाक्यार्थ का ज्ञान
7. एक पद को सुनने के बाद दूसरे पद को सुनने की इच्छा

8.8 सहायक ग्रन्थ -

1. तर्कभाषा, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणि, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी-221001, संस्करण-12, 2013.
2. तर्कभाषा, टीकाकार, पण्डित श्रीरुद्रधर झा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-221001, संस्करण-7, 2021.
3. तर्कभाषा, व्याख्याकार डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-221001, संस्करण-2013.
4. तर्कभाषा, व्याख्याकार एवं सम्पादक डॉ. अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर-302001, संस्करण-2021.
5. तर्कभाषा, व्याख्याकार श्रीबदरीनाथशुक्ल, मोतीलाल बनारसी दास, चौक वाराणसी, प्रथम संस्करण-1968.

8.9 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न -

1. उपमान प्रमाण किसे कहते हैं? तर्कभाषा के आधार पर उपमान प्रमाण के भेदों का वर्णन करें।
2. शब्द प्रमाण से क्या अभिप्राय है? विस्तारपूर्वक उल्लेख करें।

इकाई - नौ

अर्थापत्ति और अभाव प्रमाण निरूपण

संरचना

9.1 प्रस्तावना
9.2 उद्देश्य
9.3 अर्थापत्ति प्रमाण
- स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न -1

9.4 अभाव प्रमाण
9.4.1 व्याप्य व्यापकभाव
9.4.2 कार्यकारण भाव
- स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न –2

9.5 सारांश
9.6 कठिन शब्दावली
9.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर
9.8 सहायक ग्रन्थ
9.9 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियो, इस इकाई में **अर्थापत्ति प्रमाण, उसका लक्षण एवं उदाहरण** देकर चर्चा की गई है। इसके साथ-साथ अभाव प्रमाण और नैयायिकों द्वारा उसके खण्डन का वर्णन किया गया है। अर्थापत्ति और अभाव प्रमाण को नैयायिकों ने न मानने का तथ्यों सहित वर्णन किया है।

9.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से विद्यार्थियों को नम्नलिखित जानकारी उपलब्ध होगी –

- अर्थापत्ति प्रमाण निरूपण,
- अभाव प्रमाण विचार

9.3 अर्थापत्ति प्रमाण

नन्वर्थापत्तिरपि पृथक् प्रमाणमस्ति। अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनम् 'अर्थापत्तिः'। तथाहि, पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते इति दृष्टे श्रुते वा रात्रिभोजनं कल्प्यते। दिवाऽभुञ्जानस्य पीनत्वं रात्रिभोजनमन्तरेण नोपपद्यतेऽतः पीनत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्तिरेव रात्रिभोजने प्रमाणम्। तच्च प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नं, रात्रिभोजनस्य प्रत्यक्षाद्यविषयत्वात् ।

शब्दार्थ -

पृथक् = प्रत्यक्षादिकों से भिन्न, पीनो = मोटा, कल्प्यते = कल्पना की जाती है, दिवाऽभुञ्जानस्य = दिन में नहीं खाने वाले का, पीनत्वम् = मोटा होना, उपपद्यते = संगत होना, प्रत्यक्षादिभ्यः = प्रत्यक्ष आदि से, प्रत्यक्षाद्यविषयत्वात् = प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय न बनने से।

गद्यार्थ -

अर्थापत्ति भी एक पृथक् प्रमाण है। संगत न हो रहे अर्थ को देखने से उसको संगत बैठाने के लिए एक अन्य अर्थ की कल्पना ही अर्थापत्ति प्रमाण है। जैसे कि देवदत्त दिन में नहीं खाता है, लेकिन मोटा है। ऐसा देखने या सुनने पर रात्रिभोजनरूप अर्थ की कल्पना की जाती है। दिन में भोजन नहीं करने वाले का पीनत्व रात्रिभोजन के विना संगत नहीं बैठता है। अतः पीनत्व की रात्रिभोजन के बिना संगति के नहीं बैठने से उत्पन्न अर्थापत्ति ही रात्रि के भोजन में प्रमाण होता है। वह अर्थापत्ति प्रत्यक्षादि से भिन्न है, क्योंकि रात्रिभोजन प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय नहीं है।

व्याख्या -

प्रमेय पदार्थ की सिद्धि के लिए नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द-प्रमाण को ही मानते हैं। परन्तु मीमांसक एवं वेदान्ती अर्थापत्ति को भी प्रमाण मानते हैं। मीमांसक के अर्थापत्ति प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव करने से पूर्वपक्ष के रूप में ही अर्थापत्ति का स्वरूप उदाहरण सहित बताया जा रहा है।

अर्थ का आपादन या कल्पना अथवा जिससे अर्थान्तर की कल्पना की जाये, वह अर्थापत्ति प्रमाण है। उदाहरणार्थ 'पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुंक्ते' यह देवदत्त दिन में नहीं खाता है, फिर भी मोटा है। यहाँ पर यह विचार किया जाता है कि दिन में नहीं खाता है, फिर भी मोटा कैसे है? कुछ खाये बिना मोटा नहीं हो सकता। पीनत्व अर्थ की संगति बिठाने के लिए अर्थान्तर की कल्पना करनी पड़ती है। वह अर्थान्तर है - रात्रै पर्याप्तं भुंक्ते अर्थात् रात्रि में पर्याप्त खाता है। इस तरह रात्रि भोजन रूप अर्थान्तर की कल्पना करने से देवदत्त में पीनत्व अर्थ संगत हो जाता है। यहाँ जो प्रमा होती है, वह है 'रात्रिभोजन'। इसे प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान या शब्द प्रमाण सिद्ध नहीं करते। किन्तु कोई प्रमाण चाहिए, वह है 'अर्थापत्ति'। इसी बात को 'तच्च प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नं, रात्रिभोजनस्य प्रत्यक्षाद्यविषयत्वात्' इस अनुमानवाक्य से मीमांसक सिद्ध करते हैं।

अर्थापत्ति के लिए अनुपपन्न हो रहे अर्थ को सुनना या देखना कारण हो सकता है। अनुपपन्न हो रहे अर्थ को सुनकर या देखकर किसी अन्य अर्थ की कल्पना की जाती है। इस तरह 'दर्शनात्' का अर्थ देखने से/सुनने से यह होता है। इसी की व्याख्या में तर्कभाषाकार 'पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुंक्ते इति दृष्टे श्रुते वा' ऐसा कहते हैं। यह अर्थापत्ति प्रत्यक्षादि से भिन्न है।

देवदत्त को रात्रिभोजन करते नहीं देखा। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के अभाव में प्रत्यक्षप्रमाण रात्रि भोजनरूप अर्थ को सिद्ध नहीं करता है। यहाँ अनुमान भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि रात्रिभोजन के साथ व्याप्ति का निश्चय नहीं होता है तथा लिंगपरामर्श के विना ही यह अर्थ जाना जाता है। अतिदेशवाक्यार्थस्मरण के साथ सादृश्यज्ञान का अभाव होने से उपमान प्रमाण भी यहाँ नहीं हो सकता। आप्तवाक्य के न होने से यहाँ शब्दप्रमाण भी नहीं हो सकता। अतः अर्थापत्ति पृथक् प्रमाण है, जो रात्रिभोजन रूप अर्थ का ज्ञान करा देता है। यह मीमांसकों का मत है।

नैतत्। रात्रिभोजनस्यानुमानविषयत्वात्। तथाहि अयं देवदत्तो रात्रै भुंक्ते, दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्। यस्तु न रात्रै भुंक्ते नासौ दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनो, यथा दिवारात्रै चाऽभुञ्जानोऽपीनो, न चायं तथा, तस्मान्न तथेति केवलव्यतिरेक्यनुमानेनैव रात्रिभोजनस्य प्रतीयमानत्वात्। किमर्थमर्थापत्तिः पृथक्त्वेन कल्पनीया।

शब्दार्थ -

रात्रिभोजनस्य = रात्रि का भोजन, अनुमानविषयत्वात् = अनुमान प्रमाण का विषय होने से, भुंक्ते = खाता है, अभुञ्जानः = नहीं खाने वाला, प्रतीयमानत्वात्= प्रतीति होती है, पृथक्त्वेन = पृथक् रूप से, कल्पनीया = कल्पना की जाए।

गद्यार्थ -

यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि रात्रिभोजन अनुमान प्रमाण का विषय है। जैसे यह देवदत्त रात्रि में भोजन करता है (प्रतिज्ञा), क्योंकि दिन में भोजन न करने पर भी यह मोटा है (हेतु), जो रात्रि में नहीं खाता वह दिन में नहीं खाने पर मोटा नहीं होता। जैसे दिन और रात्रि में नहीं खाने वाला देबला होता है (उदाहरण)। यह देवदत्त वैसा है, दुर्बल नहीं है (उपनय), इसलिए यह वैसा (दिन और रात्रि में भोजन नहीं करने वाला) नहीं है, अर्थात् रात्रि में भोजन करता है (निगमन)। इस प्रकार के केवलव्यतिरेकी अनुमान से ही रात्रिभोजन रूप अर्थ की प्रतीति हो जाने से अर्थापत्ति को अलग प्रमाण क्यों माना जाये।

व्याख्या -

नैयायिक अर्थापत्ति प्रमाण का अनुमान में ही अन्तर्भाव कर इसे चार प्रमाणों से अतिरिक्त नहीं मानते हैं। ऊपर मूल में व्यतिरेकी अनुमान के पञ्चावयव वाक्य के प्रयोग द्वारा इसे सिद्ध कर दिया है। यहाँ पर साध्याभाव के साथ साधानाभाव की व्याप्ति कही गई है। साध्याभाव-रात्रिभोजन का अभाव है तथा साधनाभाव दिन में न खाने वाले का पीनत्वाभाव है। यहाँ उदाहरण केवलव्यतिरेकी है।

स्वयं अभ्यास कीजिए –

अभ्यास प्रश्न – 1

1. संगत अर्थ को बैठाने के लिए जिस अन्य अर्थ की कल्पना की जाती है, उसे क्या कहते हैं?
2. अर्थापत्ति प्रमाण को कौन मानता है?
3. नैयायिकों ने अर्थापत्ति प्रमाण का अन्तर्भाव किस प्रमाण में किया है?

9.4 अभाव प्रमाण

नन्वभावाख्यमपि पृथक् प्रमाणमस्ति। तच्चाभावग्रहणायाघ्गीकरणीयम्। तथाहि घटाद्यनुपलब्ध्या घटाद्यभावो निश्चीयते। अनुपलब्धिश्चोपलब्धेरभावः। इत्यभावप्रमाणेन घटाद्यभावो गृहाते।

नैतत्। यद्यत्र घटोऽभविष्यत्तर्हि भूतलमिवाद्रक्ष्यदित्यादितर्कसहकारिणाऽनुपलम्भसनाथेन प्रत्यक्षेणैवा-भावग्रहणात् ।

शब्दार्थ -

अभावाख्यम् अपि = अभाव नाम का भी, अंगीकरणीयम् = स्वीकार करना चाहिए, निश्चीयते = निश्चित किया जाता है, अभावप्रमाणेन = अभाव प्रमाण के द्वारा, घटाद्यभावः = घट आदि के अभाव का, अद्रक्ष्यत् = दिखाई देता है।

गद्यार्थ -

अभाव नाम का भी एक पृथक् प्रमाण है। उस अभाव-प्रमाण को अभावपदार्थ के लिए स्वीकार किया जाना चाहिए। जैसे कि घट आदि पदार्थों की अनुपलब्धि से घटादि के अभाव का निश्चय होता है और अनुपलब्धि कहते हैं उपलब्धि के अभाव को। इस तरह अभावप्रमाण से घटादि के अभाव का ग्रहण होता है।

नैयायिक का कहना है कि यह ठीक नहीं है। यदि यहाँ पर घट होता तो भूतल के समान दिखाई देता, इत्यादि तर्क के सहयोगी अनुपलब्धि से युक्त प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा ही अभावपदार्थ का ग्रहण होता है।

व्याख्या -

मीमांसक एवं वेदान्ती अभाव को पृथक् प्रमाण मानते हैं। वे मानते हैं कि पदार्थ की अनुपलब्धि से जो पदार्थ का अभावज्ञान होता है, वह अनुपलब्धि प्रमा है। इसका कारण है अनुपलब्धि और अनुपलब्धि क्या है? अनुपलब्धि तो उपलब्धि का अभाव ही है। जैसे 'इह भूतले घटो नास्ति' अर्थात् यहाँ भूतल में घट नहीं है। यह जो घटाभाव का ज्ञान होता है, वह अभाव नामक प्रमाण से होता है। व्यक्ति मानता है कि यदि यहाँ घट होता तो दिखाई देता, चूँकि वह घट नहीं दिखता है, इसलिए मानना पड़ता है कि यहाँ घट नहीं है। इस प्रकार यहाँ घटाभाव का ज्ञान होता है।

यह अभाव प्रत्यक्षादि का विषय नहीं है। प्रत्यक्ष इसलिए नहीं है कि इन्द्रिय का व्यापार भूतलादि के ग्रहण में क्षीण हो जाता है और अभाव के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष नहीं हो सकता। अभाव के साथ व्याप्ति नहीं बनने से अनुमान नहीं किया जा सकता है। उपमान एवं शब्द का भी अभाव होने से अभाव एक स्वतन्त्र प्रमाण है।

नैयायिक 'नैतत्---' इत्यादि द्वारा अभाव का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव करते हैं। वे कहते हैं कि अभाव का ग्रहण प्रत्यक्षप्रमाण से ही हो जाता है। नैयायिकों का मानना है कि अभाव के ग्रहण में प्रत्यक्ष के दो सहयोगी कारण होते हैं – 1. यदि यहाँ घट होता तो भूतल के समान दिखाई देता (तर्क), 2. प्रकाश, इन्द्रियसन्निकर्ष आदि सभी प्रकार की उपलब्धि के साधनों के रहते हुए भी प्रत्यक्ष योग्य घट का प्रत्यक्ष नहीं होता, यह अनुपलब्धि दूसरा कारण है। इससे सिद्ध होता है कि घटाभाव के ग्रहण में करण, नेत्र आदि इन्द्रिय (प्रत्यक्ष) ही है। इसके विना अभाव का ग्रहण सम्भव नहीं है। इस तरह 'यदि घटः अभविष्यत्तर्हि अद्रक्ष्यत्' इत्यादि तर्क एवं घटादि की अनुपलब्धि ये दोनों चक्षु के सहकारी बनते हैं एवं प्रत्यक्ष (इन्द्रिय) द्वारा ही अभाव का ग्रहण होता है। अतः अभाव नामक पृथक् प्रमाण को मानना उचित नहीं है।

नन्विद्रियाणि सम्बद्धार्थग्राहकाणि। तथाहीन्द्रियाणि वस्तुप्राप्यप्रकाशकारीणि ज्ञानकारणत्वादालोकवत्। यद् वा चक्षुःश्रोत्रेवस्तुप्राप्यप्रकाशकारिणी बहिरिन्द्रियत्वात् त्वगादिवत्। त्वगादीनान्तु प्राप्य प्रकाशकारित्वमुभयवादिसिद्धमेव ।

न चेन्द्रियाभावयोः सम्बन्धोऽस्ति, संयोगसमवायौ हि सम्बन्धौ, न च तौ तयोः स्तः। द्रव्ययोरेव संयोग इति नियमात्। अभावस्य च द्रव्यत्वाभावात्। अयुतसिद्ध्यभावान्न समवायोऽपि।

शब्दार्थ -

सम्बद्धार्थग्राहकाणि = सम्बद्ध अर्थ का ही ग्रहण कराती हैं, प्रकाशकारीणि = प्रकाशित करने वाली, ज्ञानकारणत्वात् = ज्ञान का कारण होने, बहिरिन्द्रियत्वात् = बाह्य इन्द्रिय होने से।

गद्यार्थ -

(पूर्वपक्षी नैयायिक से कहता है कि) इन्द्रियाँ अपने से सम्बद्ध अर्थ को ग्रहण कराती हैं। जैसे कि अनुमान है - इन्द्रियाँ पदार्थ को प्राप्त करके प्रकाशित करती हैं (प्रतिज्ञा), क्योंकि वे ज्ञान की कारण हैं (हेतु), आलोक के समान (उदाहरण)। अथवा नेत्र और श्रोत्र पदार्थ को प्राप्त करके प्रकाशित करने वाली हैं (प्रतिज्ञा), क्योंकि वे बाह्य इन्द्रियाँ हैं (हेतु), त्वक् आदि इन्द्रियाँ वस्तु को प्राप्त करके प्रकाशित करती हैं (उदाहरण), त्वक् आदि इन्द्रियों का वस्तु (पदार्थ) को प्राप्त करके प्रकाशित करने की बात तो दोनों वादियों (पूर्वपक्षी एवं सिद्धान्ती) को स्वीकार ही है।

इन्द्रिय और अभाव में कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि (संसार में) संयोग और समवाय दो ही सम्बन्ध हैं, परन्तु ये दोनों इन्द्रिय और अभाव में हैं ही नहीं। यह नियम है कि दो द्रव्यों का ही संयोग सम्बन्ध होता है और अभाव तो द्रव्य है ही नहीं। इन्द्रिय और अभाव में अयुतसिद्धता के न होने से समवायसम्बन्ध भी नहीं हो सकता है।

व्याख्या -

नैयायिक तथा मीमांसक दोनों इस बात पर पर सहमत हैं कि इन्द्रियाँ सम्बद्ध अर्थ का ग्रहण कराती हैं। इसी बात को पकड़कर पूर्वपक्षी मीमांसक कहना चाहते हैं कि इन्द्रिय द्वारा अभाव का ग्रहण नहीं हो सकता। अतः प्रत्यक्ष से अभाव का ग्रहण न होने से इसे पृथक् प्रमाण मानना चाहिए। पूर्वपक्षी का अनुमानवाक्य है - 'इन्द्रियाणि वस्तु प्राप्य प्रकाशकारीणि (प्रतिज्ञा) ज्ञानकारणत्वात् (हेतु) आलोकवत् (उदाहरण), इस अनुमान द्वारा सिद्ध किया जाता है कि जो ज्ञान का कारण होता है वह किसी पदार्थ से सम्बद्ध होकर ही उसका ज्ञान करा सकता है। जैसा कि प्रकाश। यह चाक्षुष प्रत्यक्षप्रमा में कारण है, यह जिस पदार्थ पर पड़ेगा वह पदार्थ चाक्षुष हो जायेगा।

उपर्युक्त अनुमान में जो जो ज्ञान का कारण है, वह वह वस्तु को प्राप्त कर प्रकाशित करता है, यह व्याप्ति बनेगी, परन्तु ऐसी व्याप्ति होने में बाधा है। मन भी ज्ञान में कारण है, यह शरीर के भीतर है, यह कैसे वस्तु के पास जाकर उससे सम्बद्ध होगा। इस प्रकार का दोष देखने पर दूसरा अनुमानवाक्य प्रयुक्त हुआ - 'यद्वा चक्षुः श्रोत्रे--- त्वगादिवत्' आशय है कि बाह्य इन्द्रियाँ वस्तु को प्राप्त करके प्रकाशित करती हैं। जैसा कि त्वक् आदि इन्द्रिय। यहाँ आदिपद से घ्राण व रसना का ग्रहण होता है। यह बात पूर्वपक्षी एवं सिद्धान्ती दोनों मानते हैं। चक्षु एवं श्रोत्र भी बाह्य इन्द्रियाँ हैं। ये भी अपने से सम्बद्ध अर्थ को अर्थात् वस्तु को प्राप्त करके ही प्रकाशित करेंगी। अभाव में कोई वस्तु है ही नहीं जिससे इन्द्रिय सम्बद्ध हो। अतः अभाव के ग्रहण में प्रत्यक्ष असमर्थ है। अभाव को पृथक्प्रमाण मानना उचित है, यह पूर्वपक्षी के कथन का आशय है।

विशेषणविशेष्यभावश्च सम्बन्ध एव न सम्भवति, भिन्नोभयाश्रितैकत्वाभावात्। सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्नो भवत्युभयसम्बन्ध्याश्रितश्चैकश्च। यथा भेरीदण्डयोः संयोगः। स हि भेरीदण्डाभ्यां भिन्नस्तदुभयाश्रितश्चैकश्च। न च विशेषणविशेष्यभावस्तथा। तथाहि दण्डपुरुषयोर्विशेषणविशेष्यभावो न ताभ्यां भिद्यते। नहि दण्डस्य विशेषणत्वमर्थान्तरम्, नापि पुरुषस्य विशेष्यत्वमर्थान्तरमपि तु स्वरूपमेव। अभावस्यापि विशेषणत्वात् विशेष्यत्वाच्च। न चाभावे कस्यचित् पदार्थस्य द्रव्याद्यन्यतमस्य सम्भवः। तस्मादभावस्य स्वोपरक्तबुद्धिजनकत्वं यत्स्वरूपं तदेव विशेषणत्वं, न तु पदार्थान्तरम्।

शब्दार्थ -

इन्द्रियाभावयोः = इन्द्रिय और अभाव का, भेरीदण्डयोः= भेरी (नगाड़ा) और दण्ड का, अर्थान्तरम् = उससे भिन्न पदार्थ, द्रव्याद्यन्यतमस्य = द्रव्यादि पदार्थों में से अन्यतम, कस्यचित् पदार्थस्य = किसी पदार्थ का।

गद्यार्थ -

और विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह सम्बन्धियों से भिन्न, दोनों पर रहने वाला तथा एक नहीं है। सम्बन्ध तो दोनों सम्बन्धियों से भिन्न होता है, दोनों सम्बन्धियों पर आश्रित होता है और एक होता है। जैसे कि भेरी और दण्ड का संयोग। वह संयोग भेरी और दण्ड इन दोनों से भिन्न है, दोनों पर आश्रित है और एक है। किन्तु विशेषणविशेष्यभाव वैसा नहीं है। दण्ड और पुरुष का विशेषणविशेष्यभाव दण्ड और पुरुष से भिन्न नहीं है। दण्ड की विशेषणता दण्ड से भिन्न अर्थ नहीं है और न ही पुरुष की विशेष्यता पुरुष से भिन्न अर्थ है, किन्तु दण्ड और पुरुष का स्वरूप ही विशेषणता एवं विशेष्यता है। इसी प्रकार अभाव भी विशेषण और विशेष्य होता है (अतः वह अभाव से भिन्न अर्थ नहीं है) और अभाव में द्रव्यादि पदार्थों में से एक पदार्थ का रहना भी सम्भव नहीं है। इसलिए अभाव का अपने स्वरूप से युक्त बुद्धि को उत्पन्न करने का जो स्वरूप है वही विशेषणता है, न कि अन्य पदार्थ।

व्याख्या -

इन्द्रिय और अभाव का सम्बन्ध नहीं हो सकता है तथा विशेषणविशेष्यभाव पर सम्बन्ध का लक्षण घटित नहीं होने से विशेषणविशेष्यभाव को सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता है। पूर्वपक्षी उक्त दो बातों को सिद्ध करने के लिए उपर्युक्त वाक्यों को प्रस्तुत करते हैं। पूर्वपक्षी कहते हैं कि सम्बन्ध दो ही हैं - संयोग और समवाय।

इन्द्रिय और अभाव का संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता है। संयोग सम्बन्ध दो द्रव्यों का ही होता है। जैसे नेत्र और घट का। अभाव तो द्रव्य ही नहीं है, तब उसका इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है।

समवायसम्बन्ध के लिए अयुतसिद्ध होना आवश्यक है। जिन दो पदार्थों में एक अविनश्यद् अवस्था में रहते हुए दूसरे पर आश्रित हो उनका समवायसम्बन्ध होता है। जैसे गुण-गुणी का, अवयव-अवयवी का। इन्द्रिय और अभाव तो पृथक् ही रहा करते हैं। अतः अयुतसिद्ध नहीं हैं। अयुतसिद्धत्व के अभाव से इन्द्रिय और अभाव में समवायसम्बन्ध भी नहीं हो सकता है।

यदि सिद्धान्ती कहें कि विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष द्वारा इन्द्रिय अभाव का ग्रहण करती है तो यह कथन भी सही नहीं है, क्योंकि विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध ही नहीं है। सम्बन्ध का लक्षण 'सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्नो भवत्युभयाश्रितः एकश्च' यह है। यह सम्बन्ध का लक्षण विशेषणविशेष्यभाव पर घटित नहीं होता है। वस्तुतः सम्बन्ध के लक्षण में तीन अंश हैं - सम्बन्धियों से भिन्न होना, दोनों सम्बन्धियों में रहना और एक होना। ये तीनों अंश संयोग और समवायसम्बन्ध में उपलब्ध हैं। जैसे भेरी और दण्ड दोनों में है और एक भी है।

विशेषणविशेष्यभाव में सम्बन्ध के ये तीन अंश उपलब्ध नहीं हैं। अतः विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध नहीं कहला सकता है। सम्बन्ध में तीन अंशों की स्थिति होती है, यह पहले बताया जा चुका है। वह सम्बन्धियों से भिन्न हो, वह उभयाश्रित हो और वह एक हो। इन तीनों में प्रथम अर्थात् विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्धियों से भिन्न नहीं है। अतः यह सम्बन्ध नहीं हो सकता है, इसका प्रतिपादन यहाँ पर हुआ है।

उदाहरण के लिए 'दण्डी पुरुषः' अर्थात् दण्डवाला पुरुष है। इस ज्ञान में दण्ड विशेषण एवं पुरुष विशेष्य है। विशेषण में विशेषणता एवं विशेष्य में विशेष्यता होती है। दण्ड की विशेषणता दण्ड के स्वरूप के अतिरिक्त

कुछ भी नहीं है और पुरुष की विशेष्यता पुरुष के स्वरूप से भिन्न कुछ भी नहीं है। इस तरह विशेषणविशेष्यभाव दोनों सम्बन्धियों दण्ड और पुरुष का अपना स्वरूप ही है, उनसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है।

यदि विशेषणविशेष्यभाव को उस पदार्थ का स्वरूप न माना जाये, उस पदार्थ से भिन्न माना जाये तो क्या होगा? समाधान करते हुए कहा है - अभावस्यापि---। अभाव भी विशेषण और विशेष्य ही होता है। विशेषणविशेष्य को यदि उस पदार्थ से भिन्न मानें तब न्यायवैशेषिक के द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव इन सातों में से किसी एक का स्वरूप मानना होगा।

उदाहरण के लिए 'घटाभाववद् भूतलम्' में घटाभाव में विशेषणता है तथा 'भूतले घटाभावः' में घटाभाव में विशेष्यता भी है। इस तरह अभाव विशेषण एवं विशेष्य दोनों होता है। इस विशेषणता और विशेष्यता को अभाव से भिन्न मानने पर द्रव्यादि छह भावपदार्थों में कोई एक मानना होगा। परन्तु न्यायवैशेषिक के अनुसार अभाव में द्रव्यादि में से किसी एक का होना सम्भव ही नहीं है, क्योंकि गुण आदि तो केवल भावपदार्थ में रहते हैं, अभाव किसी का आश्रय नहीं हो सकता। अतः अभाव में विशेषणता एवं विशेष्यता द्रव्यादि पदार्थों में से एक होकर नहीं रह सकती है। तब अभाव में विशेष्यता एवं विशेषणता को मानने की क्या गति होगी? विशेषणता एवं विशेष्यता उसका अपना रूप ही है यह माना जाता है अर्थात् अभाव का अपने स्वरूप से उपरक्त बुद्धि को उत्पन्न करने का जो स्वरूप है वही विशेषणता एवं विशेष्यता है। अतः यह सम्बन्धियों से भिन्न न होने से सम्बन्ध ही नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि विशेषणता एवं विशेष्यता को अभाव के स्वरूप से अलग मानने पर विशेषणता तथा विशेष्यता अभाव में नहीं रह पायेगी। अभाव न तो विशेषण बनेगा, न ही विशेष्य बनेगा। जब कि यह विशेषण एवं विशेष्य दोनों बनता है।

9.4.1 व्याप्य व्यापकभाव एवं कार्यकारण भाव

एवं व्याप्यव्यापकत्वकारणत्वादयोऽप्यूह्याः। स्वप्रतिबद्धबुद्धिजनकत्वं स्वरूपमेव हि व्यापकत्वमग्न्यादीनाम्। कारणत्वमपि कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि स्वरूपमेव हि तन्त्वादीनां, नत्वर्थान्तरमभावस्यापि व्यापकत्वात्कारणत्वाच्च। नह्यभावे सामान्यादिसम्भवः।

तदेवं विशेषणविशेष्यभावो न विशेषणविशेष्यस्वरूपाभ्यां भिन्नः। नाप्युभयाश्रितो, विशेषणे विशेषणभावमात्रस्य सत्त्वाद् विशेष्यभावस्याभावाद, विशेष्ये च विशेष्यभावमात्रस्य सद्भावात्, विशेषणभावस्याभावात्।

शब्दार्थ -

स्वरूपम् एव = स्वरूप ही, व्यापकत्यमग्न्यादीनाम् = अग्नि आदि का व्यापकत्व है, तन्त्वादीनाम् = तन्तु आदि का, अभावे = अभाव में, सामान्यादिसम्भवः = सामान्य आदि का सम्भव रहना। उभयाश्रितः = दोनों पर आश्रित, विशेषणभावमात्रस्य = विशेषणभाव मात्र।

गद्यार्थ -

इसी प्रकार (विशेषणविशेष्यभाव के समान) व्याप्य व्यापकभाव एवं कार्यकारण भाव आदि भी (सम्बन्धियों से भिन्न नहीं, अपितु सम्बन्धी स्वरूप ही) जानने चाहिए। अपने से व्याप्य धूम है (प्रतिबद्ध) इस प्रकार की बुद्धि को उत्पन्न करने वाला जो अग्नि आदि का स्वरूप है वही अग्नि का व्यापकत्व है। इसी तरह तन्तु आदि का वह स्वरूप ही कारणत्व है, जिसके अन्वय एवं व्यतिरेक का पटादि कार्य द्वारा अनुसरण किया जाता है।

ये व्याप्य व्यापकभाव एवं कार्यकारणभाव आदि भिन्न पदार्थ नहीं हैं। चूंकि अभाव में भी व्यापकत्व एवं कारणत्व होता है, अतः विशेषणविशेष्यभाव के समान व्याप्यव्यापकभाव एवं कार्यकारण-भाव को भी द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय में से कोई पदार्थ मानना होगा। किन्तु अभाव में सामान्यादि का रहना सम्भव ही नहीं है।

इस प्रकार विशेषणविशेष्यभाव विशेषण और विशेष्य के रूप से भिन्न नहीं है। न ही वह उभयाश्रित ही है, क्योंकि विशेषण में विशेषणभाव मात्र रहता है, विशेष्यभाव का अभाव है और विशेष्य में विशेष्यभाव मात्र रहता है, वहाँ विशेषणभाव का अभाव है।

व्याख्या -

जिस प्रकार विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्धियों के स्वरूप से भिन्न नहीं होता, उसी प्रकार व्याप्यव्यापकभाव तथा कार्यकारण भाव भी सम्बन्धियों के स्वरूप से भिन्न नहीं होते। अतः ये भी सम्बन्ध नहीं हैं। यथा - धूम और अग्नि। इन दोनों में व्याप्यव्यापकभाव माना जाता है। धूम व्याप्य है और अग्नि व्यापक। व्याप्य को ग्रन्थकार प्रतिबद्ध कह रहे हैं। स्वप्रतिबद्धबुद्धिजनकत्वम् अर्थात् अग्नि (व्यापक) उससे प्रतिबद्ध धूम है तथा अग्निव्याप्तो धूमः की प्रतीति को उत्पन्न करने वाला अग्नि का स्वरूप ही उसका व्यापकत्व है। 'अग्निः धूमव्यापकः' - अग्नि धूम का ज्ञापक है, इस प्रतीति को उत्पन्न करने वाला धूम का स्वरूप है, वही धूम की व्याप्यता है।

तन्तु और पट में तन्तु कारण है और पट कार्य है। तन्तु में रहने वाली कारणता तन्तु का स्वरूप ही है, जिसके अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण पट द्वारा होता है। 'तन्तुसत्त्वे पटसत्त्वम्, तन्त्वभावे पटाभावः' यह अन्वय-व्यतिरेक है। पट में कार्यता है, वह भी पट-स्वरूप से भिन्न नहीं है, पटरूप ही है। इस तरह सम्बन्धियों से भिन्न अर्थ ये नहीं हैं।

भिन्न अर्थ मानने पर इन्हें द्रव्यादि छः पदार्थों में से कोई एक मानना पड़ेगा। किन्तु द्रव्यादि अभाव में रहता ही नहीं। यदि व्यापकत्व आदि को इसी प्रकार का सामान्य (जातियाँ) मान लें, जैसे घट में घटत्व आदि है तो क्या होगा? इसका उत्तर है कि यह ठीक नहीं है। 'नद्दाभावे सामान्यादिसम्भवः' अभाव में कोई सामान्य आदि रह ही नहीं सकता। तब अभाव को व्यापक या कारण आदि नहीं माना जा सकेगा। अतः इन्हें वस्तु का स्वरूप मानना ही उचित है।

नाप्येको, विशेषणं च विशेष्यं च तयोर्भाव इति द्वन्द्वात् परं श्रूयमाणो भावशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। तथा च विशेषणभावो विशेष्यभावश्चेत्युपपन्नम्। द्वावेतावेकश्च सम्बन्धः तस्माद् विशेषणविशेष्यभावो न सम्बन्धः। एवं व्याप्यव्यापकभावादयोऽपि। सम्बन्धशब्द- प्रयोगस्तूभयनिरूपणीयत्वसाधर्म्येणोपचारात्।

तथा चासम्बद्धस्याभावस्येन्द्रियेण ग्रहणं न सम्भवति ।

शब्दार्थ -

उपपन्नम् = संगत होता है, तस्मात् = इसलिए, विशेषणविशेष्यभावः = विशेषण और विशेष्यभाव, व्याप्यव्यापकभावादयः = व्याप्य व्यापकभाव आदि, उपचारात् = उपचार से, सम्भवति = सम्भव।

गद्यार्थ -

विशेषण और विशेष्यभाव एक भी नहीं है। विशेषण और विशेष्य का द्वन्द्व कर विशेषणविशेष्य बनता है। उनका भाव इस अर्थ में विशेषणविशेष्यभाव बनता है। द्वन्द्व समास युक्त विशेषणविशेष्य के आगे श्रूयमाण

भाव शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध होता है और विशेषणभाव विशेष्यभाव यह अर्थ हो जाता है। ये दो हैं, किन्तु सम्बन्ध तो एक ही होता है। इसलिए विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध नहीं है। इसी तरह व्याप्यव्यापकभाव, कार्यकारण भाव आदि भी सम्बन्ध नहीं हैं। इनके लिए सम्बन्ध शब्द का प्रयोग तो दो के द्वारा प्रतिपादित किये जाने की समानता के कारण लक्षणा (उपचार / गौणवृत्ति) द्वारा होता है।

अतः इन्द्रिय से असम्बद्ध अभाव का इन्द्रिय द्वारा ग्रहण सम्भव नहीं होता है। (उपर्युक्त विवेचन का सार है कि अभाव को पृथक् प्रमाण मानना चाहिए, यह पूर्वपक्ष का उपसंहार है)।

व्याख्या -

सम्बन्ध सम्बन्धियों से भिन्न होता है, उभयाश्रित होता है और एक होता है। किन्तु विशेषणविशेष्यभावादि में ये अंश घटित नहीं होते। दो अंशों का घटित न होना पहले बताया गया। यहाँ पर तीसरे अंश को 'नाप्येकः' द्वारा बता रहे हैं अर्थात् विशेषणविशेष्यभाव को सम्बन्ध मानने पर उन्हें एक मानना चाहिए, किन्तु ये एक नहीं हैं। अतः सम्बन्ध भी नहीं हैं।

प्रश्न होता है कि 'सम्बन्धिभ्यां भिन्नः, उभयाश्रितः, एकश्च' ये तीन अंश जब विशेषणविशेष्यभाव, व्याप्यव्यापकभाव तथा कार्यकारणभाव आदि में नहीं हैं, तब इन्हें सम्बन्ध शब्द से शास्त्रें में क्यों कहा जाता है?

उत्तर है कि 'उभयनिरूपणीयत्वसाधर्म्येण उपचारात्' अर्थात् इन्हें उपचार से सम्बन्ध कहा गया है, ये सम्बन्ध हैं नहीं। उपचार का अर्थ लक्षणा या गौणी वृत्ति है। मुख्यार्थ का बाध होने पर मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ के बोध में उपचार या लक्षणा का प्रयोग होता है। सम्बन्ध के तीन 'अर्थसम्बन्धिभ्यां भिन्नः उभयाश्रितः एकश्च' विशेषणविशेष्यादि में नहीं हैं। तब इन्हें सम्बन्ध कैसे कहा गया है। इसका उत्तर है - 'उभयनिरूपणीयत्वसाधर्म्योपचार' अर्थात् सम्बन्ध शब्द के साधर्म्य से। साधर्म्य यह है कि संयोग, समवाय आदि जो सम्बन्ध हैं वे उभयनिरूपणीय हैं अर्थात् दोनों सम्बन्धियों का प्रतिपादन करके उन्हें बतलाया जाता है।

इसी प्रकार विशेषणविशेष्यभाव व्याप्यव्यापकभावादि भी उभय निरूपणीय हैं। अग्नि व्यापक है, धूम व्याप्य है, यह उभय निरूपणीयत्व साधर्म्य है। अतः लक्षणा से इन्हें सम्बन्ध कह दिया गया है, वस्तुतः ये सम्बन्ध नहीं हैं। इस तरह विशेषणविशेष्यभाव जब सम्बन्ध नहीं है तब इन्द्रिय द्वारा इस सन्निकर्ष से अभाव का ग्रहण नहीं हो सकता है। इसी बात को 'तथा चासम्बद्धस्याभाव- स्येन्द्रियेण ग्रहणं न सम्भवति' के द्वारा उपसंहृत किया है।

अर्थात् इन्द्रिय का अभाव के साथ जब सम्बन्ध ही सिद्ध नहीं होता तब इन्द्रिय से असम्बद्ध अभाव का ग्रहण इन्द्रिय से नहीं हो सकता है। अतः प्रत्यक्ष इन्द्रिय से अभाव का ग्रहण न होने से अभाव को पृथक् प्रमाण मानना उचित ही है। यह पूर्वपक्षी का उपसंहार है।

- **नैयायिकों द्वारा अभाव प्रमाण का खण्डन अथवा निराकरण**

सत्यम्। भावावच्छिन्नत्वाद् व्याप्तेर्भावं प्रकाशयदिन्द्रियं प्राप्तमेव प्रकाशयति, नत्वभावमपि। अभावं प्रकाशयदिन्द्रियं विशेषणविशेष्यभावमुखेनैवेति सिद्धान्तः।

असम्बद्धाभावग्रहेऽतिप्रसंगदोषस्तु विशेषणतयैव निरस्तः। समश्च परमते।

यत्रेभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः।

नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे।।

शब्दार्थ -

प्रकाशयति = प्रकाशित करती है, विशेषणविशेष्यभावमुखेन = विशेषणविशेष्यभाव के द्वारा ही प्रकाशित करती है, अतिप्रसंगदोषः = अतिप्रसंग नामक दोष, विशेषणतया = विशेषणता के द्वार, निरस्तः = निरस्त हो जाता है, समश्च परमते = परमत में भी समान है। उभयोः = दोनों पक्षों में, परिहारः = दोष का परिहार, तादृगर्थविचारणे = उस प्रकार के अर्थ के विचार करने में।

गद्यार्थ -

यह सही है कि इन्द्रिय सम्बद्ध अर्थ का ही ग्रहण करती है, असम्बद्ध का नहीं, किन्तु यह व्याप्ति भावपदार्थ तक ही सीमित (अवच्छिन्न) है। अर्थात् भावपदार्थ को प्रकाशित करने वाली इन्द्रिय प्राप्त अर्थ को ही प्रकाशित करती है, अभाव को नहीं। अभावपदार्थ को प्रकाशित करने वाली इन्द्रिय तो विशेषणविशेष्यभाव के द्वारा ही प्रकाशित करती है, यह सिद्धान्त है।

असम्बद्ध अभाव के ग्रहण में आने वाले अतिप्रसंग दोष का परिहार तो विशेषणता के द्वारा ही हो जाता है और वह दोष पूर्वपक्षी के मत में भी समान ही है।

जहाँ पर दोनों पक्षों में समान दोष होता है और दोष का परिहार भी समान होता है, इस प्रकार के अर्थ का विचार करने में किसी एक पक्ष पर आक्षेप नहीं करना चाहिए।

व्याख्या -

नैयायिक द्वारा पूर्वपक्षी के मत का खण्डन करने का आशय यह है कि 'इन्द्रिय अपने से सम्बद्ध पदार्थ का ग्रहण करती है', यह नियम द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छह भावपदार्थों के लिए ही है। किन्तु अभावपदार्थ जो सप्तम है, उसका ग्रहण करने के लिए इन्द्रिय का अभाव के साथ सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं है अर्थात् संयोग या समवायसम्बन्ध की आवश्यकता अभाव के ग्रहण के लिए नहीं है। अनुभव से ज्ञात होता है कि इन्द्रिय विशेषणविशेष्यभाव द्वारा ही अभाव का ग्रहण करती है। इसके लिए अनुकूल तर्क और अनुपलब्धि की सहायता से इन्द्रिय अपने से असम्बद्ध अभाव का ग्रहण कर लेती है। अतः अभाव को पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।

यदि इन्द्रिय असम्बद्ध अभाव का ग्रहण करेगी तब सभी पदार्थों का सम्बन्ध के बिना ग्रहण करने लगेगी। इस तरह व्यवहित पदार्थों का भी इन्द्रिय से ग्रहण होने लगेगा। दूसरी बात यह होगी कि जैसे नेत्र से संयुक्त भूतल में आप नैयायिक घटाभाव का ग्रहण करते हैं, वैसे ही नेत्र से असंयुक्त स्थलों में भी घटाभाव का ग्रहण होने लगेगा, जो अनुभव विरुद्ध है, यह अतिप्रसन्न दोष पूर्वपक्षी के अनुसार नैयायिक के मत में होता है।

विशेषणता से ही उपर्युक्त दोष नहीं होगा अर्थात् घटाभाववद्भूतलम् में भूतल के साथ इन्द्रिय का संयोग सम्बन्ध है। संयोग सम्बन्ध से सम्बद्ध भूतल में विशेषण के रूप में घटाभाव का ग्रहण होता है। इस तरह न तो व्यवहित पदार्थ का इन्द्रिय से ग्रहण होगा और न ही इन्द्रिय से असम्बद्ध स्थल में अभाव का ग्रहण होगा।

यदि पूर्वपक्षी विशेषणविशेष्यभाव को सम्बन्ध नहीं मानकर दोष दिखाते हैं, तब हमें नैयायिक को कहना है कि आपके द्वारा अभाव-प्रमाण को मानने पर भी यह दोष होगा कि असम्बद्ध अर्थ का भी अभाव-प्रमाण से ग्रहण कैसे होगा? क्योंकि असम्बद्ध अर्थ घटाभाव का भी अभाव-प्रमाण के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है। यही वादी तथा प्रतिवादी दोनों के पक्ष में दोष और परिहार की समानता है।

इस तरह न्यायमत में अभाव पृथक् प्रमाण नहीं है। योग्य की अनुपलब्धि होने पर अनुकूल तर्क के सहयोग से ही प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा ही अभाव का ग्रहण हो जाता है तथा अर्थापत्ति एवं अभाव का प्रत्यक्षादि में ही अन्तर्भव हो जाता है।

स्वयं आकलन कीजिए -

अभ्यास प्रश्न – 2

1. अभाव प्रमाण क्या है?
2. नैयायिकों ने अभाव का अन्तर्भाव किसमें किया है?
3. भावपदार्थ को प्रकाशित करने वाली इन्द्रिय किसे प्रकाशित करती है?
4. विशेष्यविशेषण भाव सम्बन्ध किस पर आधारित होता है?
5. अतिप्रसंग दोष का परिहार कैसे होता है?
6. इन्द्रिय और अभाव में कोई सम्बन्ध क्यों नहीं है?

9.5 सारांश

अर्थापत्ति को प्रमाण मानने वाले मीमांसक एवं वेदान्ती हैं। उनके अनुसार अर्थापत्ति भी एक पृथक् प्रमाण है। इनका मानना है कि संगत न हो रहे अर्थ को देखने से उसको संगत बैठाने के लिए जब एक अन्य अर्थ की कल्पना की जाती है तो उसे अर्थापत्ति प्रमाण कहते हैं। अर्थापत्ति प्रत्यक्षादि से भिन्न है। नैयायिक अर्थापत्ति प्रमाण का अनुमान में ही अन्तर्भाव करके इसे चार प्रमाणों से अतिरिक्त नहीं मानते हैं।

मीमांसक एवं वेदान्ती अभाव को भी एक पृथक् प्रमाण मानते हैं। परन्तु नैयायिक का कहना है कि यह ठीक नहीं है। घट का भूतल पर दिखाई न देना प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ही ग्रहण होता है। इसलिए इसको अलग प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।आशा है आप सभी को इस इकाई के अध्ययन से प्रमाणों की स्थिति और अधिक स्पष्ट हुई होगी।

9.6 कठिन शब्दावली

अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् = अर्थ की संगति के न बैठने से या उपपन्न नहीं होने से, अभुञ्जानत्वे = नहीं खाते हुए, अनुपलम्भसनाथेन = अनुपलब्धि से युक्त, आलोकवत् = प्रकाश के समान, भिन्नोभयाश्रित = भिन्न पर आश्रित, स्वप्रतिबद्धबुद्धिजनकत्वम् = अपने से सम्बद्ध बुद्धि को उत्पन्न करने वाला, उभयनिरूपणीयत्वसाधर्म्येण = दो के द्वारा प्रतिपादित होने की समानता के कारण, भावावच्छिन्नत्वात् व्याप्तेः = व्याप्ति के भावपदार्थ तक सीमित रहने के कारण से, पर्यनुयोक्तव्यः = आक्षेप नहीं करना चाहिए।

9.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर - -

अभ्यास प्रश्न – 1

1. अर्थापत्ति प्रमाण
2. मीमांसक तथा वेदांती
3. अनुमान प्रमाण में

अभ्यास प्रश्न - 2

1. पदार्थ की अनुपलब्धि से पदार्थ का अभावज्ञान
2. प्रत्यक्ष प्रमाण
3. प्राप्त अर्थ को
4. दो सम्बन्धियों पर

5. विशेषणता से
6. अयुतसिद्धता न होने से

9.8 सहायक ग्रन्थ

1. तर्कभाषा, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणि, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी-221001, संस्करण-12, 2013.
2. तर्कभाषा, टीकाकार, पण्डित श्रीरुद्रधर झा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-221001, संस्करण-7, 2021.
3. तर्कभाषा, व्याख्याकार डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-221001, संस्करण-2013.
4. तर्कभाषा, व्याख्याकार एवं सम्पादक डॉ. अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर-302001, संस्करण-2021.
5. तर्कभाषा, व्याख्याकार श्रीबदरीनाथशुक्ल, मोतीलाल बनारसी दास, चौक वाराणसी, प्रथम संस्करण-1968.

9.9 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न -

1. अर्थापत्ति प्रमाण पर प्रकाश डालते हुए इसके भेदों, उपभेदों की विस्तृत चर्चा करें।
2. तर्कभाषा के आधार पर अभाव प्रमाण की विस्तारपूर्वक विवेचना करें।
3. व्याप्य व्यापकभाव एवं कार्यकारण भाव से क्या समझते हैं, व्याख्या करें।

इकाई - दस

प्रामाण्यवाद निरूपण और ज्ञातता

संरचना

10.1 प्रस्तावना
10.2 उद्देश्य
10.3 प्रामाण्यवाद निरूपण
- स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न -1

10.4 ज्ञातता निरूपण
10.4.1 अप्रमाण्यता की ग्राह्यता
10.4.2 फलवती-अफला प्रवृत्ति
- स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न -2

10.5 सारांश
10.6 कठिन शब्दावली
10.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर
10.8 सहायक ग्रन्थ
10.9 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियो, इस इकाई में प्रमाण्यवाद की विस्तार से चर्चा की जा रही है। इसमें बताया गया है कि प्रमाण्यवाद क्या है, प्रमाण्यवाद का निश्चय कब होता है। प्रामाण्यवाद के साथ-साथ ज्ञातता की भी यहाँ व्याख्या की गई है।

10.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से विद्यार्थियों को नम्नलिखित जानकारी उपलब्ध होगी –

क. प्रामाण्यवाद निरूपण

ख. ज्ञातता

10.3 प्रामाण्यवाद निरूपण

इदमिदानीं निरूप्यते। जलादिज्ञाने जाते, तस्य प्रामाण्यमवधार्य कश्चिज्जलादौ प्रवर्तते। कश्चित्तु सन्देहादेव प्रवृत्तः, प्रवृत्त्युत्तरकाले जलादिप्रतिलम्भे सति प्रामाण्यमवधारयतीति वस्तुगतिः।

शब्दार्थ -

जलादिज्ञाने जाते = जल आदि का ज्ञान हो जाने पर, प्रवृत्त्युत्तरकाले = प्रवृत्ति के अनन्तर, जलादिप्रतिलम्भे = जलादि की प्राप्ति होने पर, वस्तुस्थितिः = यह वास्तविक स्थिति है।

गद्यार्थ -

अब यह निरूपण करते हैं कि जलादि का ज्ञान हो जाने पर उसकी प्रामाणिकता का निर्णय करके कोई व्यक्ति जलादि के ग्रहण या त्याग में प्रवृत्त होता है और कोई व्यक्ति (निश्चय के बिना ही) सन्देह से (जलानयनादि में) प्रवृत्त होता है। प्रवृत्ति के पश्चात् जलादि की प्राप्ति हो जाने पर ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय करता है, यह वास्तविक स्थिति है।

व्याख्या -

यथार्थज्ञान स्वतः प्रामाणिक होता है या अन्य साधन से उसे प्रामाणिक सिद्ध किया जाता है, इस विषय की चर्चा प्रामाण्यवाद कहलाती है या ज्ञानों का प्रामाण्य-ग्रहण कैसे होता है, यह चर्चा ही प्रामाण्यवाद है।

मनुष्य की प्रवृत्ति यथार्थ-ज्ञान पर आधारित देखी जाती है। संशयात्मक ज्ञान से भी प्रवृत्ति देखी जाती है। कोई व्यक्ति यहाँ जल है, इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर बार-बार वहाँ जल लाने में प्रवृत्त होता है। वह अपने जल-विषयक ज्ञान को प्रामाणिक मानकर जल लाने में प्रवृत्त होता है। जल मिल जाने पर उसकी प्रवृत्ति सफल मानी जाती है। इस सफल प्रवृत्ति से व्यक्ति 'यहाँ जल है' इस सम्भावना-रूप ज्ञान की प्रामाणिकता का निश्चय करता है।

उक्त परिस्थिति के आधार पर प्रश्न उठता है कि प्रवृत्ति से पूर्व ही ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है या प्रवृत्ति के पश्चात् ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है। कोई ज्ञान यथार्थ है अथवा अयथार्थ इसका निश्चय भी प्रामाण्यवाद में समाहित है।

वेद की प्रामाणिकता को लेकर उत्पन्न हुआ यह विचार सभी ज्ञानों के विषय में होने लगा है। अतः ज्ञानों का प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य का ग्रहण कैसे होता है, अब यह विवाद का विषय बनता है। ज्ञानों की प्रामाणिकता पर उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति इन दो दृष्टियों से विचार करने पर स्वतः प्रामाण्य, परतः अप्रामाण्य की तथा परतः प्रामाण्य, स्वतः अप्रामाण्य आदि की भी चर्चा होती है। इस विषय में शास्त्रें के मत अधोलिखित हैं -

1. सांख्यदर्शन प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों को स्वतः मानते हैं, 'प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः' (सर्वदर्शन संग्रह - सायणमाधव)।
2. मीमांसा दर्शन स्वतः प्रामाण्य, परतः अप्रामाण्य मानता है (श्लोक वार्तिक।)
3. बौद्ध दर्शन स्वतः अप्रामाण्य परतः प्रामाण्य मानता है।
4. जैन दर्शन उत्पत्ति में प्रामाण्य अप्रामाण्य स्वतः, ज्ञप्ति में प्रामाण्याप्रामाण्य परतः मानता है।
5. न्यायवैशेषिक दर्शन प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों को परतः मानता है।

तर्कभाषा में मुख्य रूप से पूर्वपक्ष के रूप में मीमांसक मत को प्रस्तुत कर उसका खण्डन किया गया है तथा न्यायवैशेषिक के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इस सम्बन्ध में चार पक्ष प्रस्तुत किये गये हैं -

1. प्रामाण्य-विषयक व्यावहारिकी समस्या।
2. मीमांसक मत से समाधान तथा प्रामाण्य का स्वतस्त्व ।
3. मीमांसक के मत का खण्डन।
4. न्यायवैशेषिक सिद्धान्त की स्थापना।

अत्र कश्चिदाह। प्रवृत्तेः प्रागेव प्रामाण्यावधारणात्। अस्यार्थः येनैव यज्ज्ञानं गृह्यते तेनैव तद्गतं प्रामाण्यमपि, न तु ज्ञानग्राहकादन्यज्ज्ञानधर्मस्य प्रामाण्यस्य ग्राहकम्। तेन ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वमेव स्वतस्त्वं प्रामाण्यस्य। ज्ञानं च प्रवृत्तेः पूर्वमेव गृहीतं कथमन्यथा प्रामाण्याप्रामाण्यसन्देहोऽपि स्यात्। अनधिगते धर्मिणि सन्देहानुदयात। तस्मात् प्रवृत्तेः पूर्वमेव ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्या ज्ञाने गृहीते ज्ञानगतं

प्रामाण्यमप्यर्थापत्त्यैव गृह्यते। ततः पुरुषः प्रवर्तते। न तु प्रथमं ज्ञानमात्रं गृह्यते, ततः प्रवृत्त्युत्तरकाले फलदर्शनेन ज्ञानस्य प्रामाण्यमवधार्यते।

शब्दार्थ -

कश्चित् = कोई (भाट्ट मीमांसक), आह = कहते हैं, अवधार्य = निश्चय कर, प्रवर्तते = (कार्य में) प्रवृत्त होता है, तद्गतम् = उसमें स्थित, ज्ञानग्राहकादन्यत् = ज्ञान का ग्रहण कराने वाले से भिन्न, अनधिगते धर्मिणि = अज्ञात (अप्राप्त) धर्मी में, सन्देहानुदयात् = सन्देह की उत्पत्ति होने से, ज्ञाततान्यथाऽनुपपत्तिप्रसूतया = ज्ञातता (रूप कार्य) की अन्यथा (= ज्ञानरूप कारण के विना) अनुपपत्ति से उत्पन्न।

गद्यार्थ -

प्रामाण्यवाद के विषय में भाट्ट मीमांसक कहते हैं - प्रवृत्ति से पूर्व ही प्रामाण्य का निर्णय कर व्यक्ति (कार्य में) प्रवृत्त होता है, क्योंकि ज्ञान के प्रामाण्य का निर्धारण स्वतः ही हो जाता है। इसका आशय है कि जिस सामग्री से जिस ज्ञान का ग्रहण होता है, उसी सामग्री से उस ज्ञान में स्थित प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है। ज्ञान के ग्राहक से अन्य ज्ञान के धर्म प्रामाण्य का दूसरा ग्राहक नहीं है। ज्ञान-ग्राहक तथा प्रामाण्य ग्राहक-सामग्री के एक होने से ही ज्ञान के ग्राहक सामग्री से भिन्न की अपेक्षा नहीं रखना ही प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता है। ज्ञान तो प्रवृत्ति से पूर्व ही गृहीत हो जाता है। यदि ज्ञान पूर्व में ही गृहीत न हो तो उस ज्ञानरूप धर्मी का प्रामाण्य और अप्रामाण्य का सन्देह भी कैसे होगा, क्योंकि अज्ञात धर्मी में धर्म का सन्देह नहीं उत्पन्न होता। इसलिए प्रवृत्ति से पहले ही ज्ञातता रूप कार्य की अन्यथा-अनुपपत्ति से उत्पन्न अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान का ग्रहण किये जाने पर ज्ञान में विद्यमान प्रामाण्य का ग्रहण अर्थापत्ति से हो जाता है। उसके बाद पुरुष (कार्य में) प्रवृत्त होता है। ऐसा नहीं होता कि पहले केवल ज्ञान गृहीत होता है, उसके बाद प्रवृत्ति के उत्तर काल में फल की प्राप्ति देख कर ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय किया जाता है।

व्याख्या -

पूर्वपक्षी मीमांसक ने उपर्युक्त उद्धरण द्वारा तीन बातों को निर्दिष्ट किया है -

1. प्रवृत्ति से पहले ही ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है, क्योंकि ज्ञान का प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है।
2. स्वतोग्राह्य का स्वरूप बताया गया है।
3. प्रवृत्ति से पहले ही ज्ञान तथा ज्ञान में स्थित प्रामाण्य का ग्रहण करने में युक्ति।

स्वतोग्राह्यत्व का स्वरूप - जिस सामग्री से जो ज्ञान होता है, उसी सामग्री से ज्ञान में विद्यमान प्रामाण्य का भी ग्रहण होता है। ज्ञान-ग्राहक से भिन्न सामग्री ज्ञानधर्म-प्रामाण्य का ग्राहक नहीं होती। इसलिए स्वतोग्राह्यत्व का लक्षण होता है - ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वम्।

ज्ञान-ग्राहक सामग्री से भिन्न सामग्री की अपेक्षा ज्ञानगत प्रामाण्य के लिए न होना ही ज्ञान का स्वतोग्राह्यत्व है। ज्ञान प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता में मीमांसक ज्ञातता के द्वारा अर्थापत्ति प्रमाण को प्रस्तुत करते हैं। ज्ञाततारूपी कार्य की ज्ञानरूपी कारण के विना अनुपपत्ति होती है। इसी से अर्थापत्ति की जाती है। प्रामाण्य-ग्रहण के लिए अर्थापत्ति से भिन्न साधन की अपेक्षा नहीं होती है। इस तरह प्रवृत्ति से पूर्व ही ज्ञानगत प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है।

प्रवृत्ति से पूर्व ज्ञान के ग्रहण में युक्ति - 'अनधिगते धर्मिणि सन्देहानुदयात्' प्रवृत्ति से पूर्व ज्ञान का (धर्मी का) ग्रहण न होता तो उस ज्ञान के विषय में सन्देह भी नहीं होता कि ज्ञान यथार्थ है या अयथार्थ। उदाहरण के लिए दूर से घट को देखने पर व्यक्ति को अपने घट-विषयक ज्ञान के प्रामाण्य या अप्रामाण्य का सन्देह होता है कि

दूर से जो मैंने घट देखा है, वह सही है या नहीं। ये दोनों प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य ज्ञान के धर्म हैं और धर्मी ज्ञान है। प्रवृत्ति से पूर्व यदि धर्मी ज्ञात ही न हो तो सन्देह कैसे होगा? यही युक्ति है।

प्रवृत्ति से पूर्व ज्ञान तथा ज्ञानगत प्रामाण्य ग्रहण में युक्ति - 'तस्मात्--- अर्थापत्त्यैव गृह्यते' द्वारा बताया गया है कि ज्ञान का ग्रहण अर्थापत्ति प्रमाण से होता है। दृष्ट या श्रुत अर्थ की अन्यथानुपपत्ति होने से उपपादक अर्थ की कल्पना करना अर्थापत्ति कहलाता है। यहाँ पर ज्ञातता की सिद्धि न होने से अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान अर्थ का ग्रहण किया जाता है। यथा 'अयं घटः' (यह घट है), इस ज्ञान का विषय घट है, पट नहीं। घट में ज्ञातता-धर्म की उत्पत्ति होती है। तथा 'ज्ञातोऽयं घटः' यह अनुभव होता है। यह ज्ञातता नामक धर्म ज्ञानरूपी धर्मी के बिना अनुपपन्न है। इसको उपपन्न करने के लिए अन्य अर्थज्ञान की कल्पना की जाती है। यह अन्य अर्थ 'ज्ञान' होता है, जो अर्थापत्ति द्वारा सिद्ध किया जाता है। इसी अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान के धर्म 'प्रामाण्य' का भी ग्रहण किया जाता है। इस तरह मीमांसक के मत में प्रवृत्ति से पूर्व ही ज्ञान एवं ज्ञानगत प्रामाण्य का ग्रहण हो जाया करता है। अन्य प्रमाण की आवश्यकता यहाँ नहीं होती है। यही ज्ञान के प्रमाण में स्वतोग्राह्यत्व है।

स्वयं आकलन कीजिए -

अभ्यास प्रश्न - 1

1. प्रामाण्यवाद किसे कहते हैं?
2. ज्ञानों की प्रामाणिकता किन दृष्टियों से की जाती है?
3. ज्ञातता अपने कारण ज्ञान का किसके द्वारा आक्षेप कर लेती है?
4. विषय और विषयी भाव की उत्पत्ति कैसे होती है?

10.4 ज्ञातता निरूपण

अत्रेच्यते। ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूतयार्थापत्त्या ज्ञानं गृह्यते इति यदुत्तफ़ं तदेव वयं न मृष्यामहे, तया प्रामाण्यग्रहस्तु दूरत एव। तथा हि इदं किल परस्याभिमतम्। घटादिविषये ज्ञाने जाते 'मया ज्ञातोऽयं घटः' इति घटस्य ज्ञातता प्रतिसन्धीयते। तेन ज्ञाने जाते सति ज्ञातता नाम कश्चिद्धर्मो जात इत्यनुमीयते। स च ज्ञानात्पूर्वमजातत्वात्, ज्ञाने जाते च जातत्त्वादन्वय- व्यतिरेकाभ्यां ज्ञानेन जन्यत इत्यवधार्यते। एवं च ज्ञानजन्योऽसौ ज्ञातता नाम धर्मो ज्ञानमन्तरेण नोपपद्यते, कारणाभावे कार्यानुदयात्। तेनार्थापत्त्या स्वकारणं ज्ञानं ज्ञाततयाऽऽक्षिप्यते इति।

न चैतद्युक्तम्। ज्ञानविषयातिरिक्ताया ज्ञाततायाअभावात्।

शब्दार्थ -

ज्ञाततान्यथाऽनुपपत्तिप्रसूतया = ज्ञातता की अन्यथा अनुपपत्ति से उत्पन्न, दूरत एव = दूर की बात, ज्ञातोऽयं = यह जान लिया, अजातत्त्वात् = उत्पन्न न होने से, अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् = अन्वय और व्यतिरेक द्वारा, उपपद्यते = उत्पन्न होता है, कार्यानुदयात् = कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, अक्षिप्यते = आक्षेप करना।

गद्यार्थ -

मीमांसक के मत का खण्डन करने के उपक्रम में नैयायिक का कहना है कि ज्ञातता की अन्यथाऽनुपपत्ति से उत्पन्न अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है, यह जो कहा गया है, हम उसी को नहीं मानते हैं,

अर्थापत्ति से प्रामाण्य के ग्रहण की बात तो दूर है। जैसे कि अन्य का मत है - घटादि विषयक ज्ञान होने पर 'मैंने घट को जान लिया' इस प्रकार की घट की ज्ञातता का निश्चय होता है। उससे ज्ञान उत्पन्न होने पर ज्ञातता नामक कोई धर्म उत्पन्न हुआ, यह अनुमान किया जाता है और यह ज्ञातता नामक धर्म ज्ञान से पहले उत्पन्न नहीं होता तथा ज्ञान हो जाने पर उत्पन्न हो जाता है। इस अन्वयव्यतिरेक के द्वारा ज्ञान से उत्पन्न हो जाता है ऐसा निश्चय किया जाता है। इस प्रकार ज्ञान से उत्पन्न होने वाला ज्ञातता नामक वह धर्म ज्ञान के बिना उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है, अतः अर्थापत्ति के द्वारा ज्ञातता अपने कारण ज्ञान का आक्षेप कर लेती है।

उपर्युक्त मीमांसक का मत ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान का विषय होने के अतिरिक्त ज्ञातता कुछ भी नहीं है।

व्याख्या -

घट ज्ञान से पूर्व 'ज्ञातोऽयं घटः' इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती। घट का ज्ञान हो जाने पर ऐसी प्रतीति होती है। अतः यहाँ घटज्ञान होने पर ज्ञातता की प्रतीति होती है (यह अन्वय है)। ज्ञान के अभाव में ज्ञातता की प्रतीति नहीं होती है (यह व्यतिरेक है)। इस प्रकार के अन्वयव्यतिरेक से निश्चय होता है कि घट के ज्ञान से घट में कोई नया धर्म उत्पन्न हो गया है और उस धर्म का अनुभव 'ज्ञातोऽयं घटः' के रूप में होता है। अतः उस नवीन धर्म को ज्ञातता शब्द से कहते हैं। 'ज्ञातस्य भावः ज्ञातता।'

ज्ञातता के द्वारा अर्थापत्ति प्रमाण से ज्ञान का ग्रहण होता है और ज्ञान से ज्ञातता उत्पन्न होती है। ज्ञातता कार्य है और ज्ञान कारण है। ज्ञातता का प्रत्यक्ष अनुभव हम करते हैं, ज्ञान का नहीं। अतः ज्ञाततारूप कार्य की अन्यथानुपपत्ति होने से अर्थान्तर की कल्पना अर्थात् ज्ञानरूप कारण अर्थ की कल्पना कर ली जाती है, यही अर्थापत्ति है।

इस तरह मीमांसक ने ज्ञान की प्रतीति का अधोलिखित क्रम बतलाया है – 1. ज्ञातता का प्रत्यक्ष द्वारा बोध होता है। 2. ज्ञान से ही ज्ञातता की उत्पत्ति होती है, यह अनुमान द्वारा जाना जाता है। 3. ज्ञातता से ज्ञान की प्रतीति होती है, यह अर्थापत्ति द्वारा की जाती है।

इस प्रक्रिया में ज्ञातता ही सबका आधार बनता है। अतः नैयायिक ज्ञातता का ही खण्डन कर 'छिन्ने मूले' न्याय से प्रामाण्य के स्वतोग्राह्यत्व का खण्डन कर रहे हैं। नैयायिक का कहना है कि ज्ञातता ज्ञानविषयता से भिन्न कोई धर्म है ही नहीं।

ननु ज्ञानजनितज्ञाताधारत्वमेव हि घटादेर्ज्ञानविषयत्वम्। तथा हि न तावत् तादात्म्येन विषयता, विषयविषयिणोर्घटज्ञानयोस्तादात्म्यानभ्युपगमात्। तदुत्पत्त्या तु विषयत्वे इन्द्रियादेरपि विषयत्वापत्तिः। इन्द्रियादेरपि तस्य ज्ञानस्योत्पत्तेः। तेनेदमनुमीयते, ज्ञानेन घटे किञ्चिज्जनितं येन घट एव तस्य ज्ञानस्य विषयो नान्यः। इत्यतो विषयत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्यैव ज्ञाततासिद्धिः, न तु प्रत्यक्षमात्रेण।

शब्दार्थ -

ज्ञानजनितज्ञाततताधारत्वम् = ज्ञान से उत्पन्न होने वाली ज्ञातता का आधार होना, विषयविषयिणोः = विषय और विषयी, घटज्ञानयोः = घट और ज्ञान का, विषयत्वापत्तिः = ज्ञान की विषयता की प्राप्ति होना, तेनेदम् = उससे यह।

गद्यार्थ -

(मीमांसक फिर ज्ञातता की सिद्धि में अपने पक्ष का समर्थन करता है) ज्ञान से उत्पन्न होने वाली ज्ञातता का आधार बनना ही घटादि की ज्ञान-विषयता है। जैसे यह विषयता तादात्म्य सम्बन्ध से नहीं बन सकती, क्योंकि घट विषय तथा ज्ञानरूप विषयी का तादात्म्यसम्बन्ध स्वीकार नहीं किया जाता है। यदि तदुपत्ति से अर्थात् जिस वस्तु से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वही वस्तु उस ज्ञान का विषय है, इस तरह विषयता स्वीकार करें तो इन्द्रिय आदि को भी विषयता स्वीकार करना होगा, क्योंकि इन्द्रिय आदि से भी ज्ञान की उत्पत्ति होती है। अतः यह अनुमान होता है कि ज्ञान ने घट में किसी धर्म को उत्पन्न किया है, जिससे घट ही उस ज्ञान का विषय होता है, अन्य पदार्थ नहीं। इस प्रकार विषयता की ज्ञातता के बिना (अन्यथा) अनुपपत्ति होने से उत्पन्न हुई अर्थापत्ति (प्रमाण) के द्वारा भी ज्ञातता की सिद्धि होती है, केवल प्रत्यक्ष से ही नहीं।

व्याख्या -

पूर्व में मीमांसक ने बताया था कि ज्ञान द्वारा घट में एक नये धर्म ज्ञातता की उत्पत्ति होती है, यह ज्ञातता अर्थापत्ति प्रमाण से उत्पन्न मानी जाती है। ज्ञातता के आधार पर ज्ञान का प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है।

नैयायिक ने ज्ञान के प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता का खण्डन करने के लिए ज्ञातता को नहीं माना तथा कहा कि ज्ञातता ज्ञान की विषयता से भिन्न कुछ है ही नहीं। तब उस आधार पर ज्ञान का प्रामाण्य स्वतोग्राह्य कैसे होगा?

नैयायिक की उक्त बात का खण्डन पुनः मीमांसक 'ननु--- न तु प्रत्यक्षमात्रेण' द्वारा करते हैं। जिसका सार यह है - ज्ञातता केवल ज्ञानविषयता ही नहीं है, किन्तु उससे पृथक् एक विशेषधर्म है, जो ज्ञानविषयत्व का निमित्त होता है या जिस बस्तु में ज्ञातता रहती है वही ज्ञान का विषय होता है। इस तरह ज्ञातता का कार्य है ज्ञानविषयता। ज्ञातता ज्ञानविषयता का कारण है। इसका प्रत्यक्ष अनुभव तो होता ही है, साथ ही अथार्पत्ति के द्वारा भी ज्ञातता की सिद्धि होती है। उदाहरण के लिए 'अयं घटः' के ज्ञान में घट ज्ञान का विषय है। वह ज्ञान का विषय कैसे है अर्थात् उसमें विषयता कैसे है? विषयता के नियामक तादात्म्य या तदुत्पत्ति हैं। घट ज्ञान का विषय है और ज्ञान विषयी है। दोनों में तादात्म्य या तदरूपता मानना उचित नहीं है। कारण यह है कि विषय-घट आदि बाह्य पदार्थ हैं और ज्ञान आदि विषयी आन्तरिक वस्तु है, तब दोनों में तादात्म्य कैसे होगा। अतः विषयता का नियामक यहाँ तादात्म्य नहीं हो सकता। उत्पत्ति को विषयता का नियामक मानें तो जिस पदार्थ से जो ज्ञान उत्पन्न होगा वह पदार्थ उस ज्ञान का विषय होगा, अन्य का नहीं। ऐसी स्थिति में इन्द्रिय आदि से भी ज्ञान की उत्पत्ति होती। अतः इन्द्रियादि में भी विषयता आ जायेगी अर्थात् घटज्ञान के विषय - आत्मा, मन, इन्द्रिय, प्रकाश आदि भी हो जायेंगे। अतः तदुत्पत्ति पक्ष भी नियामक नहीं है।

इसलिए मानना चाहिए कि ज्ञान द्वारा घटादि में एक नवीन धर्म उत्पन्न कर दिया जाता है, जिससे घट ही ज्ञान का विषय बनता है, अन्य नहीं। इसी नवीन धर्म को ज्ञातता कहते हैं, इसके आधार पर विषयता का

निश्चय होता है। ज्ञातता के विना विषयता बन नहीं सकती है। अतः विषयता की अन्यथा (ज्ञातता के बिना) अनुपपत्ति से अर्थापत्ति द्वारा ज्ञातता की सिद्धि की जाती है, केवल प्रत्यक्ष से ही नहीं।

मैवम्। स्वभावादेव विषयविषयितोपपत्तेः। अर्थज्ञानयोरेतादृश एव स्वाभाविको विशेषो येनानयोर्विषयविषयिभावः। इतरथातीतानागतयोर्विषयत्वं न स्यात्। ज्ञानेन तत्र ज्ञातता- जननासम्भवादसति धर्मिणि धर्मजननायोगात्।

किञ्च ज्ञाततायाः अपि स्वज्ञानविषयत्वात् तत्रपि ज्ञाततान्तरप्रसङ्गस्तथा चाऽनवस्था। अथ ज्ञाततान्तरमन्तरेणापि स्वभावादेव विषयत्वं ज्ञाततायाः। एवं चेत् तर्हि घटादावपि किं ज्ञाततयेति ।

शब्दार्थ -

स्वभावादेव = स्वभावत से ही, अर्थज्ञानयोः = अर्थ और ज्ञान का, अतीतानागतयोः = अतीत तथा अनागत पदार्थों में, विषयत्वम् = विषयता, धर्मिणि = धर्मी में, धर्मजननाऽयोगात् = धर्म की उत्पत्ति सम्भव नहीं, स्वज्ञानविषयत्वात् = अपने ज्ञान का विषय होने से।

गद्यार्थ -

(नैयायिक का उत्तर) ऐसा कहना ठीक नहीं। स्वभावतः ही विषय-विषयि भाव की उपपत्ति हो जाया करती है। अर्थ और ज्ञान में ऐसी ही स्वाभाविक विशेषता होती है जिससे कि इन दोनों में विषय-विषयिभाव हुआ करता है (पदार्थ स्वयं ही विषय होता है तथा ज्ञान स्वयं ही विषयी होता है) यदि ऐसा नहीं हो तो अतीत और अनागत पदार्थों में विषयता नहीं हो सकेगी, क्योंकि ज्ञान के द्वारा वहाँ ज्ञातता का उपपन्न होना सम्भव नहीं है और अविद्यमान धर्मी में धर्म का उत्पन्न होना भी सम्भव नहीं है।

इसके अतिरिक्त यह दोष होगा कि ज्ञातता भी अपने ज्ञान का विषय होती है। अतः वहाँ भी दूसरी ज्ञातता को मानना होगा और इस तरह अनवस्था हो जायेगी। यदि कहें कि अन्य ज्ञातता के बिना भी स्वभाव से ही ज्ञातता की ज्ञान-विषयता मान लें तो क्या क्षति है? यदि ऐसा मान लिया जाए तो घटादि में भी ज्ञातता को मानने से क्या लाभ?

व्याख्या -

नैयायिकों का कहना है कि ज्ञातता के आधार पर विषयता का निश्चय नहीं होता है अर्थात् घटज्ञान से घट में ज्ञातता नामक धर्म उत्पन्न होता है। इसलिए घट उस ज्ञान का विषय है, यह कहना ठीक नहीं है। वस्तुतः विषय विषयिभाव स्वाभाविक रूप से होता है। यह पदार्थ और ज्ञान का स्वभाव होता है।

ज्ञातता को विषयता का नियामक मानने पर एक अन्य दोष यह होगा कि अतीत और अनागत पदार्थों में विषयता नहीं हो पायेगी अर्थात् जो भूतकालिक पदार्थ (अतीत) हैं और जो आने वाला पदार्थ है, वे दोनों वर्तमान में हैं ही नहीं, तो उनमें किसी ज्ञातता-धर्म को कैसे उत्पन्न किया जा सकेगा और वर्तमान ज्ञान द्वारा अतीत और अनागत पदार्थों में ज्ञातता की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, तब वे ज्ञान का विषय भी कैसे होंगे? जबकि वे ज्ञान के विषय हैं। अतः यह दोष उत्पन्न होता है।

किञ्च मीमांसक मत में ज्ञातता से अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान की प्रतीति होती है। इसमें ज्ञातता भी ज्ञान का विषय बन जाता है। यथा यह ज्ञातता है, मैंने ज्ञातता को जान लिया, इत्यादि ज्ञान का विषय है। इस ज्ञातता को ज्ञान का विषय मानने हेतु एक दूसरी ज्ञातता की आवश्यकता होगी। दूसरी ज्ञातता हेतु तीसरी को, तीसरी हेतु चौथी को मानना होगा तो अनन्त ज्ञातता को मानना पड़ेगा, यह अनवस्था दोष होगा।

यदि ज्ञातता स्वभावतः ज्ञान का विषय मानी जाये तो घटादि को ज्ञातता के बिना स्वयं ज्ञान का विषय मानने में क्या आपत्ति है। अतः ज्ञातता विषयता का नियामक नहीं है। इस तरह ज्ञातता की सिद्धि न होने से मीमांसक का यह कथन कि 'ज्ञातता द्वारा ज्ञान तथा ज्ञान में स्थित प्रामाण्य का अर्थापत्ति-प्रमाण से ग्रहण होता है तथा प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है' युक्तियुक्त नहीं है।

10.4.1 अप्रमाण्यता की ग्राह्यता

अस्तु वा ज्ञातता तथापि तन्मात्रेण ज्ञानं गम्यते ज्ञाततताविशेषेण प्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा प्रामाण्यमिति कुत एव ज्ञानग्राहकग्राह्यता प्रामाण्यस्य। अथ केनचिज्ज्ञाततताविशेषेण प्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा ज्ञानप्रामाण्ये सहैव गृह्येते। एवं चेदप्रामाण्येऽपि शक्यमिदं वत्तफुम्। केनचिज्ज्ञाततताविशेषेण अप्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा ज्ञानाप्रामाण्ये सहैव गृह्येते, इत्यप्रामाण्यमपि स्वत एव गृह्यताम्।

शब्दार्थ -

ज्ञाततताविशेषेण = विशेष प्रकार की ज्ञातता से, ज्ञानग्राहकग्राहाता = ज्ञान ग्राहक सामग्री से ग्राह्यता, व्यभिचारिणा = व्यभिचार वाली, ज्ञाततताविशेषेण = विशेष प्रकार की ज्ञातता से, गृह्यताम् = ग्रहण करें, तर्हि = तब।

गद्यार्थ -

अथवा (मीमांसकोक्त) ज्ञातता को मान भी लें तो भी ज्ञातता मात्र से ज्ञान का ग्रहण होता है और प्रमाणज्ञान की अव्यभिचारिणी (यथार्थ ज्ञान से उत्पन्न) किसी 'ज्ञातता विशेष' से प्रामाण्य का ग्रहण होता है। इसलिए ज्ञानग्राहक सामग्री से प्रामाण्य की ग्राह्यता कैसे होगी? यदि कहें कि प्रमाणज्ञान के साथ नियमतः रहने वाली किसी विशेष प्रकार की ज्ञातता से ज्ञान और तद्गत प्रामाण्य का साथ ही ग्रहण किया जाता है, यदि ऐसा हो तब तो यही बात ज्ञान के अप्रामाण्य के विषय में भी कही जा सकती है कि अप्रामाण्य ज्ञान के साथ नियमतः रहने वाली किसी विशेष प्रकार की ज्ञातता से ज्ञान एवं ज्ञानगत अप्रामाण्य का भी साथ ही ग्रहण किया जाता है। इसलिए अप्रामाण्य का ग्रहण भी स्वतः ही मानना चाहिए।

व्याख्या -

पूर्व के अनुच्छेद में ज्ञातता के स्वरूप को असिद्ध मानते हुए उसके आधार पर अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान और प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता का खण्डन नैयायिक ने किया है। अब इस अनुच्छेद में अभ्युपगम सिद्धान्त का सहारा लेकर प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता का खण्डन करते हुए नैयायिक कहते हैं कि मीमांसोक्त ज्ञातता को स्वीकार कर भी लिया जाये तब भी प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि ज्ञानग्राहक-सामग्री से ही प्रामाण्य का ग्रहण करना प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता है ऐसा मीमांसक मानते हैं, परन्तु ऐसा होता नहीं। ज्ञातता-मात्र से ज्ञान का ग्रहण होता है और ज्ञातता विशेष से प्रामाण्य ज्ञान का ग्रहण होता है। इस तरह ज्ञातता में भेद हो जाता है अर्थात् सामान्य ज्ञातता से कारण ज्ञान का तथा विशेष-ज्ञातता से प्रामाण्यज्ञान का ग्रहण होता है। एक ही सामग्री से दोनों की उत्पत्ति नहीं हुई। अतः प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता खण्डित होती है।

यदि प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता हेतु मीमांसक कहें कि प्रामाण्य ज्ञानविशिष्ट विशेष ज्ञातता से ही ज्ञान तथा ज्ञानगत प्रामाण्य दोनों का ग्रहण होने से एक ही सामग्री से दोनों का ग्रहण स्वीकार किया जाता है। अतः प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता अखण्डित ही है।

इस पर नैयायिक का कहना है कि इस प्रकार से यदि स्वतोग्राह्यता मानेंगे तब तो अप्रामाण्य की भी स्वतोग्राह्यता माननी पड़ेगी, क्योंकि अप्रामाण्य ज्ञानविशिष्ट किसी ज्ञातता-विशेष से ज्ञान और ज्ञानगत अप्रामाण्य दोनों का ग्रहण होता है, ऐसी युक्ति हम देंगे तथा एक ही सामग्री से ज्ञान तथा अप्रामाण्य का ग्रहण

होने से अप्रामाण्य को भी स्वतोग्राह्य मान लेना चाहिए। किन्तु मीमांसक अप्रामाण्य को स्वतोग्राह्य नहीं मानते हैं। मीमांसक दोषज्ञान या बाधज्ञान से किसी ज्ञान को अप्रामाणिक (अप्रामाण्य) मानते हैं तथा अप्रामाण्य को परतोग्राह्य मानते हैं।

जिस युक्ति से वे ज्ञान के प्रामाण्य को स्वतोग्राह्य मानते हैं, उसी युक्ति से उन्हें अप्रामाण्य को भी स्वतोग्राह्य मान लेना चाहिए। यदि स्वीकार नहीं करते तब तो ज्ञान के प्रामाण्य को परतोग्राह्य मानना ही युक्तियुक्त है अर्थात् ज्ञानग्राहक-सामग्री से भिन्न सामग्री द्वारा ही ज्ञानगत प्रामाण्य का निश्चय होता है, यह नैयायिक का पक्ष है।

10.4.2 फलवती-अफला प्रवृत्ति

अथेवमप्यप्रामाण्यं परतस्तर्हि प्रामाण्यमपि परत एव गृह्यताम्। ज्ञानग्राहकादन्यत इत्यर्थः। ज्ञानं हि मानसप्रत्यक्षेणैव गृह्यते प्रामाण्यं पुनरनुमानेन। तथा हि जलज्ञानानन्तरं जलार्थिनः प्रवृत्तिद्वेधा फलवती, अफला चेति। तत्र या फलवती प्रवृत्तिः सा समर्था, तया तज्ज्ञानस्य याथार्थ्यलक्षणं प्रामाण्यमनुमीयते। प्रयोगश्च विवादाध्यासितं जलज्ञानं प्रमाणं, समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्। यन्न प्रमाणं तन्न समर्थां प्रवृत्तिं जनयति यथा प्रमाणाभास इति केवलव्यतिरेकी।

अत्र च फलवत्प्रवृत्तिजनकं यज्जलज्ञानं तत्पक्षः, तस्य प्रामाण्यं साध्यं याथार्थ्यमित्यर्थः। न तु प्रमाकरणत्वं, स्मृत्यां व्यभिचारापत्तेः। हेतुस्तु समर्थप्रवृत्तिजनकत्वं फलवत्प्रवृत्ति- जनकत्वमिति यावत् ।

शब्दार्थ

मानसप्रत्यक्षेणैव = मानस प्रत्यक्ष से ही, गृह्यते = गृहीत होता है, अनुमानेन = अनुमान से, जलज्ञानानन्तरम् = जल ज्ञान के पश्चात्, जलार्थिनः = जलभिलाषी, प्रवृत्तिद्वेधा = दो प्रकार की प्रवृत्ति, तज्ज्ञानस्य = उस ज्ञान के, जनयति = जनक होना फलवत्प्रवृत्तिजनकम् = सफल प्रवृत्ति का जनक।

गद्यार्थ -

और फिर भी आप (मीमांसक) अप्रामाण्य का ग्रहण परतः मानते हैं तो प्रामाण्य को भी परतः ही स्वीकार करना चाहिए अर्थात् ज्ञानग्राहक-सामग्री से अन्य के द्वारा मानना चाहिए, यह (नैयायिक का) अभिप्राय है। ज्ञान का ग्रहण मानस प्रत्यक्ष से होता है और प्रामाण्य का ग्रहण अनुमान से होता है। जैसे कि यह जल है इस प्रकार के जल ज्ञान के पश्चात्, जल चाहने वाले की प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है – फलवती और अफला। इनमें जो सफल प्रवृत्ति है वह समर्था कहलाती है। समर्था प्रवृत्ति से उस ज्ञान के याथार्थ्य स्वरूप वाले प्रामाण्य का अनुमान किया जाता है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार है - सन्दिग्ध जलज्ञान प्रमाण है (प्रतिज्ञा), समर्थप्रवृत्ति का जनक होने से (हेतु)। जो ज्ञान प्रमाण नहीं होता, वह समर्थ प्रवृत्ति का जनक भी नहीं होता। जैसे प्रमाणाभास (व्यतिरेकी उदाहरण)। यह केवलव्यतिरेकी अनुमान है।

इस अनुमान में सफल प्रवृत्ति का जनक जो जलज्ञान है, वह पक्ष है, जल ज्ञान का प्रामाण्य साध्य है, (अर्थात् उसकी यथार्थता साध्य है यह अर्थ है)। प्रमाकरणत्व साध्य नहीं है। (क्योंकि प्रमाकरणत्व को साध्य मानने पर) यथार्थ स्मृति में व्यभिचार होगा (अर्थात् सफल प्रवृत्ति की जनक स्मृति को भी याथार्थ्यरूप प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है। प्रमाकरणत्व रूप प्रामाण्य स्मृति का नहीं माना जाता है, अतः यहाँ पर प्रामाण्य का अर्थ याथार्थ्य मानना चाहिए, प्रमाकरणत्व नहीं) और प्रामाण्य का साधक हेतु है। समर्थप्रवृत्ति की जनकता अर्थात् सफल प्रवृत्ति का जनक है।

व्याख्या -

नैयायिक ज्ञान को मानस प्रत्यक्ष से ग्रहण करते हैं। यह मानस प्रत्यक्ष से होने वाला ज्ञान अनुव्यवसायात्मक है। व्यवसायात्मक निश्चयात्मक ज्ञान है। निर्विकल्पकज्ञान के पश्चात् सविकल्पकज्ञान नाम जात्यादि योजना सहित होता है। यही व्यवसायात्मक ज्ञान है। जैसे 'इदं पुस्तकम्', यह पुस्तक है। इसके बाद 'अहं पुस्तकं ज्ञातवान्' - मैंने पुस्तक को जान लिया, इत्यादि ज्ञान होता है। इस ज्ञान को अनुव्यवसायात्मक ज्ञान कहते हैं। इसमें पुस्तक का ज्ञान विषय है। यह मानस प्रत्यक्ष से होता है। मन इन्द्रिय द्वारा इसमें ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है।

नैयायिक प्रामाण्यज्ञान का ग्रहण मानस प्रत्यक्ष से नहीं करते, क्योंकि ज्ञानग्रहण के साथ उसके प्रामाण्य का ग्रहण नहीं होता। यदि होता तो ज्ञान के मानस प्रत्यक्ष के बाद उसके प्रामाण्य में संशय उत्पन्न नहीं होता। अतः ज्ञानगत प्रामाण्य या अप्रामाण्य का निश्चय अनुमान से होता है। इसमें प्रवृत्ति हेतु होती है। प्रवृत्ति सफला और अफला दो प्रकार की होती है। सफल प्रवृत्ति को समर्थ प्रवृत्ति भी कहते हैं। प्रवृत्ति का अर्थ है - ग्रहण या त्याग की चेष्टा करना। सफला प्रवृत्ति से ही ज्ञान के प्रामाण्य (यथार्थता) का अनुमान होता है और विफला प्रवृत्ति से ज्ञान के अप्रामाण्य का अनुमान होता है।

यहाँ केवल व्यतिरेकी अनुमान प्रदर्शित किया गया है - जल ज्ञान प्रमाण है (प्रतिज्ञा)। समर्थ प्रवृत्ति का जनक होने से (हेतु)। जो प्रमाण नहीं होता, वह समर्थ प्रवृत्ति का जनक नहीं होता, जैसे कि प्रमाणाभास (व्यतिरेकि उदाहरण)। यहाँ साध्य है - प्रामाण्य। पक्ष है - जलज्ञान। जलज्ञान में ही प्रामाण्य का सन्देह है (सन्दिग्ध साध्यवान् पक्षः)। साध्य प्रामाण्य का अर्थ है - ज्ञान का याथार्थ्य। न कि प्रमाकरणत्व। यदि प्रामाण्य का अर्थ प्रमाकरणत्व करेंगे तो यथार्थस्मृति में प्रामाण्य नहीं हो सकेगा।

प्रामाण्य के विषय में न्यायसिद्धान्त का सार - ज्ञान का ग्रहण मानस प्रत्यक्ष से होता है। उस ज्ञान से प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति की सफल प्रवृत्ति द्वारा ज्ञान के प्रामाण्य का अनुमान किया जाता है तथा असफल प्रवृत्ति के द्वारा ज्ञान के अप्रामाण्य का अनुमान किया जाता है। इस तरह ज्ञान के प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य का निश्चय ज्ञान-ग्राहक सामग्री से भिन्न सामग्री से होता है। अतः प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों परतो ग्राह्य होते हैं।

अनेन तु केवलव्यतिरेक्यनुमानेनाभ्यासदशापन्नस्य ज्ञानस्य प्रामाण्येऽवबोधिते तद्दृष्टान्तेन जलप्रवृत्तेः पूर्वमपि तज्जातीयत्वेन लिघ्गेनान्वयव्यतिरेक्यनुमानेनान्यस्य ज्ञानस्यानभ्यासदशापन्नस्य प्रामाण्यमनुमीयते। तस्मात् परत एव प्रामाण्यं न ज्ञानग्राहकेणैव गृह्यते इति ।

शब्दार्थ -

अवबोधिते = बोध हो जाने पर, दृष्टान्तेन = दृष्टान्त से, अन्वयव्यतिरेक्यनुमानेन = अन्वयव्यतिरेकी अनुमान से, अनुमीयते = अनुमान किया जाता है।

गद्यार्थ -

इस केवलव्यतिरेकी अनुमान द्वारा अनभ्यासदशा में प्राप्त ज्ञान का प्रामाण्य निश्चित हो जाने पर उसके दृष्टान्त से जल के लिए हो रही प्रवृत्ति से पूर्व में भी समर्थप्रवृत्तिजनक-जातीयत्व हेतु (लिंग) द्वारा अन्वयव्यतिरेकी अनुमान से अनभ्यासदशापन्न ज्ञान का प्रामाण्य भी अनुमित कर लिया जाता है। अतः परतः प्रामाण्य परतः मानना चाहिए, ज्ञानग्राहकसामग्री द्वारा प्रामाण्य का निश्चय नहीं होता है।

व्याख्या -

नैयायिक ने समर्थ प्रवृत्ति से ज्ञान-प्रामाण्य का निश्चय होता है, ऐसा माना है। लेकिन कहीं-कहीं समर्थ प्रवृत्ति से पूर्व भी ज्ञान प्रामाण्य का निश्चय देखा गया है। वहाँ पर 'समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्' यह हेतु नहीं दिया जा

सकता है। इसका कारण यह है कि वहाँ उस ज्ञान से प्रवृत्ति नहीं हुई है। तब वह समर्थ प्रवृत्ति का जनक नहीं होगा। इसकी संगति बैठाने के लिए प्रवृत्ति से पूर्व ही ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य मानना चाहिए, इस आशंका का उत्तर उपर्युक्त उद्धरण में दिया गया है। आशय यह है कि ज्ञान को दो प्रकार का माना जाता है - अभ्यासदशापन्न और अनभ्यासदशापन्न।

अभ्यासदशापन्न - अभ्यास का अर्थ है पुनः पुनः करना, बारम्बारता। जिस ज्ञान से हम पूर्व में सफल प्रवृत्ति वाले होते हैं वह ज्ञान अभ्यासदशापन्न ज्ञान है। इसमें प्रवृत्ति से पूर्व ही प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है। यथा तालाब में जल देखकर हम बार-बार जल लाते हैं। हम जानते हैं कि जल है। अतः प्रवृत्त होते हैं। यह अभ्यासदशापन्न ज्ञान है, जिसमें प्रवृत्ति से पूर्व प्रामाण्य का निश्चय है। इससे भिन्न ज्ञान अनभ्यासदशापन्न ज्ञान होता है। नैयायिक अभ्यासदशापन्न ज्ञान के प्रामाण्य को भी परतोग्राह्य मानते हैं।

प्रामाण्य निश्चय हेतु अनुमान प्रयोग करते हैं तथा 'समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्' इस हेतु को प्रस्तुत करते हैं। किन्तु यह हेतु अनभ्यासदशापन्न ज्ञान के प्रामाण्य को सिद्ध करेगा। अभ्यासदशापन्न ज्ञान प्रामाण्य को कैसे सिद्ध करेगा, क्योंकि यहाँ पर ज्ञानप्रामाण्य का निश्चय प्रवृत्ति से पूर्व हो चुका होता है। तब समर्थप्रवृत्तिजनकत्व हेतु से ज्ञानप्रामाण्य या अप्रामाण्य का अनुमान सम्भव नहीं है। अतः यहाँ दूसरे प्रकार का अनुमान प्रयोग प्रस्तुत किया गया है, जो अन्वयव्यतिरेकी है - अभ्यासदशापन्न ज्ञान प्रमाण है (प्रतिज्ञा), समर्थप्रवृत्तिजनक जलज्ञान की समानता वाला होने से (हेतु)।

अनभ्यासदशापन्न - जलज्ञानवत् (अन्वयी दृष्टान्त)। जो प्रमाण नहीं होता वह समर्थप्रवृत्तिजनक भी नहीं होता, जैसे प्रमाणाभास (व्यतिरेकी दृष्टान्त)। यही अन्वयव्यतिरेकी अनुमान है। समर्थप्रवृत्तिजनक अनभ्यासदशापन्न ज्ञान का सजातीय ज्ञान अभ्यासदशापन्न ज्ञान है, अतः वह प्रमाण है। सजातीय का अर्थ है - समानता वाला। समानता दोनों में यह है कि जिस प्रकार समर्थप्रवृत्तिजनक ज्ञान निर्दुष्ट इन्द्रियादि से जन्य है, उसी प्रकार यह भी है।

इस तरह नैयायिक मानते हैं कि जहाँ पर प्रवृत्ति से पहले ज्ञान-प्रामाण्य का निश्चय दृष्ट है वहाँ भी प्रामाण्य का निश्चय अनुमान द्वारा होता है। अतः सभी दशाओं में ज्ञानप्रामाण्य परतोग्राह्य है। ज्ञानग्राहक-सामग्री से ज्ञान-प्रामाण्य का निश्चय नहीं होता है। ज्ञान का ग्रहण अनुव्यवसायात्मक प्रत्यक्ष से होता है और उस ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय अनुमान से होता है। जिस ज्ञान से पहले तादृश किसी अन्य ज्ञान से सफल प्रवृत्ति का होना न जाना जाये, वह अनभ्यासदशापन्न ज्ञान है। उस ज्ञान के प्रामाण्य का अनुमान प्रवृत्ति के बाद सफल प्रवृत्ति द्वारा किया जाता है।

जिस ज्ञान से पहले तादृश ज्ञान से भिन्न किसी ज्ञान से सफल प्रवृत्ति का होना जाना जाता है, वह अभ्यासदशापन्न ज्ञान है। उस अभ्यासदशापन्न ज्ञानप्रामाण्य का भी अनुमान किया जाता है, उसमें हेतु होता है - प्रवृत्ति से पूर्व सफलप्रवृत्तिजनक ज्ञान की सजातीयता का होना।

चत्वार्येव प्रमाणानि युक्तिलेशोक्तिपूर्वकम् ।
केशवो बालबोधाय यथाशास्त्रमवर्णयत् । ।
इति प्रमाणपदार्थः समाप्तः ।

शब्दार्थ -

यथाशास्त्रम् = न्यायशास्त्र के अनुसार, अवर्णयत्= वर्णन किया।

गद्यार्थ -

श्री केशव मिश्र ने बालकों के ज्ञान के लिए न्यायशास्त्र के अनुसार नाममात्र की युक्तियों का कथन कर चार ही प्रमाण हैं, यह वर्णन किया है।

स्वयं आकलन कीजिए -

अभ्यास प्रश्न – 2

1. प्रामाण्य का ग्रहण कैसे होता है?
2. किसी ज्ञान के पश्चात् होने वाली दो प्रकार की प्रवृत्ति का नाम क्या है?
3. ज्ञान के यथार्थ स्वरूप वाले प्रामाण्य का अनुमान कैसे किया जाता है?
4. अनभ्यासदशा में प्राप्त ज्ञान का प्रामाण्य कैसे निश्चित होता है?

10.5 सारांश

इस इकाई में जानने की कोशिश की गई कि यथार्थज्ञान स्वतः प्रामाणिक होता है या अन्य साधन से उसकी प्रामाणिकता सिद्ध की जाती है। इसे ही प्रामाण्यवाद कहा जाता है। मनुष्य की प्रवृत्ति यथार्थ-ज्ञान और संशयात्मक ज्ञान दोनों प्रकार की देखी जाती है। साधारण शब्दों में ज्ञान की प्रामाणिकता को सिद्ध करना ही प्रामाण्यवाद है।

मीमांसकों ने ज्ञान द्वारा घट में एक नये धर्म ज्ञातता की उत्पत्ति स्वीकार की है। उनके अनुसार ज्ञातता की उत्पत्ति अर्थापत्ति प्रमाण से मानी है। नैयायिकों ने इस ज्ञातता को नहीं माना तथा कहा कि ज्ञातता ज्ञान की विषयता से भिन्न कुछ भी नहीं है।

10.6 कठिन शब्दावली

अवधार्य = निर्णय करके, ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वम् = ज्ञान के ग्राहक से अतिरिक्त सामग्री की अपेक्षा, प्रवृत्त्युत्तरकाले = प्रवृत्ति के बाद, प्रतिसन्धीयते = निश्चित की जाती है, मृष्यामहे = मानते हैं, किञ्चिज्जानितम् = कुछ उत्पन्न कर दिया गया है, याथार्थ्यलक्षणम् = याथार्थ्य स्वरूप वाले, विवादाध्यासितम् = विवादग्रस्त, अनभ्यासदशापन्नस्य = अनभ्यास दशा में प्राप्त का, युक्तिलेशोक्तिपूर्वकम् = नाममात्र की युक्तियों का कथन कर।

10.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर -

अभ्यास प्रश्न - 1

1. यथार्थ ज्ञान को स्वतः या अन्य साधन से प्रामाणिक सिद्ध करने की चर्चा
2. उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति
3. अर्थापत्ति के द्वारा
4. स्वभावतः

अभ्यास प्रश्न - 2

1. अनुमान से
2. फलवती और अफला
3. समर्था प्रवृत्ति से
4. केवलव्यतिरेकी

10.8 सहायक ग्रन्थ

1. तर्कभाषा, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणि, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी-221001, संस्करण-12, 2013.
2. तर्कभाषा, टीकाकार, पण्डित श्रीरुद्रधर झा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-221001, संस्करण-7, 2021.
3. तर्कभाषा, व्याख्याकार डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-221001, संस्करण-2013.
4. तर्कभाषा, व्याख्याकार एवं सम्पादक डॉ. अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर-302001, संस्करण-2021.
5. तर्कभाषा, व्याख्याकार श्रीबदरीनाथशुक्ल, मोतीलाल बनारसी दास, चौक वाराणसी, प्रथम संस्करण-1968.

10.9 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न -

1. प्रामाण्यवाद की विस्तारपूर्वन विवेचना करें।
2. तर्कभाषा के आधार पर ज्ञातता की व्याख्या करें।
3. फलवती और अफला प्रवृत्ति क्या है?

इकाई - ग्यारह

प्रमेय निरूपण

संरचना

11.1 प्रस्तावना
11.2 उद्देश्य
11.3 प्रमेय निरूपण
11.3.1 आत्मा निरूपण
11.3.2 शरीर निरूपण
11.3.3 इन्द्रिय निरूपण
- स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न

11.4 सारांश
11.5 कठिन शब्दावली
11.6 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर
11.7 सहायक ग्रन्थ
11.8 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियो, इस इकाई में प्रमेयों का वर्णन किया जा रहा है। यथार्थ ज्ञान का विषय ही प्रमेय है। यद्यपि प्रमेय अनेक हैं, परन्तु न्याय दर्शन ने बारह प्रमेयों को मुख्य माना है और उनकी व्याखया की है। तर्कभाषाकार ने आत्मा प्रमेयों में प्रथम स्थान दिया है।

11.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से विद्यार्थियों को नम्नलिखित जानकारी उपलब्ध होगी –

- प्रमेय निरूपण,
- आत्मा निरूपण,
- शरीर निरूपण
- इन्द्रिय निरूपण

11.3 प्रमेय निरूपण

इस इकाई में प्रमेयों का निरूपण किया जा रहा है। न्यायशास्त्र में बारह प्रमेय मानी गई हैं। इनका वर्णन निमानलिखित प्रकार से है -

11.3.1 आत्मा निरूपण

प्रमाणान्युक्तानि, अथ प्रमेयाण्युच्यन्ते ।

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् इति सूत्रम् ।

तत्र आत्मत्वसामान्यवानात्मा। स च देहेन्द्रियादिव्यतिरिक्तः, प्रतिशरीरं भिन्नो नित्यो विभुश्च। स च मानसप्रत्यक्षः। विप्रतिपत्तौ तु बुद्ध्यादिलिंगकः। तथा हि बुद्ध्यादयस्तावद् गुणाः अनित्यत्वे सत्येकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात्। गुणश्च गुण्याश्रित एव।

शब्दार्थ -

उच्यन्ते = कहते हैं, आत्मत्वसामान्यवान् - आत्मत्व जाति वाला, देहेन्द्रियादिव्यतिरिक्तः = देह और इन्द्रिय आदि से भिन्न, विभुश्च = और व्यापक, विप्रतिपत्तौ = मतभेद होने पर।

गद्यार्थ -

प्रमाणों को बता दिया गया, अब प्रमेयों को बताया जा रहा है।

आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग (ये बारह) प्रमेय (पदार्थ) हैं। यह न्याय सूत्र है।

उन प्रमेयों में आत्मत्वजाति वाली आत्मा है। वह आत्मा देह, इन्द्रिय आदि से भिन्न है, प्रत्येक शरीर में भिन्न है, नित्य है और व्यापक है। वह आत्मा मानस प्रत्यक्ष का विषय है। सन्देह होने पर बुद्धि आदि गुण उस आत्मा के अनुमापक हैं। जैसे कि बुद्धि आदि गुण हैं, क्योंकि अनित्य होते हुए वे एक इन्द्रिय मात्र से ग्रहण के योग्य हैं और जो गुण होता है, वह गुणी पर आश्रित रहता है।

व्याख्या -

प्रमाण विवेचन के उपरान्त न्यायशास्त्र के अनुसार प्रमेयों का विवेचन किया जा रहा है। यथार्थ ज्ञान का विषय प्रमेय है। यद्यपि प्रमेय अनेक हैं, परन्तु न्याय दर्शन ने बारह प्रमेयों को मुख्य मानते हुए इन में अन्यों का समावेश किया है। प्रमेयों का नाममात्र से संकीर्तन कर क्रमशः उनके लक्षण एवं परीक्षाक्रम में प्रथम प्रमेय आत्मा का लक्षण तथा उसकी सिद्धि की जा रही है।

आत्मा का लक्षण - 'आत्मत्वसामान्यवान् आत्मा'। आत्मत्व नामक सामान्य का आश्रय आत्मा है। अपने सजातीय प्रमेय शरीर आदि तथा विजातीय प्रमाण आदि से भिन्नता दिखलाने का यह लक्षण है अर्थात् उन सभी में सजातीय एवं विजातीयों में आत्मत्व जाति वाला आत्मा है। इस आत्मा के विषय में चार स्थापनाएँ प्रस्तुत की गई हैं - यह आत्मा देहादि व्यतिरिक्त है, प्रतिशरीर में भिन्न है, विभु है और नित्य है।

अहमस्मि इत्यादि अनुभव करने वाला प्रत्येक मनुष्य अपनी आत्मा को मन नामक इन्द्रिय से प्रत्यक्ष अनुभव करता है। दूसरे की आत्मा है या नहीं इस विषय में बुद्धि आदि गुणों के द्वारा आत्मा का अनुमान किया जाता है। जैसे कि बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा आदि अनित्य गुण हैं। ये गुण एकमात्र इन्द्रिय मन से गृहीत होते हैं। इन गुणों का आश्रय गुणी कोई चेतन हो सकता है, वह गुणी आत्मा ही है। देह, इन्द्रिय आदि से इसलिए यह भिन्न है। आदि पद से मन का ग्रहण किया जाता है। इस तरह आत्मा शरीर इन्द्रिय और मन से भिन्न है।

चार्वाक चैतन्य विशिष्ट देह को आत्मा मानते हैं। उनके मत में पृथिवी आदि भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति होती है। मैं काना हूँ, मैं अन्धा हूँ इस प्रकार की प्रतीति इन्द्रियों के विषय में होने से इन्द्रिय आत्मा है, यह दूसरे चार्वाक का मत है। तृतीय कोटि के चार्वाक मानते हैं कि सुषुप्ति दशा में नेत्रदि इन्द्रियों का व्यापार अवरुद्ध हो जाने पर भी मन के समस्त व्यवहार होते हैं। अतः मन ही आत्मा है। इन सब का खण्डन करने के हेतु आत्मा को देहादि से भित्र माना है।

वेदान्ती के आत्मैक्यवाद का खण्डन करने हेतु कहा गया है कि 'प्रतिशरीरं भिन्नः' प्रत्येक शरीर में आत्मा भिन्न है। रामानुज आदि आत्मा को अणु मानते हैं। जैनदर्शन संकोच विकास वाला आत्मा है ऐसा मानता है।

बौद्ध क्षणिक विज्ञानवादी हैं। वे आत्मा को क्षणिक मानते हैं। बौद्धमत का खण्डन करने हेतु आत्मा को नित्य माना गया है।

तत्र बुद्धयाद्यो न भूतानां गुणाः मानसप्रत्यक्षत्वात्। ये हि भूतानां गुणास्ते न मनसा गृह्यन्ते यथा रूपादयः। नापि दिक्कालमनसां गुणाः, विशेषगुणत्वात्। ये हि दिक्कालादिगुणाः संख्यादयो न ते विशेषगुणास्ते हि सर्वद्रव्यसाधारणगुणा एव। बुद्धयादयस्तु विशेषगुणाः, गुणत्वे सत्येकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वाद्, रूपवत् अतो न दिगादिगुणाः। तस्मादेभ्योऽष्टभ्यो व्यतिरित्तफ़ो बुद्धयादीनां गुणानामाश्रयो वक्तव्यः स एवात्मा ।

शब्दार्थ -

भूतानाम् = भूतों के, मानसप्रत्यक्षत्वात् = मानस प्रत्यक्ष के विषय, गृह्यन्ते = गृहीत होते हैं, दिक्कालमनसां = दिक् काल और मन के, एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात् = एक इन्द्रिय मात्र से गृहीत होने से, एभ्यः = इन, व्यतिरिक्तः = अतिरिक्त।

गद्यार्थ -

बुद्धि, सुख-दुःख, आदि पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन भूतों के गुण नहीं हैं क्योंकि इनका मानस प्रत्यक्ष होता है। जो भूतों के गुण हैं, वे मन से ग्रहण नहीं होते हैं। ये बुद्धि आदि गुण विशेष गुण होने से दिक्, काल और मन के भी गुण नहीं हैं और जो संख्या आदि दिक्, काल आदि के गुण हैं, वे विशेष गुण नहीं हैं, क्योंकि वे संख्यादि सभी द्रव्यों के साधारण गुण ही होते हैं। बुद्धि आदि विशेष गुण हैं, क्योंकि वे गुण होते हुए केवल एक इन्द्रिय से ग्राह्य हैं रूप के समान। इसलिए बुद्धयादि दिक्, काल और मन के गुण नहीं हैं।

और इस कारण से इन पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक् एवं मन इन आठों द्रव्यों से अतिरिक्त बुद्धि आदि गुणों का आश्रय कहना चाहिए, वही आत्मा है।

व्याख्या -

अहमस्मि, अहं सुखी, अहं दुःखी अहं कर्ता इत्यादि अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को होता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति अपनी आत्मा का मानस प्रत्यक्ष करता है। इस तरह आत्मा मानस प्रत्यक्ष का विषय है। 'विप्रतिपत्तौ तु' यदि यह शंका की जाये कि मैं हूँ, मैं सुखी हूँ इत्यादि रूप से मैं से आत्मा का ग्रहण नहीं होता है, किन्तु देह, इन्द्रिय, मन आदि का 'अहम्' से ग्रहण होता है, क्योंकि दुःख, सुखादि का साधनभूत विषय सीधे देहादि से जुड़ा है। अतः देहादि ही आत्मा है तो ऐसी विप्रतिपत्ति (विमति) के होने पर अनुमान प्रमाण द्वारा आत्मा की सिद्धि करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि बुद्धि आदि गुण हैं, क्योंकि अनित्य होते हुए एक इन्द्रियमात्र द्रव्यों में होता है, वह गुणी पर आश्रित रहता है। नौ द्रव्यों में से वे गृहीत में से बुद्धयादि बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म आदि पृथवी, जल, तेज, वायु एवं आकाश (भूत) के गुण नहीं है क्योंकि ये मन से गृहीत होते हैं। पृथिव्यादि के गुण रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, मन से गृहीत नहीं होते, अपितु नेत्र, रसना, घ्राण, त्वक् और श्रोत्र से गृहीत होते हैं। दिक्, काल और मन के गुण संख्या आदि विशेष गुण नहीं हैं, ये सभी द्रव्यों के सामान्य गुण हैं। चूँकि बुद्धि आदि विशेष गुण हैं, अतः दिक्, काल, मन के गुण नहीं हुए।

चूंकि बुद्धि आदि गुण विशेष गुण हैं और पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक् और मन के गुण ये सिद्ध होते नहीं, तब इन गुणों का आश्रय कौन है? परिशेषानुमान से इन आठों से अतिरिक्त आत्मा नामक द्रव्य ही इनका आश्रय है, यह सिद्ध होता है। इस तरह बुद्धि, सुख, दुःख आदि आत्मा के अनुमापक लिंग सिद्ध होते हैं।

प्रयोगश्च, बुद्धयादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्याश्रिताः, पृथिव्याद्यष्टद्र- व्यानाश्रितत्त्वे सति गुणत्वात्। यस्तु पृथिव्याद्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्याश्रितो न भवति, नासौ पृथिव्याद्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्त- द्रव्यानाश्रितत्त्वे सति गुणोऽपि भवति यथा रूपादिरिति केवलव्यतिरेकी। अन्वयव्यतिरेकी वा। तथाहि, बुद्धयादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यतिरिक्त- द्रव्याश्रिताः, पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्त्वे सति गुणत्वात्। यो यदनाश्रितो गुणः स तदतिरिक्ताश्रितो भवति। यथा पृथिव्याद्यनाश्रितः शब्दः पृथिव्याद्यतिरिक्ताकाशाश्रय इति। तथा च बुद्धयादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्ताश्रयाः।

शब्दार्थ -

बुद्धयादयः = बुद्धि आदि, अनाश्रितत्त्वे = नहीं रहते हुए, तदेवम् = इस तरह से, द्रव्यमात्मा = द्रव्य आत्मा।

गद्यार्थ -

अनुमान प्रयोग यह है - बुद्धि आदि गुण पृथ्वी आदि आठ द्रव्यों से अतिरिक्त द्रव्य में रहते हैं (प्रतिज्ञा), क्योंकि वे पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में नहीं रहते तथा गुण हैं (हेतु)। जो पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में नहीं रहता है, वह पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में नहीं रहने वाला गुण भी नहीं होता है, जैसे कि रूप आदि (व्यतिरेकी दृष्टान्त) यह व्यतिरेकी अनुमान है।

अथवा अन्वयव्यतिरेकी अनुमान इस प्रकार से होता है जैसे कि बुद्धि आदि पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से अतिरिक्त द्रव्य में रहता है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वे पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में नहीं रहने पर भी गुण हैं (हेतु)। जो जिस द्रव्य में नहीं रहने वाला गुण है वह उस द्रव्य से भिन्न द्रव्य में रहता है, जैसा कि पृथिवी आदि द्रव्यों में नहीं रहने वाला (गुण)। शब्द पृथिवी आदि से भिन्न आकाश में रहता है (उदाहरण)। उसी प्रकार बुद्धि आदि विशेष गुण पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में रहते हैं।

व्याख्या -

बुद्धि आदि विशेष गुण हैं, वे किसी गुणी में रहते हैं। गुणी द्रव्य नौ हैं। उनमें बुद्धि आदि आदि आत्मा में ही रहते हैं, अतः आत्मा है, क्योंकि वही बुद्ध्यादि गुणों का आश्रय है। इस बात को ग्रन्थकार ने केवलव्यतिरेकी अनुमान प्रयोग द्वारा बताकर पुनः अन्वयव्यतिरेकी अनुमान से भी आत्मा की सिद्धि की है। केवलव्यतिरेकी अनुमान से बुद्धि आदि विशेष गुणों का आश्रय पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य साध्य है। वह साध्य द्रव्य आत्मा है। सभी आत्मा यहाँ पक्ष है, अतः अन्वयी दृष्टान्त इस में नहीं मिलता, जिसे बुद्धि आदि का आश्रय माना जाये।

अन्वय व्यतिरेकी अनुमान में ग्रन्थकार 'यत् एवं तत्' शब्द का प्रयोग करते हुए बुद्धि आदि को सामान्य गुण के रूप में ग्रहण करते हैं और अन्वयदृष्टान्त बनाते हैं 'यो यदनाश्रितो गुणः स तदतिरिक्ताश्रितो भवति' जो गुण जिस द्रव्य में नहीं रहता है, वह उससे भिन्न द्रव्य में रहता है। यहाँ उदाहरण है - जैसे शब्द गुण। यह पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में नहीं रहता, अतः उनसे भिन्न आकाश द्रव्य में रहता है। इसी प्रकार बुद्धि आदि गुण पृथिवी

आदि आठ द्रव्यों में नहीं रहता है। अतः इन आठों से भिन्न द्रव्य में रहता है। (यह अन्वयव्यतिरेकी दृष्टान्त है)। वह भिन्न द्रव्य ही आत्मा है यह सिद्ध हो जाता है।

तदेवं पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरित्तफ़ो नवमं द्रव्यामात्मा सिद्धः । सच सर्वत्र कार्योपलम्भाद् विभुः, परममहत्परिमाणवान् इत्यर्थः । विभुत्वाच्च नित्योऽसौ व्योमवत् । सुखादीनां वैचित्र्यात् प्रतिशरीरं भिन्नः ।

शब्दार्थ -

कार्योपलम्भात् = कार्य की उपलब्धि होने से, विभुः = व्यापक है, विभुत्वात् = विभु होने से, नित्योऽसौ व्योमवत् = आकाश के समान नित्य, वैचित्र्यात् = भिन्न भिन्न होने से।

गद्यार्थ -

इस प्रकार पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से अतिरिक्त नवम द्रव्य आत्मा है, यह सिद्ध होता है। और यह आत्मा अपने कार्य की सर्वत्र उपलब्धि होने से विभु (व्यापक) है, परम-महत् परिमाण वाला है यह विभु शब्द का अर्थ है। विभु होने के कारण वह आत्मा आकाश के समान नित्य है। सुखादि के भिन्न-भिन्न होने से प्रत्येक शरीर में आत्मा भिन्न-भिन्न ही है।

व्याख्या -

आत्मा विभु है, विभु होने से ही वह नित्य भी है तथा सुखादि की भिन्न-भिन्न शरीर में भिन्न-भिन्न रूप से प्रतीति के कारण आत्मा अनेक भी है। आत्मा विभु है। विभु का अर्थ यहाँ पर 'परममहत् परिमाण वाला' यह है। विभुत्व साध्य है। हेतु है 'कार्योपलम्भात्'। आत्मा के कार्य की सर्वत्र उपलब्धि होती है। कार्य का अर्थ है फल। इसको इस तरह बताया गया है कि दो व्यक्ति एक साथ एक ही तरह से बीज, भूमि, पानी एवं उर्वरा की योजना करके, कृषि करते हैं। परन्तु उपज में भिन्नता हो जाती है या समान रूप से परिश्रम करने वाले दो व्यक्तियों में एक फलवान् हो जाता है दूसरा नहीं होता। इसमें कारण क्या है? कारण है अदृष्ट। यह अदृष्ट फल के प्रति निमित्त होता है। इसीलिए फलभेद देखा जाता है। एक व्यक्ति अपने अदृष्ट के कारण जहाँ भी जाता है भोगसाधन सम्पन्न हो जाता है। चाहे वह जयपुर हो, पटना हो या विदेश का नगर हो। इस तरह यह माना जाता है कि अदृष्ट का कार्य फल सर्वत्र उपलब्ध है। यह अदृष्ट समवाय सम्बन्ध से आत्मा में रहता है, क्योंकि अदृष्ट एक गुण है, जो गुणी आत्मा में रहता है। अदृष्ट का आश्रय यह आत्मा विभु अर्थात् व्यापक है, यह बात 'कार्योपलम्भात्' इस हेतु से सिद्ध होता है।

परममहत् परिमाण का अन्य अर्थ है 'अपरिच्छिन्न परिमाण'। अपरिच्छिन्न परिमाण वाला द्रव्य मूर्त द्रव्यों के साथ संयोग रखने वाला होता है। जैसे आकाश। परममहत् परिमाण वाला आकाश भी सभी मूर्त द्रव्यों से संयोग रखता है। इसी प्रकार आत्मा भी समस्त मूर्तद्रव्यों से संयुक्त है, अतः व्यापक है।

आत्मा नित्य है। आत्मा की नित्यता को सिद्ध करने हेतु अनुमान प्रयोग तर्कभाषाकार ने किया है - 'विभुत्वाच्च नित्योऽसौव्योमवत्', आत्मा नित्य है (प्रतिज्ञा) विभु होने से (हेतु), आकाश के समान (उदाहरण)। जो जो पदार्थ विभु होता है, वह पदार्थ नित्य होता है, यह व्याप्ति बनती है।

सुखादि की विचित्रता भी आत्मा के अनेक होने में हेतु है। कोई सुखी है, कोई दुःखी है, कोई ज्ञानी है, कोई मूढ है, इस प्रकार की भिन्नता व्यक्तियों में देखी जाती है। एक ही समय में अलग-अलग प्रकार की अनुभूतियाँ लोगों में देखी जाती हैं। इस सुख-दुःखादि का आश्रय आत्मा है, वह भिन्न है, तभी तो एक ही समय में

कोई सुख या कोई दुःख आदि का अनुभव करता है। यदि आत्मा एक ही होती तो एक समय में सभी को दुःख या सुख ही होना चाहिये, लेकिन ऐसा होता नहीं। अतः प्रत्येक शरीर में आत्मा अलग-अलग है तथा वह अनेक है।

आत्मा के परिमाण के विषय में मतभिन्नता – आत्मा अणु है, यह एक पक्ष है। आत्मा मध्यम परिमाण वाला है, यह दूसरा पक्ष है। आत्मा परममहत् परिमाण वाला है, यह न्यायवैशेषिक का पक्ष है।

यदि आत्मा को अणु माना जाये, तब वह शरीर के किसी एक भाग में रहेगा। वह शरीर की समस्त क्रियाओं का संचालन नहीं कर सकेगा। न ही शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों में सुख-दुःखादि का अनुभव कर सकेगा। अतः यह अणु नहीं हो सकता।

आत्मा को यदि मध्यम परिमाण वाला मानें अर्थात् शरीर परिमाण वाला मानें, जैसे कि जैन का मत है, तब तो लघुकाय जीव पिपीलिका के शरीर में संकुचित होगा तथा दीर्घकाय हाथी में विकसित होगा। इस प्रकार आत्मा संकोच-विकास रूपी वाला होने से अनित्य हो जायेगा। अतः यह पक्ष भी नैयायिकों को इष्ट नहीं है।

11.3.2 शरीर निरूपण

तस्य भोगायतनमन्त्यावयवि 'शरीरम्'। सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारो भोगः। स च यदवच्छिन्न आत्मनि जायते, तद्भोगायतनं तदेव शरीरम्। चेष्टाश्रयो वा शरीरम्। चेष्टा तु हिताहितप्राप्तिपरिहारार्था क्रिया, न तु स्पन्दनमात्रम् ।

शब्दार्थ -

अन्त्यावयवि = अन्त्य अवयवी, सुखदुःखान्यतर = सुख-दुःख से भिन्न, जायते = उत्पन्न होता है, चेष्टाश्रयो = चेष्टा का आश्रय, स्पन्दनमात्रम् = चेष्टा।

गद्यार्थ -

उस आत्मा के भोग का आश्रय अन्त्य अवयवी शरीर कहलाता है। सुख और दुःख में से किन्हीं एक का प्रत्यक्ष अनुभव 'भोग' कहलाता है और वह भोग जिससे परिमित आत्मा में उत्पन्न होता है, वही भोग का आयतन है, वही शरीर है। अथवा चेष्टा का आश्रय शरीर है। हित की प्राप्ति के लिए तथा अहित के निवारण के लिए की जाने वाली क्रिया ही चेष्टा कहलाती है। गतिमात्र चेष्टा नहीं है।

व्याख्या -

भोग का आधार शरीर है। भोग कहते हैं दुःख या सुख में से किसी एक के अनुभव को। आत्मा व्यापक तत्त्व है, फिर भी वह सुख या दुःख का अनुभव शरीर में ही करता है। शरीरहीन आत्मा सुख दुःखादिकों का अनुभव नहीं करता है। इसलिए कहा गया है कि 'स च यदवच्छिने आत्मनि जायते'। भोग शरीर से परिच्छिन्न आत्मा में होता है। अतः शरीर ही भोग का आयतन या आधार है।

प्रश्न उठता है कि काँटा शरीर के जिस अवयव में चुभता है वहाँ पीडा होती है, तब अवयवावच्छिन्न आत्मा दुःखादि का अनुभव करती है। अतः हाथ पैर आदि अवयव में भी भोगायतन लक्षण अतिव्याप्त होता है? इस अतिव्याप्ति दोष को दूर करने के लिए शरीर के लक्षण में अन्त्यावयवि पद दिया गया है। अन्त्यावयवि का अर्थ है द्रव्यान्तर का अनारम्भक अवयवी। हाथ पैर द्रव्यान्तर के आरम्भक हैं। ये अवयवी हैं। परन्तु अन्त्य अवयवी नहीं हैं। अन्त्य अवयवी सम्पूर्ण शरीर ही है। हाथ पैर अवयवी कैसे हैं? इसका उत्तर है कि हाथ पैर अगुलियों वाले होने से अवयवी हैं। अन्त्यावयवी वह है जो अन्य अवयवी का अवयव न हो। वह शरीर ही है। हाथ पैर अन्त्यावयवी नहीं हैं। घट आदि भी अन्त्यावयवी हैं, किन्तु वे भोगायतन नहीं हैं। भोगायतन पद शरीर के लक्षण में इसलिए रखा गया है कि घट-पदादि में शरीर का लक्षण अतिव्याप्त न हो।

पृथिवी आदि के परमाणुओं को उदयनाचार्य प्रभृति ने ईश्वर का शरीर माना है। ईश्वर में भोग न होने से उसके परमाणु शरीर में भोगायतनम् यह लक्षण संघटित नहीं होता है। इस दोष के कारण ही तर्कभाषाकार ने शरीर का एक दूसरा लक्षण प्रस्तुत किया - 'चेष्टाश्रयो वा शरीरम्' जो चेष्टा का आश्रय है वह शरीर है। चेष्टा का अर्थ है - हित की प्राप्ति एवं अहित के परिहार के लिए की जाने वाली क्रिया। इस तरह विशेष प्रकार की क्रिया चेष्टा है।

अतः चेतन आत्मा के संयोग से चेष्टा होती है, क्योकि हिताहित का विवेक चेतन की क्रिया है। इस तरह प्रयत्नवान् आत्मा का संयोग जिसमें असमवायिकारण हो ऐसी क्रिया भी चेष्टा कहलाएगी। अतः अचेतन यानादि की क्रिया चेष्टा नहीं है। यह लक्षण ईश्वर के शरीर परमाणु में संघटित होता है, क्योंकि ईश्वर का अपना कोई हित या अहित नहीं होता। वह तो जीवों के हित आदि के लिए तथा उनके अहित परिहार के लिए जगत् निर्माणार्थ परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न करता है। इस तरह ईश्वर के प्रयत्न से उत्पन्न चेष्टा का आश्रय होने से परमाणु को ईश्वर का शरीर माना जाता है।

11.3.3 इन्द्रिय निरूपण

शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणमतीन्द्रियम् 'इन्द्रियम्'। अतीन्द्रियमिन्द्रियमित्युच्यमाने कालादेरपीन्द्रियत्व-प्रसंगोऽत उक्तं ज्ञानकरणमिति। तथाऽपीन्द्रियसन्निकर्षेतिप्रसंगोऽत उक्तं शरीरसंयुक्तमिति। शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणमिन्द्रियमित्युच्यमाने आलोकादेरिन्द्रियत्वप्रसंगोऽत उक्तमतीन्द्रियमिति। तानि चेन्द्रियाणि षट् - घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्रमनांसि ।

शब्दार्थ -

अतीन्द्रियम् = इन्द्रियों से गृहीत न होने वाला, इत्युच्यमाने = इतना ही कहा जाये, कालादेः= काल आदि में भी।

गद्यार्थ -

शरीर से संयुक्त, ज्ञान का करण और लौकिक प्रत्यक्ष का विषय न होने वाला 'इन्द्रिय' है। (यह इन्द्रिय का लक्षण है)। यदि इस लक्षण में 'अतीन्द्रियमिन्द्रियं' इतना कहा जाये तब काल, आकाश आदि में इन्द्रिय के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी, यह अतिव्याप्ति न हो, इसलिए लक्षण में 'ज्ञानकरणम्' यह पद भी कहा गया है। 'ज्ञानकरणम् अतीन्द्रियम् इन्द्रियम्' इतना इन्द्रिय के लक्षण में कहे जाने पर भी इन्द्रिय सन्निकर्ष में इन्द्रिय लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। यह अतिव्याप्ति न हो इस लिए लक्षण में 'शरीरसंयुक्तम्' पद कहा गया है। यदि 'शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणमिन्द्रियम्' इतना ही इन्द्रिय का लक्षण करें और अतीन्द्रिय पद इसमें न जोड़ें, तो आलोक आदि में भी इन्द्रिय लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। यह अतिव्याप्ति आलोकादि में न हो इसलिए लक्षण में 'अतीन्द्रियम्' पद भी रखा गया है। ये इन्द्रियाँ घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र और मन के रूप में छह हैं।

व्याख्या -

इन्द्रिय का लक्षण है - 'शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणम् अतीन्द्रियम् इन्द्रियम्'। इस लक्षण में शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणम् अतीन्द्रियम् ये तीनों पद साभिप्राय हैं, जिसका उल्लेख ग्रन्थकार ने किया है। आत्मा का अनुमापक लिंग इन्द्रिय है, आत्मा से दृष्ट या सृष्ट भी इन्द्रिय है। इन्द्रिय के लक्षण में मुख्य पद है 'ज्ञानकरणम्'। इसके दो विशेषण हैं – 1. शरीरसंयुक्तम् 2. अतीन्द्रियम्।

यदि इन्द्रिय के लक्षण में 'ज्ञानकरणं' पद न जोड़ा जाये तब लक्षण होगा - 'शरीर संयुक्तम् अतीन्द्रियम् इन्द्रियम्'। यह लक्षण काल, आकाश, दिक् आदि में भी अतिव्याप्त हो जायेगा, क्योंकि काल आदि शरीर के साधारण कारण होने से शरीर संयुक्त हैं, अतीन्द्रिय भी हैं। इस तरह लक्षण दोषग्रस्त हो जाता है। ज्ञानकरणम् पद के रखने पर इन्द्रिय ज्ञान का करण होगा। काल आदि साधारण कारण तो हैं, किन्तु ज्ञान के करण असाधारण कारण नहीं हैं। केवल साधारण कारण हैं। इस तरह 'ज्ञानकरणम्' पद के लक्षण में रहने से इन्द्रिय का लक्षण कालादि में अतिव्याप्त नहीं होता है।

यदि लक्षण में 'शरीरसंयुक्तम्' यह पद न रखें तब 'ज्ञानकरणम् अतीन्द्रियम् इन्द्रियम्' यह लक्षण होगा। यह लक्षण इन्द्रियार्थसन्निकर्ष में अतिव्याप्त हो जायेगा, क्योंकि इन्द्रिय का अर्थ के साथ संयोगादिसन्निकर्ष ज्ञान का करण है तथा उसका इन्द्रिय से ग्रहण नहीं होता। अतः वह अतीन्द्रिय भी है। इस तरह यह लक्षण इन्द्रियार्थसन्निकर्ष में अतिव्याप्त होने से दोषग्रस्त हो जाएगा। इस दोष को दूर करने हेतु शरीरसंयुक्तम् पद है। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का शरीर के साथ संयोग नहीं होता है, क्योंकि संयोगादि सन्निकर्ष द्रव्यरूप नहीं है और संयोग केवल द्रव्यों का ही होता है। शरीर द्रव्य के साथ-साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष संयुक्त नहीं हो सकता। अतः लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता है। अतिव्याप्ति का वारण (इन्द्रियसन्निकर्ष में) ही 'शरीरसंयुक्तम्' पद का प्रयोजन है।

'शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणमिन्द्रियम्' इतना ही लक्षण किया जाये, 'अतीन्द्रियम्' यह पद लक्षण में न दिया जाये तब आलोक आदि में भी इन्द्रिय का लक्षण अतिव्याप्त हो जायेगा, क्योंकि आलोक भी शरीर से संयुक्त होता है तथा चाक्षुष ज्ञान का कारण भी होता है। अतीन्द्रियम् पद को लक्षण में रखने पर आलोकादि में इन्द्रियलक्षण अतिव्याप्त नहीं होता है, क्योंकि आलोक अतीन्द्रिय नहीं है, यह इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष किया जाता है।

अतीन्द्रियम् - इन्द्रियम् अतिक्रान्तम् इस व्युत्पत्तिलम्य अर्थ को यहाँ नहीं लिया जाता। अपितु लौकिक प्रत्यक्ष का विषय न होना यह अर्थ लिया जाता है। यदि 'इन्द्रिय का विषय न होना' अर्थ लिया जाये तब इन्द्रिय के लक्षण में आत्माश्रय दोष होता है। अतः 'योगजधर्माजन्यसाक्षात्काराविषयम् अतीन्द्रियम्' यह लक्षण अतीन्द्रिय पद का किया जाता है।

➢ **इन्द्रियों के भेद**

जैसा कि ऊपर बताया गया इन्द्रयों के छः प्रकार हैं। इनका वर्णन निम्मलिखित प्रकार से है -

- **घ्राण एवं रसना**

तत्र गन्धोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं घ्राणम् । नासाग्रवर्ति। तच्च पार्थिवं गन्धवत्वाद् घटवत्। गन्धवत्त्वञ्च गन्धग्राहकत्वात्। यदिन्द्रियं रूपादिषु पञ्चसु मध्ये यं गुणं गृ"णाति तदिन्द्रियं तद्गुणसंयुत्तफ़, तथा चक्षुरूपग्राहकं रूपवत् ।

रसोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं रसनम्। जिह्वाग्रवर्ति। तच्चाप्यं रसवत्त्वात्। रसवत्त्वञ्च रूपादिषु पञ्चसु मध्ये रसस्यैवाभिव्यञ्जकत्वाल्लालावत्।

शब्दार्थ -

गन्धोपलब्धिसाधनम् = गन्ध की उपलब्धि का साधन, नासाग्रवर्ति = नासिका के अग्रभाग में, पार्थिवम् = पृथिवी से, गन्धवत्त्वात् = गन्ध वाली होने से, गृह्णाति = ग्रहण करती है, जिह्वाग्रवर्ति= जिह्वा के अग्रभाग में, आप्यम् = जल वाली।

गद्यार्थ -

उन छह प्रकार के इन्द्रियों में गन्ध की प्राप्ति का साधन इन्द्रिय घ्राण है। वह नासिका के अग्रभाग पर रहती है। वह पार्थिव (पृथिवी से जन्य) इन्द्रिय है, क्योंकि गन्धवाली है, जैसे कि घट। गन्ध का ग्राहक होने से वह गन्धयुक्त मानी जाती है। जो इन्द्रिय रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इन पाँचों के मध्य जिस गुण को ग्रहण करती है, वह इन्द्रिय उस गुण से युक्त मानी जाती है, जैसे कि चक्षु रूप का ग्राहक होने से रूप गुण से युक्त माना जाता है।

रस की प्राप्ति का साधन इन्द्रिय रसना कहलाती है। वह जिह्वा के अग्रभाग पर रहती है। वह जल से उत्पन्न होने के कारण रसवती मानी जाती है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द के मध्य रस की ही अभिव्यक्ति करने वाली होने से वह रसवती है। जैसे कि रस की अभिव्यंजक लार रसयुक्त होती है।

व्याख्या -

घ्राण के लक्षण में गन्ध पद चक्षु आदि इन्द्रिय में अभिव्याप्ति रोकने के लिए है। 'गन्धोपलब्धिसोधनम् इन्द्रियं घ्राणम्' इस लक्षण में इन्द्रिय पद घ्राण एवं गन्ध के सन्त्रिकर्ष (संयुक्त समवाय) में अतिव्याप्ति वारण के लिए है। घ्राण एवं गन्ध का सन्निकर्ष भी गन्धोपलब्धि का कारण है। किन्तु इन्द्रिय नहीं है। अतः अतिव्याप्ति नहीं होती। घ्राण इन्द्रिय का स्थान नासिका का अग्रभाग है। घ्राण जो नासिकाग्रवर्ति है, संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष से गन्ध का ग्रहण कर लेती है।

घ्राण पार्थिव इन्द्रिय है। यह पृथिवी से सम्बद्ध या जन्य है। सांख्यमत में घ्राण अहंकार से उत्पन्न माना जाता है। इसका खण्डन करने हेतु ग्रन्थकार ने इसे पार्थिव कहा है। इसकी सिद्धि हेतु अनुमान प्रयोग भी किया है - तच्च पार्थिवम् (प्रतिज्ञा) गन्धवत्त्वात् (हेतु) घटवत् (उदाहरण) यद्यत् गन्धवत् तत् तत् पार्थिवम् यह व्याप्ति बनती है।

रस के ग्रहण का साधन रसन इन्द्रिय है। रस शब्द घ्राणादि में अतिव्याप्ति रोकने हेतु लक्षण में कहा गया है। रसन इन्द्रिय एवं रस के संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष में अतिव्याप्ति के वारण हेतु यहाँ भी इन्द्रियम् यह पद है। जि"वा के अग्रभाग में रसन इन्द्रिय का स्थान है। रसनेन्द्रिय जल सम्बद्ध या जल जन्य है। 'तच्चाप्यं (प्रतिज्ञा) रसवत्त्वात् (हेतु) लालावत् (उदाहरण) यत् यत् रसवत् तत् तदाप्यम्' यह व्याप्ति बनती है।

- **चक्षु एवं त्वक्**

रूपोलब्धिसाधनमिन्द्रियं चक्षुः। कृष्णताराग्रवर्ति। तच्च तैजसं, रूपादिषु पञ्चसु मध्ये रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वाद् प्रदीपवत्।

स्पर्शोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं त्वक्, सर्वशरीरव्यापि। तत्तु वायवीयं, रूपादिषु पञ्चसु मध्ये स्पर्शस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्, अङ्गसघ्गिसलिलशैत्याभिव्यञ्जकव्यजनवातवत्।

शब्दार्थ -

रूपोपलब्धिसाधनम् = रूप की उपलब्धि का साधन, तैजसम् = तेज द्रव्य से उत्पन्न, स्पर्शोपलब्धिसाधनम् = स्पर्श की उपलब्ध का साधन, सर्वशरीरव्यापि = समस्त शरीर में, वायवीयम् = वायु से उत्पन्न।

गद्यार्थ -

रूप की उपलब्धि का साधन इन्द्रिय चक्षु है। वह नेत्र की काली पुतली के अग्रभाग में रहती है और वह तेज से उत्पन्न इन्द्रिय है, क्योंकि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इन पाँचों के मध्य रूप की ही अभिव्यञ्जक होती है। जैसे कि प्रदीप रूप का ही अभिव्यञ्जक है।

स्पर्श की उपलब्धि का साधन इन्द्रिय त्वक् कहलाती है। वह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है और वह वायु से उत्पन्न (वायवीय) मानी जाती है, क्योंकि रूप, रस आदि पाँचों गुणों के मध्य वह स्पर्श गुण की ही अभिव्यिञ्जक है। जैसे शरीर में लगे हुए जल की शीतलता की अभिव्यक्ति करने वाली पंखे की वायु (केवल स्पर्श का अभिव्यञ्जक है)।

व्याख्या -

जिससे व्यक्ति रूप को देखता है वह चक्षु है। अन्वर्थसंज्ञा है। लक्षण में रूप पद घ्राणादि में अतिव्याप्ति रोकने हेतु और इन्द्रिय पद चक्षु और रूप के सन्निकर्ष संयुक्तसमवाय में अतिव्याप्ति रोकने के लिए है। आँख में काली पुतली का अगला भाग इस चक्षु का स्थान है। यह चक्षु तैजस इन्द्रिय है। अतः इसमें रश्मियाँ होती हैं। नेत्र की रश्मियाँ रूपी द्रव्य के साथ सन्निकर्ष कर तथा रूप के साथ संयुक्तसमवायसन्निकर्ष द्वारा रूपयुक्त द्रव्य तथा रूप का ग्रहण करती हैं।

त्वचा में विद्यमान इन्द्रिय त्वक् या स्पर्शेन्द्रिय कहलाती है। 'सर्वशरीरवर्ति' त्वगिन्द्रिय सम्पूर्ण शरीर में रहती है। त्वगिन्द्रिय द्वारा स्पर्शयुक्त द्रव्य का ग्रहण होता है। त्वगिन्द्रिय वायु से उत्पन्न मानी जाती है, क्योंकि रूपरसादि गुणों में यह केवल स्पर्श गुण की अभिव्यिञ्जक है। स्पर्श वायु का विशेष गुण है। अतः वायु से जन्य त्वगिन्द्रिय है।

- **श्रोत्र एवं मन**

शब्दोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं श्रोत्रम्। तच्च कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नमाकाशमेव, न द्रव्यान्तरं शब्दगुणत्वात्। तदपि शब्दग्राहकत्वात्। यदिन्द्रियं रूपादिषु पञ्चसु मध्ये यद्गुणव्यञ्जकं तत् तद्गुणसंयुत्तफ़ं यथा चक्षुरादि रूपग्राहकं रूपादियुक्तम्। शब्दग्राहकश्च श्रोत्रमतः शब्दगुणकम्।

सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। तच्चाणुपरिमाणं, हृदयान्तर्वर्ति।

ननु चक्षुरादीन्द्रियसद्भावे किं प्रमाणम्? उच्यते। अनुमानमेव। तथाहि रूपाद्युपलब्धयः करणसाध्याः क्रियात्वात्, छिदिक्रियावत्।

शब्दार्थ -

शब्दोपलब्धिसाधनम् = शब्द को ग्रहण करने का साधन, द्रव्यान्तरम् = दूसरा द्रव्य, गुणव्यञ्जकम् = गुण का व्यञ्जक। अणुपरिमाणम् = अणु परिमाणवाला, हृदयान्तर्वर्ति = हृदय में रहता है, करणसाध्याः = करण से सिद्ध होती है।

गद्यार्थ -

शब्द की उपलब्धि का साधन इन्द्रिय श्रोत्र कहलाता है। वह श्रोत्रेन्द्रिय कर्ण के छिद्र से घिरा हुआ आकाश ही है, कोई अन्य द्रव्य नहीं है, क्योंकि वह शब्द नामक गुण का आश्रय है। वह भी शब्द गुण का आश्रय है, क्योंकि वह शब्द गुण का ग्राहक है। जो इन्द्रिय रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द नामक पाँचों गुणों के मध्य जिस गुण को अभिव्यक्त करती है, वह इन्द्रिय उस गुण से युक्त होती है। जैसे रूप आदि का ग्रहण करने वाली चक्षु आदि इन्द्रिय रूपादि गुण से युक्त है और श्रोत्र भी शब्द का ग्राहक है। अतः श्रोत्र शब्दगुण युक्त है।

सुखादि की उपलब्ध का साधन इन्द्रिय मन कहलाता है, वह अणुपरिमाण वाला है और हृदय के भीतर में रहता है।

(प्रश्न) चक्षु आदि इन्द्रियों के अस्तित्व में क्या प्रमाण है?

कहते हैं। अनुमान ही प्रमाण है। जैसे कि रूपादि की उपलब्धि करण से होती है, क्रिया होने से, जैसे छेदन (काटने) की क्रिया (कुठारादि करण से होती है)।

व्याख्या -

शब्द को ग्रहण करने का साधन श्रोत्रेन्द्रिय है। लक्षण में 'शब्द' पद चक्षु आदि इन्द्रियों में इस लक्षण की अतिव्याप्ति वारण के लिए है। शब्द का ग्राहक सन्निकर्ष समवाय में अतिव्याप्ति वारण के लिए लक्षण में 'इन्द्रिय' पद है। श्रोत्र अपने अन्दर समवाय सम्बन्ध से रहने वाले शब्द का समवाय सन्निकर्ष से ही ग्रहण करता है। अन्य इन्द्रियाँ पृथिवी, जल, तेज और वायु से उत्पन्न मानी जाती हैं, किन्तु श्रोत्र इन्द्रिय आकाश जन्य नहीं है, अपितु आकाश रूप है, अतः कहा गया 'तच्च आकाशरूपमेव'। श्रोत्र किस तरह आकाश रूप है। इसका उत्तर दिया है कि वह कर्णशष्कुलि अवच्छिन्नमाकाशमेव अर्थात् कर्णच्छिद्र से घिरा हुआ आकाश ही श्रोत्र है। श्रोत्र को आकाश-रूप सिद्ध करने हेतु अनुमान प्रयोग इस प्रकार किया गया है - 'तदपि शब्द ग्राहकत्वात् --- अतः शब्दगुणकम्', शब्द गुण वाला होने से श्रोत्र आकाश रूप है। आकाश भी शब्द गुणवाला ही है। बहरे व्यक्ति का भी कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश है, वह विभु एवं नित्य है, तब बहरा शब्द का ग्रहण श्रोत्र से क्यों नहीं करता? यह एक प्रश्न उठता है। इस का उत्तर न्यायवैशेषिक यह देता है कि सभी भोगों एवं कार्यों का निमित्त अदृष्ट भी होता है। इस तरह अदृष्ट विशिष्ट आकाश श्रोत्र है। बधिर को अदृष्टनिमित्त की सहायता नहीं मिलती है। अतः बधिर श्रोत्र से शब्द का ग्रहण नहीं कर पाता है।

जो बोध या ज्ञान का साधन इन्द्रिय है वह मनस् है। लक्षण में सुखादि पद चक्षु आदि इन्द्रियों में अतिव्याप्ति रोकने के लिए है। सुखादि का ग्रहण करने वाले संयुक्त समवाय नामक सन्निकर्ष में अतिव्याप्ति वारण के लिए लक्षण में इन्द्रिय पद है। संयुक्तसमवाय इन्द्रिय नहीं है, अतः लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता है।

सुखादि के अनुभव की प्रक्रिया - पुरीतत् नाडी से भिन्न प्रदेश में मन का आत्मा से संयोग होता है, संयुक्त आत्मा में समवायसम्बन्ध से विद्यमान सुख दुःख आदि का मन से संयुक्त-समवाय नामक सन्त्रिकर्ष द्वारा ग्रहण हो जाया करता है।

मन का परिमाण अणु है। अणु होने में कारण हृदय के भीतर अवस्थित मन आवश्यकतानुसार शरीर के विभिन्न भागों में जाता है। जब श्रोत्र नेत्रदि कई इन्द्रियाँ युगपत् अपने अपने विषयों रूप, रस, श्रोत्रदि से सम्बन्ध करती हैं, तब भी एक साथ कई विषयों का प्रत्यक्ष नहीं होता है, अपितु एक-एक विषय का क्रमशः प्रत्यक्ष होता है। इस प्रत्यक्ष में मन की अणुता कारण है। अनेक विषयों का एक साथ इन्द्रियों से सम्बन्ध होने पर भी अणु मन जिस इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होता है, उसी इन्द्रिय का विषय प्रत्यक्ष होता है, अन्य का नहीं। इस तरह एक काल में मन से संयुक्त एक इन्द्रिय अपने विषय का प्रत्यक्ष कराती है। यह ज्ञान की उत्पत्ति का क्रम है।

यदि मन को अणु न मानकर व्यापक माना जाये तब एक काल में मन का सभी इन्द्रियों से सम्बन्ध मानना पड़ेगा और सभी इन्द्रियों के विषय का एक ही काल में प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा। किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः मन को अणु माना गया है।

इन्द्रियों की सत्ता में प्रमाण क्या है - कृष्णतारा नासिकाग्रभाग आदि में विद्यमान इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं, इनका प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतः इन्द्रियाँ हैं, इसमें प्रमाण क्या है? यह प्रश्न उपस्थित होता है। ग्रन्थकार ने अनुमानमेव कहकर इन्द्रियों की सत्ता में अनुमान प्रमाण को स्वीकार किया है।

अनुमान प्रयोग - रूपाद्युपलब्धयः करणसाध्याः क्रियात्वात् छिदिक्रियावत् अर्थात् क्रिया करण से साध्य होती है। जैसे लकड़ी को काटने की क्रिया। छेदन क्रिया की सिद्धि में कुठार करण है। उसी प्रकार रूप आदि की

उपलब्धियाँ भी क्रियाएँ हैं। इनको सिद्ध करने का साधन चाहिये। इनकी उपलब्धि के जो करण हैं, वे इन्द्रियाँ ही हैं। इस तरह अनुमान से इन्द्रिय की सिद्धि उनके कार्य रूपादि की उपलब्धियों से की जाती है।

स्वयं आकलन कीजिए -

अभ्यास प्रश्न -

1. प्रमेयों की संख्या कितनी है?
2. आत्मा किसका विषय है?
3. पृथिवी आदि भूतों में गुण किससे ग्रहण नहीं होते?
4. आत्मा का परिमाण कैसा है?
5. आत्मा के भोग का आश्रय क्या है?
6. हित की प्राप्ति और अहित के निवारण के लिए की जाने वाली क्रिया को क्या कहते हैं?
7. इन्द्रियों की संख्या कितनी है?
8. घ्राण इन्द्रिय कहाँ रहती है?
9. रस की प्राप्ति किस इन्द्रिय द्वारा होती है?
10. चक्षु इन्द्रिय कहाँ रहती है?
11. स्पर्श की उपपलब्धि का साधन क्या है?

11.4 सारांश

न्यायशास्त्र में प्रमाणों का वर्णन करने के उपरान्त प्रमेयों का विवेचन किया गया है। यथार्थ ज्ञान के विषय का नाम ही प्रमेय है। सभी दर्शनों के विद्वानों ने प्रमेयों के अनेक प्रकार बताए हैं, परन्तु न्याय दर्शन ने बारह प्रमेयों को मुख्य मानते हुए उन्हीं में अन्यों का समावेश कर दिया है। प्रमेयों का नाममात्र से संकीर्तन करके क्रमशः उनके लक्षण एवं परीक्षाक्रम में प्रथम प्रमेय आत्मा का लक्षण तथा उसकी सिद्धि की है।

आत्मत्व नामक सामान्य का आश्रय आत्मा है। यह आत्मा देहादि से भिन्न होता है और प्रत्येक शरीर में भिन्न है, विभु है और नित्य है। भोग अर्थात् सुख-दुःख का आधार शरीर है। आत्मा व्यापक तत्त्व है, फिर भी वह सुख या दुःख का अनुभव शरीर में ही करता है। शरीरहीन आत्मा सुख दुःखादिकों का अनुभव नहीं करता है। इसलिए कहा गया है कि 'स च यदवच्छिने आत्मनि जायते'। शरीर से संयुक्त, ज्ञान का आधार और जो लौकिक प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, उसे 'इन्द्रिय' गया है।

छह प्रकार के इन्द्रियों में जिस इन्द्रिय के द्वारा गन्ध की प्राप्ति होती है, उस इन्द्रिय को घ्राण कहते हैं। वह नासिका के अग्रभाग पर रहती है। जिस इन्द्रिय के द्वारा रस की प्राप्ति होती है, उसे रसना कहा जाता है। वह जिह्वा के अग्रभाग पर रहती है। रूप की उपलब्धि का साधन इन्द्रिय चक्षु है, जो नेत्र की काली पुतली के अग्रभाग में रहती है और वह तेज से उत्पन्न है। जिस इन्द्रिय से स्पर्श की उपलब्धि हो, उसे त्वक् कहते हो। वह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है।

11.5 कठिन शब्दावली

बुद्ध्यादिलिंगकः= बुद्धि आदि (अनुमापक) लिंग वाला, सर्वद्रव्यसाधारणगुणा = सभी द्रव्यों के साधारण गुण, भोगायतनम् = भोग का आश्रय, हिताहितप्राप्तिपरिहारार्था = हित को प्राप्त करने तथा अहित का परिहार

करने के लिए, ज्ञानकरणम् = ज्ञान का आधार, अभिव्यञ्जकत्वात् = अभिव्यञ्जक (प्रकाशक) होने से, लालावत् = लार वाली, कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नम् = कर्ण के छिद्र (शष्कुलि) से घिरा हुआ।

11.6 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर -

1. बारह
2. मानस प्रत्यक्ष का
4. मन से
4. परम महत्
5. शरीर
6. चेष्टा
7. छः - घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र और मन
8. नासिका के अग्रभाग में
9. रसना
10. काली पुतली के अग्रभाग में
11. त्वक्

11.7 सहायक ग्रन्थ

1. तर्कभाषा, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणि, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी-221001, संस्करण-12, 2013.
2. तर्कभाषा, टीकाकार, पण्डित श्रीरुद्रधर झा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-221001, संस्करण-7, 2021.
3. तर्कभाषा, व्याख्याकार डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-221001, संस्करण-2013.
4. तर्कभाषा, व्याख्याकार एवं सम्पादक डॉ. अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर-302001, संस्करण-2021.
5. तर्कभाषा, व्याख्याकार श्रीबदरीनाथशुक्ल, मोतीलाल बनारसी दास, चौक वाराणसी, प्रथम संस्करण-1968.

11.8 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न -

1. प्रमाण को स्पष्ट करते हुए उसके भेदों की विस्तृत व्याख्या करें।
2. तर्कभाषा के अनुसार आत्मा की व्याख्या करें।
3. तर्कभाषा के अनुसार इन्द्रिय का अर्थ और उसके भेदों का उल्लेख करें।

इकाई - बारह

अर्थ निरूपण

संरचना

12.1 प्रस्तावना
12.2 उद्देश्य
12.3 अर्थ निरुपण
  12.3.1 द्रव्य निरूपण
    - स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न
12.4 सारांश
12.5 कठिन शब्दावली
12.6 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर
12.7 सहायक ग्रन्थ
12.8 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियो, इस इकाई में प्रमेयों के अर्थनिरूपण और उसके भेद पृथिवी, आप (जल) और तेज की विस्तार से चर्चा की गई है। इसमें इनके लक्षण, उदाहरण इत्यादि सहित उनके होने में अनुभव की जानकारी प्रदान की गई है।

12.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से विद्यार्थियों को निम्नलिखित जानकारी उपलब्ध होगी –

- अर्थनिरूपण,
- द्रव्य निरूपण
- पृथिवी,
- आप (जल) और तेज

12.3 अर्थ निरूपण

अर्थाः षट्पदार्थाः। ते च द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः। प्रमाणादयो यद्यप्यत्रैवान्तर्भवन्ति तथापि प्रयोजनवशाद् भेदेन कीर्तनम्।

शब्दार्थ -

अर्थाः = अर्थ नामक, अन्तर्भवन्ति = अर्न्तभूत हो जाते हैं, कीर्तनम् = कथन, दिगात्ममनांसि = दिक्, आत्मा और मन।

गद्यार्थ -

छह पदार्थ अर्थ कहलाते हैं और वे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय हैं। प्रमाण, प्रमेय आदि षोड्श पदार्थ यद्यपि इन छह में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं, फिर भी प्रयोजन विशेष से पृथक् रूप से इनका कथन किया गया है।

व्याख्या -

तर्कभाषा न्याय वैशेषिक का प्रकरण ग्रन्थ है। दोनों दर्शनों का सम्मिलित वर्णन करने की दृष्टि से तर्कभाषाकार ने अर्थ शब्द से वैशेषिक दर्शनोक्त द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष एवं समवाय को बताया है। न्यायसूत्र के अनुसार 'गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः' द्वारा इन्द्रियों के विषय गन्धादि पाँच को अर्थ माना गया है।

'प्रमाणादयो - भेदेन प्रदर्शनम्' - न्याय दर्शन के प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजनादि का वैशेषिकोक्त छह पदार्थों में अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि संसार के सभी भावपदार्थ इन छह में ही समाविष्ट हैं। पुनः न्याय दर्शनोक्त षोडश पदार्थों का विवेचन इस ग्रन्थ में क्यों किया जाता है? इस प्रश्न का उत्तर तर्कभाषाकार ने 'योजनवशाद् भेदेन कीर्तनम्' कहकर दिया है।

'आन्वीक्षकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती' इस कथन के अनुसार प्राणियों के कल्याण हेतु चार विद्याएँ - आन्वीक्षकी (न्यायविद्या), त्रयी (तीनों), वेद वार्ता (अर्थशास्त्र शिल्प आदि) तथा दण्डनीति-राजनीति मानी गई है। आन्वीक्षकी को सभी विद्याओं का प्रदीप, सभी कर्मों का उपाय तथा सभी धर्मों का आश्रय माना गया है। इस तरह न्यायशास्त्रोक्त प्रमाण प्रमेयादि षोडश पदार्थों का विवेचन कर न्याय विद्या का सम्यक् विवेचन हो सकता है, इसके बिना नहीं। यह एक विशेष प्रयोजन सोलह पदार्थों का पृथक् निदेश करने का है। यदि प्रमाण प्रमेयादि षोडश पदार्थों का विवेचन यहाँ न हो तब न्याय-विद्या उपनिषदों के समान अध्यात्मविद्या मात्र स्वीकार की जाएगी। अतः प्रमाणादि का पृथक् निर्देश कर विवेचन किया गया है।

अन्य प्रयोजन यह है कि प्रमाणादि षोडश पदार्थों के तत्त्वज्ञान को निःश्रेयस का कारण माना गया है। अतः द्रव्यादि छह पदार्थों से पृथक् इनका विवेचन किया गया है।

12.3.1 द्रव्य निरूपण

तत्र समवायिकारणं द्रव्यम्। गुणाश्रयो वा। तानि च द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजो वाय्वाकाशकाल-दिगात्ममनांसि नवैव।

गद्यार्थ -

उन (छह अर्थों) में जो समवायिकारण होता है, वह द्रव्य कहलाता है अथवा जो गुणों का आश्रय होता है, वह द्रव्य कहलाता है। वे द्रव्य पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ये नौ ही हैं।

व्याख्या –

जो किसी कार्य का समवायिकारण होता है वह द्रव्य कहलाता है। इस लक्षण में समवायि पद न रखने पर 'कारणं द्रव्यं' यह लक्षण होगा। तब गुण कर्म में भी यह लक्षण अतिव्याप्त हो जायेगा, क्योंकि गुण और कर्म किसी कार्य के असमवायि तथा निमित्त कारण हुआ करते हैं। यथा तन्तु का रूप पटरूप का एवं कर्म संयोग-विभाग का असमवायिकारण होता है तथा स्वप्रत्यक्ष का निमित्तकारण होता है। अतः गुण कर्म में अतिव्याप्ति वारणार्थ 'समवायि' पद का लक्षण में निवेश है।

यदि लक्षण में कारणपद न रखें तब समवायि द्रव्यम् यह लक्षण होगा। यह लक्षण भी गुण और कर्म में अतिव्याप्त हो जायेगा, क्योंकि गुण में गुणत्व तथा कर्म में कर्मत्व जाति समवाय सम्बन्ध से है। अतः वे दोनों

'समवायि' समवायविशिष्ट हैं। इस अतिव्याप्ति के वारणार्थ कारण पद है। गुण और कर्म में सामान्य नित्य है, गुण कर्म उसके जनक नहीं हैं। अतः लक्षण गुण और कर्म में अतिव्याप्त नहीं होता।

जो गुणों का आश्रय होता है, वह द्रव्य है। इस लक्षण पर पूर्वपक्षी ने दोष बतलाया था कि द्रव्य प्रथम क्षण में निर्गुण उत्पन्न होता है, यह न्याय का सिद्धान्त है। तब प्रथम क्षण में द्रव्य गुण का आश्रय नहीं है। इसलिए यह लक्षण ठीक नहीं है। इस दोष प्रदर्शन के कारण पहले तर्कभाषाकार ने 'समवायिकारणं द्रव्यम्' यह निर्दुष्ट लक्षण दिया। अब 'गुणाश्रयो द्रव्यं' कहकर पूर्वपक्षी के दोष का निराकरण करते हैं। यहाँ पर ग्रन्थकार का अभिप्रेतार्थ यह है - गुणों के आश्रय की योग्यता रखने वाला द्रव्य है। आश्रय का अर्थ 'आश्रय की योग्यता' है। इसमें योग्यता गुणात्यन्ताभावाभाव है। गुणों के आश्रय के अत्यन्ताभाव का अभाव घटादि द्रव्यों में न होने से 'गुणाश्रयो द्रव्यं' यह लक्षण भी ठीक है।

➢ **पृथ्वी**

तत्र पृथिवीत्वसामान्यवत्ती पृथिवी। काठिन्यकोमलत्वाद्यवयवसंयोगविशेषेण युक्ता। घ्राण-शरीर-मृत्पिण्ड-पाषाण-वृक्षादिरूपा। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथकत्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व-संस्कारवती। सा च द्विविधा, नित्याऽनित्या च। नित्या-परमाणुरूपा। अनित्या च कार्यरूपा। द्विविधायाः पृथिव्या रूप-रस-गन्ध-स्पर्शा अनित्याः पाकजाश्च। पाकस्तु तेजः संयोगः, तेन पृथिव्याः पूर्वरूपादयो नश्यन्त्यन्ये जन्यन्त इति पाकजाः।

शब्दार्थ -

पृथिवीत्वसामान्यवती = पृथिवीत्व जाति वाली, पाषाणवृक्षादिरूपा = पत्थर और वृक्षादि रूप वाली, नित्याऽनित्या च = नित्य और अनित्य, कार्यरूपा = कार्यरूप वाली, पाकजाश्चः = और पाकज, पूर्वरूपादयः = पूर्व के रूप, नश्यन्ति = नष्ट हो जाते हैं।

गद्यार्थ -

उन नौ द्रव्यों में पृथिवीत्व जाति वाली पृथिवी कहलाती है। वह (लौह पत्थर आदि में) कठोर तथा (कपास आदि में) कोमल अवयवसंयोग विशेष से युक्त होती है। इन्द्रिय शरीर और विषय भेद से यह तीन रूप वाली है, जिसमें घ्राण इन्द्रिय रूप है, मनुष्यादि शरीर शरीररूप है तथा मिट्टी का पिण्ड पत्थर वृक्ष आदि विषयरूप है। यह रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और संस्कार नाम के 14 गुणों वाली पृथिवी है। वह नित्य और अनित्य के भेद से दो प्रकार की है - नित्य और अनित्य। परमाणुरूपा पृथिवी नित्य है तथा कार्यरूप पृथिवी अनित्य है। दोनों प्रकार की पृथीवी के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण अनित्य हैं तथा तेज के संयोग से जन्य (पाकज) हैं। पाक तेज का संयोग है। तेज के संयोग से पृथिवी के पूर्वरूप (श्यामत्व आदि) तथा गुण (कोमलत्व आदि) नष्ट हो जाते हैं तथा अन्य रक्तरूप एवं कठोरत्व आदि गुण उत्पन्न हो जाते हैं। अतः ये रूपादि गुण पाकज माने जाते हैं।

व्याख्या -

पृथिवी का लक्षण है - 'पृथिवीत्वसामान्यवती' जिसमें पृथिवीत्व सामान्य रहती है, वह पृथिवी है। 'गन्धवत्वं पृथिवीत्वम्' यह लक्षण भी पृथिवी का है।

पृथिवी में चौदह गुण रहते हैं। किन्तु रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श गुण पाकज संयोग से जन्य हैं तथा अनित्य हैं। ये चारों पृथिवी के विशेष गुण हैं। पृथिवी नित्य एवं अनित्य दो रूपों वाली है। परमाणुरूपा नित्य है

तथा द्वयणुक से लेकर पर्वत तक कार्यरूपा है, जो अनित्य है। 'स्थूलपृथिवी अनित्या, सावयवत्वात्' इस सावयवत्व हेतु से दृश्यमान पृथिवी को अनित्य सिद्ध किया जाता है।

प्रशस्तपादभाष्य कार्यरूपा पृथिवी को तीन प्रकार का कहता है। उसे तर्कभाषाकार ने भी स्वीकार किया है। इन्द्रिय, शरीर और विषय ये तीन रूप हैं। इन्द्रियरूप पृथिवी घ्राण है। मनुष्यादि के शरीर शरीर हैं, तथा मृत्, प्रस्तर आदि विषय हैं।

न्यायकन्दली के अनुसार शरीर और इन्द्रिय से भिन्न आत्मा के भोग का साधन द्रव्य विषय कहलाता है।

तेज द्रव्य का संयोग या अग्नि का संयोग पाक शब्द का अर्थ है। पृथिवी में तेज का संयोग होने से पृथिवी के पूर्व रूप आदि नष्ट हो जाते हैं और अन्य रूपादि उत्पन्न हो जाते हैं। वही उत्पन्न अन्य रूप आदि गुण पाकज कहलाते हैं। जैसे कच्चा केला या आम्र का फल हरा रूप वाला है, कषाय रसवाला है, अस्पष्ट गन्ध वाला एवं कठोर स्पर्श वाला है। उस कच्चे केले या आम में तेज का संयोग होने पर हरा रूप पीला हो जाता है, कषाय रस मधुर रस में परिवर्तित हो जाता है, अस्पष्ट गन्ध स्पष्ट हो जाती है तथा कठोर स्पर्श कोमल स्पर्श में बदल जाता है। यही है पूर्व रूप आदि का नाश एवं नवीन रूप आदि की उत्पत्ति। ये ही नवीन रूपादि पाकज कहलाते हैं।

उत्पन्न द्रव्यों में रूप रस गन्ध एवं स्पर्श गुण पाकज एवं अपाकज दोनों होते हैं। किन्तु पृथिवी में ही पाकज गुण होते हैं, अन्य द्रव्यों में नहीं। पृथिवी में अपाकज गुण रूप आदि की उत्पत्ति भी होती है तथा अन्य द्रव्यों में भी अपाकज गुणों की उत्पत्ति होती है। अपाकज गुणों की उत्पत्ति कारण के गुण से मानी जाती है। कार्यद्रव्य के कारणीभूत अवयवों के गुणों से कार्य-द्रव्य में रूपादि गुण की उत्पत्ति जो होती है, वह अपाक मानी जाती है। यथा हरे रेशे से बना वस्त्र हरा उत्पन्न होता है।

- **अप (जल)**

अस्वसामान्ययुक्ता आपः। रसनेन्द्रियशरीरसरित्समुद्रहिमकरकादिरूपाः। गन्धवर्जस्नेहयुक्त-पूर्वोक्तगुणवत्यः। नित्या अनित्याश्च। नित्यानां रूपादयो नित्या एव। अनित्यानां रूपादयोऽनित्या एव ।

शब्दार्थ

अस्व = जलवती, करक = ओला = करक ओला, गुणवत्यः = गुणों से युक्त, नित्यानाम् = नित्य के, अनित्यानाम् = अनित्य के।

गद्यार्थ -

अस्व जाति से युक्त अप् जल कहलाता है। वह रसनेन्द्रिय श्ररीर, नदी, सागर, हिम, ओला आदि रूप वाला है। गन्ध से रहित रूप, रस चौदह गुणों वाला है। वह नित्य तथा अनित्य भेद से दो प्रकार का है। नित्य जल के रूप आदि भी नित्य ही हैं। अनित्य जल के रूपादि गुण भी अनित्य ही हैं।

व्याख्या -

अप् शब्द जल का पर्यायवाची है। शरीर इन्द्रिय एवं विषय के भेद से जल भी तीन तरह का है। जलीय शरीर अयोनिज माना जाता है तथा वह वरुण लोक में है। जलीय इन्द्रिय रसना है। नदी, सागर, हिम, ओला आदि जल के विषय हैं। जल में गन्ध को छोड़कर तथा स्नेह को जोड़कर रूप, रस, स्पर्श, स्नेह ये चार विशेष गुण रहते हैं तथा शेष पृथिवी के दस सामान्य गुण - संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गरुत्व, द्रवत्व और संस्कार रहते हैं। इस तरह जल में चौदह गुण हैं।

- **तेज**

तेजस्त्वसामान्यवत् तेजः। चक्षुःशरीरसवितृसुवर्णवह्निविद्युदादिप्रभेदम्। रूप-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथकत्व-संयोग-विभाग-परत्वाऽपरत्व-द्रवत्व-संस्कारवत्। नित्यमनित्यञ्च पूर्ववत्। तच्चतुर्विधम्। 1. उद्भूतरूपस्पर्शम्। 2. अनुद्भूतरूपस्पर्शम्। 3. अनुद्भूतरूपमुद्भूतस्पर्शम्। 4. उद्भूतरूपमनुद्भूतस्पर्शञ्चेति।

उद्भूतरूपस्पर्शं यथा सौरादितेजः पिण्डीभूतं तेजो वह्नयादिकम्। सुवर्णन्तु उद्भूताभिभूतरूपस्पर्शम्। तदनुद्भूतरूपत्वेऽचाक्षुषं स्यात्, अनुद्भूतस्पर्शत्वे त्वचा न गृह्येत। अभिभवस्तु बलवत्सजातीयेन पार्थिवरूपेण स्पर्शेन च कृतः।

अनुद्भूतरूपस्पर्शं तेजो यथा चक्षुरिन्द्रियम्। अनुद्भूतरूपमुद्भूतस्पर्शं यथा तप्तवारिस्थं तेजः। उद्भूतरूपमनुद्भूतस्पर्शं यथा प्रदीपप्रभामण्डलम्।

शब्दार्थ -

तेजस्त्वसामान्यवत् = तेजस्त्व (तेज वाला) सामान्य से युक्त, वह्नि = आग, उद्भूत = प्रकट रूप वाला, अनुद्भूत = अप्रकट रूप वाला, अचाक्षुषं = चक्षु द्वारा ग्राह्य न होना, अभिभवस्तु = अभिभव तो, बलवत्सजातीयेन = बलवान् तथा समान जाति वाले, पार्थिवरूपेण = पृथिवी के, प्रदीपप्रभामण्डलम् = दीपक का प्रभामण्डल।

गद्यार्थ -

तेजस्त्व जाति से युक्त तेज कहलाता है। वह तेज चक्षु इन्द्रिय, शरीर, सूर्य, सुवर्ण, अग्नि, विद्युत् आदि विषयरूप भेद वाला है। वह तेज रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व और संस्कार नामक 11 गुणों से युक्त है। पृथिवी के समान ही तेज नित्य एवं अनित्य रूप वाला है, (परमाणु रूप तेज नित्य तथा कार्यरूप तेज अनित्य है)। वह कार्यरूप तेज चार प्रकार का है – 1. प्रत्यक्ष के योग्य (उद्भूत) रूप और स्पर्श वाला। 2. प्रत्यक्ष के अयोग्य (अनुद्भूत) रूप और स्पर्श वाला। 3. प्रत्यक्ष के अयोग्य रूप वाला तथा प्रत्यक्ष के योग्य स्पर्श वाला। 4. प्रत्यक्ष के योग्य रूप वाला तथा प्रत्यक्ष के अयोग्य स्पर्श वाला।

प्रत्यक्ष योग्य रूप और स्पर्श वाला सूर्य आदि का तेज तथा पिण्डरूप में होने वाला वह्नि आदि तेज है। सुर्वण तैजस है, किन्तु वह उद्भूत होकर अभिभूत (दबे हुए) रूप और स्पर्श वाला है। यदि सुवर्ण में रूप को उद्भूत् नहीं मानें तो वह चक्षु से ग्राह्य नहीं होगा। यदि सुवर्ण में स्पर्श को उद्भूत न मानें तो वह त्वगिन्द्रिय से ग्राह्य नहीं होगा। सुवर्ण में रूप और स्पर्श का अभिभव तो बलवान् सजातीय पृथिवी द्रव्य के रूप और स्पर्श द्वारा कर दिया गया है। अनुद्भूत रूप और स्पर्श वाला तेज चक्षु इन्द्रिय है। (चक्षु में भास्वर शुक्ल रूप तथा उष्ण स्पर्श का अनुभव नहीं होता है।) अनुद्भूत रूप और उद्भूत स्पर्श वाला तेज उष्ण जल में स्थित है। (गरम जल में भास्वर शुक्ल रूप का अनुभव नहीं होता है, किन्तु उष्ण स्पर्श का अनुभव होता है।) उद्भूत रूप वाला तथा अनुद्भूत स्पर्श वाला तेज दीपक का प्रभामण्डल है (प्रदीप के प्रभा मण्डल में भास्वर शुक्ल रूप नेत्र द्वारा दिखाई पड़ता है, किन्तु उष्ण स्पर्श का अनुभव नहीं होता है।)

व्याख्या -

तेजस्त्व सामान्य जाति वाला जो द्रव्य है, वह तेज कहलाता है। यह इन्द्रिय शरीर और विषय के भेद से तीन का प्रकार है। इन्द्रिय रूप तेज नेत्र है, शरीर रूप सूर्य है, जो सूर्य लोक में है। विषय रूप तेज सूर्य सुवर्ण वह्नि विद्युत् आदि है। तेज में उपर्युक्त रूप स्पर्श आदि ग्यारह गुण होते हैं। तेज के नित्य और अनित्य दो भेद हैं। परमाणुरूप तेज नित्य है तथा कार्यरूप अनित्य है।

कार्यरूप तेज में रूप और स्पर्श विशेष गुण रहते हैं। ये दोनों विशेष गुण कहीं प्रत्यक्ष के योग्य होते हैं तथा कहीं प्रत्यक्ष के योग्य नहीं होते हैं। अतः इनके अनुसार तैजस-द्रव्य चार प्रकार के दिखलाई देते हैं जो ये हैं -

1. उद्भूतरूपस्पर्शम् - इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने की योग्यता को प्राप्त कराने वाला धर्म उद्भूत कहलाता है, उससे विपरीत अनुद्भूत कहलाता है अर्थात् भास्वरशुक्ल रूप नेत्रेन्द्रिय से गृहीत हो तथा उष्णस्पर्श त्वगिन्द्रिय से गृहीत हो, तो वह उद्भूत रूप स्पर्श वाला कहलाता है। यथा-सूर्य, वह्नि का तेज।

2. अमुद्भूतरूपस्पर्शम् - जिस तेज में रूप और स्पर्श गुण प्रत्यक्ष योग्य न हो वह तेज अनुद्भूतरूपस्पर्श वाला माना जाता है। जैसे चक्षु इन्द्रिय। चक्षु में भास्वर शुक्ल रूप तथा उष्ण स्पर्श दोनों हैं, किन्तु दोनों प्रत्यक्ष के योग्य नेत्रेन्द्रियग्राह्य तथा त्वगिन्द्रिय ग्राह्य नहीं हैं। दिखाई पड़ने वाला नेत्र गोलक मात्र है, इन्द्रिय उस गोलक से भिन्न उसमें रहने वाली शक्ति मात्र है।

3. अनुद्भूतरूपम् उद्भूतस्पर्शम् - जिसमें भास्वरशुक्ल रूप प्रत्यक्ष योग्य न हो, किन्तु उष्णस्पर्श प्रत्यक्ष योग्य हो वह तेज अनुद्भूत रूप तथा उद्भूत स्पर्श वाला माना जाता है। यथा उष्ण जल।

4. उद्भूतरूपम् अनुद्भूतस्पर्शम् - जिस तेज में रूप तो प्रत्यक्ष योग्य हो किन्तु स्पर्श प्रत्यक्ष योग्य न हो वह तेज उद्भूतरूप वाला तथा अनुद्भूत स्पर्शवाला माना जाता है। यथा - दीप-प्रभामण्डल। यहाँ भास्वर शुक्ल रूप नेत्रेन्द्रिय से गृहीत होता है, किन्तु त्वगिन्द्रिय से उष्णस्पर्श अनुभव में नहीं आता है।

मीमांसक सुवर्ण को पृथिवी आदि से भिन्न द्रव्य मानते हैं। किन्तु न्याय-वैशेषिक सुवर्ण को अनुमान प्रमाण द्वारा तैजस द्रव्य मानते हैं। सुवर्ण तैजस है, प्रतिबन्ध के न होने पर अत्यन्त अग्नि के संयोग होने पर भी नष्ट नहीं होने वाला यह जन्य द्रव है। वह पृथिवी वायु आदि के समान नष्ट नहीं होता, अतः तैजस है।

प्रश्न होता है कि यदि सुवर्ण तैजस है तो उसमें भास्वर शुक्ल रूप तथा उष्णस्पर्श की प्रतीति क्यों नहीं होती है? वह पीत रूप वाला तथा अनुष्णाशीत स्पर्श वाला क्यों है? इसका उत्तर है कि सुवर्ण में रूप और स्पर्श प्रत्यक्ष योग्य होकर भी बलवान् पार्थिव द्रव्य के अंश से दबा दिया गया है। सुवर्ण में मिले हुए पार्थिव अंश के कारण पार्थिव रूप-पीत ने तथा पार्थिव स्पर्श-अनुष्णाशीत ने भास्वर शुक्ल रूप तथा उष्ण स्पर्श को अभिभूत कर दिया है। अतः सुवर्ण का अपना तैजस रूप तथा उष्ण स्पर्श प्रत्यक्ष- योग्य नहीं हो पाता है।

➢ **वायु**

वायुत्वाभिसम्बन्धवान् वायुः। त्वगिन्द्रयप्राणवातादिप्रभेदः। स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथकत्व-संयोग विभाग-परत्व-अपरत्व-वेगवान्। स च स्पर्शाद्यनुमेयः। तथाहि योऽयं वायौ वाति, अनुष्णाशीतस्पर्श उपलभ्यते स गुणत्वात् गुणिनमन्तरेणानुपपद्यमानो गुणिनमनुमापयति। गुणी च वायुरेव। पृथिव्याद्यनुपलब्धेः। वायुपृथिवीव्यतिरेकेण अनुष्णाशीतस्पर्शाभावात्। स च द्विविधो नित्याऽनित्यभेदात्। नित्यः परमाणुरूपो वायुः, अनित्यः कार्यरूप एव।

शब्दार्थ -

वायुत्वाभिसम्बन्धवान् = वायुत्व जाति के सम्बन्धवाला, स्पर्शाद्यनुमेयः = स्पर्श आदि के द्वारा अनुमान से जानने योग्य, वायौ = वायु, अनुष्ण = ठंडा, उपलभ्यते = उपलब्ध होता है।

गद्यार्थ -

वायुत्व जाति जिसमें समवाय सम्बन्ध से रहती है वह वायु है। त्वक् इन्द्रिय तथा प्राण एवं बाह्य वात आदि विषय भेद वाला वायु है। वायु में स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्त्व, अपरत्व और वेग नामक गुण हैं। वह वायु स्पर्श आदि गुण से अनुमेय (अनुमान द्वारा जाना जाता) है। जैसे कि वायु के बहने

पर जो अनुष्णाशीत स्पर्श उपलब्ध होता है वह गुण है, गुण गुणी के बिना अनुपन्न होता हुआ गुणी द्रव्य का अनुमान कराता है और वह गुणी द्रव्य वायु ही है, क्योंकि पृथिवी आदि की उपलब्धि उसमें नहीं होती है। वायु और पृथिवी के अतिरिक्त में अनुष्णाशीत स्पर्श का अभाव है। वह वायु नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार का है। नित्य वायु परमाणुरूप है और अनित्य वायु कार्यरूप ही है।

व्याख्या -

'व्यायुत्वाभिसम्बन्धवान् वायुः' इस लक्षण में अभिसम्बन्ध का अर्थ 'अभिमत सम्बन्ध' है। वायु में वायुत्व सामान्य समवाय सम्बन्ध से रहती है। अतः अभिसम्बन्धवान् का अर्थ 'समवाय सम्बन्ध वाला' यह होता है।

यहाँ पर वायु के दो प्रकार बताए गए हैं – 1. इन्द्रिय, 2. विषय। इन्द्रिय त्वक् है। विषय प्राण अपान व्यान उदान समान आदि तथा बाह्य पवन है। शरीर की चर्चा नहीं की गई है। नव्य नैयायिकों में विश्वनाथ पञ्चानन न्यायसिद्धान्त मुक्तावली में वायवीय शरीर की भी चर्चा करते हैं।

वायु में स्पर्श आदि नौ गुण हैं। वायु की सिद्धि परिशेषानुमान से की जाती है। वायु के बहने पर अनुष्णाशीत स्पर्श का अनुभव होता है जिसे त्वाच प्रत्यक्ष से जानते हैं। यह अनुष्णाशीत स्पर्श एक गुण है जो किसी गुणी में रहेगा। स्पर्श गुण पृथिवी जल तेज एवं वायु में रहता है। अग्नि का स्पर्श उष्ण होता है, जल का शीतल। पृथिवी और वायु में अनुष्णाशीत स्पर्श है। किन्तु पृथिवी अनुष्णाशीत स्पर्श का आश्रय नहीं हो सकता है, क्योंकि नियम यह है कि जहाँ पृथिवी में इन्द्रिय ग्राह्य उद्भूतस्पर्श होता है, वहाँ रूप भी इन्द्रिय ग्राह्य होता है। यदि अनुभूयमान अनुष्णाशीत स्पर्श का आश्रय पृथिवी होती तो वह पार्थिव द्रव्य उद्भूत रूप वाला भी होता, जिसका चक्षु से प्रत्यक्ष होता। किन्तु अनुष्णाशीत स्पर्श के समय जब रूप प्रत्यक्ष नहीं होता तब मान लिया जाता है कि यह अनुष्णाशीत स्पर्श गुण वायु में रहने वाला है। अतः इसका आश्रय वायु द्रव्य ही है, यह परिशेषानुमान से सिद्ध होता है।

स्वयं आकलन कीजिए –

अभ्यास प्रश्न -1

1. शब्द की उपलब्धि किस इन्द्रिय द्वारा होती है?
2. श्रोतेन्द्रिय किस गुण का आश्रय है?
3. मन इन्द्रिय का परिमाण कैसा है?
4. इन्द्रियों के अस्तित्व में क्या प्रमाण है?
5. छः अर्थ पदार्थ कौन-से हैं?
6. पृथिवी कितने गुणों से युक्त है?
7. पृथिवी के कितने भेद हैं?
8. जल कितने गुणों से युक्त है?
9. तेज के कार्यरूप भेद कितने हैं?
10. वायु में कौन-कौन से गुण हैं?

12.4 सारांश

शब्द को श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है और यह श्रोत्र इन्द्रिय आकाशरूप है। आकाश के अभाव में श्रोत्र का ग्रहण नहीं होता। छह पदार्थ अर्थ कहे गए हैं और वे हैं - द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थ यद्यपि इन छह में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं, फिर भी पृथक् रूप से इनका कथन किया गया है।

नौ द्रव्यों में पृथिवीत्व जाति वाली को पृथिवी कहा जाता है। यह कठोर तथा कोमल दो रूप वाली होती है। नित्य और अनित्य के भेद से यह दो प्रकार की होती है। अप् शब्द जल का पर्यायवाची है। जल तीन तरह का माना गया है। तेजस्त्व सामान्य जाति वाला द्रव्य तेज कहलाता है। यह नित्य भी है और अनित्य भी। तेज ग्यारह गुणों से युक्त होता है। कार्यरूप में चार प्रकार का होता है।

वायुत्व जाति वाला वायु है। वायु में स्पर्श आदि नौ गुण हैं। वायु की अनुभूती अनुमान अथवा स्पर्श से की जाती है। वायु अनुष्णाशीत और उष्ण स्पर्श वाली होती है।

12.5 कठिन शब्दावली

छिदिक्रियावत् = छेदने की क्रिया, प्रयोजनवशाद् = प्रयोजन विशेष के कारण, गन्धवर्ज = गन्धरहित, प्रभेदम् = भेदवाला, सौरादितेजः = सूर्य आदि का तेज, पिण्डीभूतं = पिण्डरूप में होने वाला, तप्तवारिस्थं = गरम जल, अनुपपद्यमानः = अनुपपन्न होता हुआ।

12.6 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर –

अभ्यास प्रश्न-1

1. श्रोत्र
2. शब्द का
3. अणु परिमाण
4. अनुमान प्रमाण
5. द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय
6. चौदह
7. दो - नित्य और अनित्य
8. चौदह
9. चार
10. स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और वेग

12.7 सहायक ग्रन्थ

1. तर्कभाषा, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणि, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी-221001, संस्करण-12, 2013.
2. तर्कभाषा, टीकाकार, पण्डित श्रीरुद्रधर झा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-221001, संस्करण-7, 2021.
3. तर्कभाषा, व्याख्याकार डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-221001, संस्करण-2013.
4. तर्कभाषा, व्याख्याकार एवं सम्पादक डॉ. अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर-302001, संस्करण-2021.
5. तर्कभाषा, व्याख्याकार श्रीबदरीनाथशुक्ल, मोतीलाल बनारसी दास, चौक वाराणसी, प्रथम संस्करण।

12.8 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न -

1. तर्कभाषा के अनुसार द्रव्यों का विस्तारपूर्वक वर्णन करें।

इकाई - तेरह

कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति और विनाशक्रम

संरचना

13.1 प्रस्तावना
13.2 उद्देश्य
13.3 कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति एवं विनाशक्रम
  13.3.1 परमाणु-सिद्धि
  13.3.2 द्वयणुकादि अवयव नियम
    - स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न
13.4 सारांश
13.5 कठिन शब्दावली
13.6 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर
13.7 सहायक ग्रन्थ
13.8 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न

13.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियो, इस इकाई में कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति और उनके विनाश का क्रम बताया जा रहा है। कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति का नियम है और किस प्रकार उनका नाश होता है, उसकी जानकारी उदाहरण सहित बताई गई है। इसके अलावा परमाणु और द्वयणुक का उल्लेख किया गया है। तदनन्तर आकाश और जल के लक्षण और गुणों का वर्णन किया गया है।

13.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से विद्यार्थियों को नम्नलिखित जानकारी उपलब्ध होगी –

- कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति और विनाशक्रम
- परमाणु सिद्धि
- द्वयणुकादि अवयव नियम

13.3 कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति एवं विनाशक्रम

तत्र पृथिव्यादीनां चतुर्णां कार्यद्रव्याणामुत्पत्तिविनाशक्रमः कथ्यते - द्वयोः परमाण्वोः क्रियया संयोगे सति द्व्यणुकमुत्पद्यते। तस्य परमाणू समवायिकारणं, तत्संयोगोऽसमवायिकारणम्, अदृष्टादि निमित्तकारणम्। ततो द्व्यणुकानां त्रयाणां क्रियया संयोगे सति त्र्यणुकमुत्पद्यते। तस्य द्व्यणुकानि समवायिकारणमं, शेषं पूर्ववत्। एवं स्णुकैश्चतुर्भिश्चतुरणुकम्। चतुरणुकैरपरं स्थूलतरं, स्थूलतरैरपरं स्थूलतमम्। एवं क्रमेण महापृथिवी, महत्य आपो, महत् तेजो, महांश्च वायुरुत्पद्यते। कार्यगता रूपादयः स्वाश्रय समवायिकारणगतेभ्यो रूपादिभ्यो जायन्ते। 'कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते' इति न्यायात्।

शब्दार्थ -

उत्पत्तिविनाशक्रमः = उत्पत्ति एवं विनाश का क्रम, चतुरणुकैः = चतुरणुकों से, अपरम् = दूसरा, कार्यगताः = कार्य द्रव्य में, न्यायात् = नियम से।

गद्यार्थ -

पृथिवी, जल, तेज, वायु इन चार कार्य द्रव्यों (स्थूलभूतों) की उत्पत्ति और विनाश का क्रम कहा जा रहा है। दो परमाणुओं में क्रिया होने से उनका संयोग होने पर एक द्वद्यणुक उत्पन्न होता है। उस द्वयणुक के दो परमाणु समवायिकारण होते हैं। दोनों परमाणुओं का 'संयोग' असमवायिकारण होता है और (आत्माओं का) अदृष्ट आदि निमित्तकारण होता है। द्वयणुक की उत्पत्ति के बाद तीन द्वयणुकों की क्रिया से उनमें संयोग होने पर त्र्यणुक उत्पन्न होता है। उस त्र्यणुक के दो द्वयणुक समवायिकारण हैं। शेष द्वयणुक के समान अर्थात् तीनों द्वयणुकों का संयोग असमवायिकारण है तथा अदृष्ट आदि निमित्तकारण है। इसी तरह चार =यणुकों के संयोग से चतुरणुक उत्पन्न होता है। चतुरणुकों से दूसरा स्थूलतर-द्रव्य, स्थूलतर द्रव्यों के संयोग से दूसरा स्थूलतम द्रव्य उत्पन्न होता है। इसी क्रम से महापृथिवी, महाजल, महातेज और महावायु की उत्पत्ति होती है।

कार्यद्रव्य पृथिवी आदि में विद्यमान रूप आदि अपने आश्रय के समवायिकारण में विद्यमान रूप आदि से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि कारण के गुण कार्य के गुणों के आरम्भक हैं यह नियम है।

व्याख्या -

कार्यद्रव्य पृथिवी जल तेज और वायु की उत्पत्ति के क्रम में बताया गया कि दो परमाणुओं में क्रिया होने से दोनों का संयोग होता है। इससे द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है। इस उत्पत्ति में यह प्रश्न होता है कि परमाणु में क्रिया स्वतः उत्पन्न होती है या किसी अन्य निमित्त से होती है।

ग्रन्थकार ने बताया कि 'अदृष्टादि निमित्तकारणम्' अर्थात् प्राणियों के अदृष्ट निमित्तकारण बनते हैं तथा आदि पद से ईश्वरेच्छा प्रयत्न आदि का ग्रहण होता है। इस तरह ईश्वर की इच्छा प्रयत्न तथा प्राणियों के अदृष्ट कार्यद्रव्य की उत्पत्ति में निमित्त कारण होते हैं। कार्यद्रव्य का समवायिकारण प्रथम तो दोनों परमाणु हैं। दोनों परमाणुओं का संयोग असमवायिकारण होता है। इसी तरह तीन द्वयणुक त्र्यणुक के समवायिकारण, द्वयणुकों का संयोग असमवायिकारण तथा ईश्वरेच्छा अदृष्टादि निमित्त कारण होते हैं। यही क्रम महाभूतों की उत्पत्ति का स्वीकार किया जाता है।

'कारणगुणाः कार्यगुणान् आरभन्ते' कार्यद्रव्यों में रूपादि गुण कारण के गुणों से उत्पन्न होते हैं, यह नियम है। परमाणु के गुण द्वयणुक कार्य के गुणों को उत्पन्न करते हैं। द्वयणुक के गुण त्र्यणुक के गुणों को तथा त्र्यणुक में विद्यमान गुण चतुरणुक आदि के गुणों को उत्पन्न करते जाते हैं। उपर्युक्त पंक्ति में कारण का अर्थ समवायिकारण होता है। रूपादि के आश्रय जो द्वयणुकादि कार्य हैं वे अपने समवायिकारण परमाणु आदि के गुण को ग्रहण करते हैं, यही उनकी उत्पत्ति मानी जाती है। यथा रक्तवस्त्र। वस्त्र के समवायिकारण तन्तुओं में जो रक्तगुण है, वही तन्तुओं के कार्य वस्त्र में उत्पन्न होता है। अतः वस्त्र रक्त माना जाता है।

इत्थमुत्पन्नस्य रूपादिमतः कार्यद्रव्यस्य घटादेरवयवेषु कपालादिषु नोदनादभिघाताद्वा क्रिया जायते। तया विभागस्तेनावयव्यारम्भकस्यासमवायिकारणीभूतस्य संयोगस्य नाशः क्रियते, ततः कार्यद्रव्यस्य घटादेरवयविनो नाशः। एतेनावयव्यारम्भकासमवायिकारणनाशे द्रव्यनाशो दर्शितः।

क्वचित् समवायिकारणनाशे द्रव्यनाशो यथा पूर्वोक्तस्यैव पृथिव्यादेः संहारे सिञ्चहीर्षोर्महेश्वरस्य सिञ्चहीर्षा जायते। ततो द्व्यणुकारम्भकेषु परमाणुषु क्रिया, तया विभागः, ततस्तयोः संयोगनाशे सति द्वयणुकेषु नष्टेषु स्वाश्रयनाशात् त्र्यणुकादिनाशः । एवं क्रमेण पृथिव्यादिनाशः । यथा वा तन्तूनां नाशे पटनाशः। तद्वतानां

रूपादीनां स्वाश्रयनाशेनैव नाशः। अन्यत्र तु सत्येवाश्रये विरोधिगुणप्रादुर्भावेण विनाशः। यथा पाकेन घटादौ रूपादिनाश इति ।

शब्दार्थ -

रूपादिमतः = रूप आदि से युक्त, कपालादिषु = कपाल आदि में, जायते = उत्पन्न होना, आरम्भकस्य = उत्पादक, द्रव्यनाशः = कार्य द्रव्य का नाश, संहारे = संहार के विषय में, द्वयणुकारम्भकेषु = द्वयणुक के उत्पादक, तद्गतानाम् = उनमें रहने वाले।

गद्यार्थ -

कार्यद्रव्यों के नाश का क्रम बताते हुए कहते हैं कि इस प्रकार उत्पन्न हुए रूप आदि वाले कार्यद्रव्य घट आदि के अवयव कपालादि में नोदन (संयोगविशेष) या अभिघात से क्रिया उत्पन्न होती है। उससे विभाग उत्पन्न होता है। उस विभाग से अवयवी के आरम्भक संयोग का नाश होता है। उससे कार्यद्रव्य घटादि अवयवी का नाश होता है। इससे अवयवी के आरम्भक असमवायि कारण के नाश होने से द्रव्य का नाश दिखाया गया है।

कहीं पर तो समवायिकारण के नाश से कार्य द्रव्य का नाश होता है। जैसे पूर्वोक्त पृथिवी आदि के संहार के प्रसंग में संहार के इच्छुक महेश्वर को संहार की इच्छा होती है। उससे द्व्यणुक के उत्पादक परमाणुओं में क्रिया होती है, उस क्रिया से विभाग उत्पन्न होता है। उस विभाग से उन दोनों परमाणुओं के संयोग का नाश होने पर द्वयणुकों के नष्ट हो जाने पर अपने आश्रय त्र्यणुक का का नाश होने पर त्र्यणुकादि का नाश हो जाता है। इसी क्रम से पृथिवी आदि का नाश होता है। अथवा जैसे तन्तुओं का नाश होने पर पट का नाश होता है। उन त्र्यणुकादि में रहने वाले रूपादि गुणों का अपने आश्रय के नाश से ही नाश होता है। और अन्यत्र तो आश्रयादि के विद्यमान रहते हुए ही विरोधी गुण के प्रादुर्भाव से ही पूर्ववर्ती रूपादि का नाश होता है। जैसे - पाक से घटादि में रूपादि का नाश होता है।

व्याख्या -

कार्यद्रव्यों के नाश की प्रक्रिया में दो प्रकार से कार्यद्रव्यों का नाश बताया गया है - 1. असमवायिकारण के नाश से कार्य द्रव्य का नाश तथा 2. समवायिकारण के नाश से कार्य द्रव्य का नाश। कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति अवयवों से होती है, उसका समवायिकारण अवयव होते हैं। अवयवों का संयोग कार्यद्रव्य का असमवायिकारण माना जाता है।

अवयव-संयोग का नाश होने पर कार्य द्रव्य का भी नाश हो जाता है। यह असमवायिकारण के नाश से होने वाला नाश है। जैसे घट। दो कपालों के संयोग से बना घट अवयवी है। कपाल अवयव हैं। कपाल संयोग असमवायिकारण है। इस संयोग का नाश होते ही अवयवी घट का नाश हो जाता है।

समवायिकारण के नाश से कार्यद्रव्य के नाश का उदाहरण है वस्त्र। वस्त्र का समवायिकारण तन्तु हैं। यदि तन्तु नष्ट हो जाता है तब अवयवी वस्त्र भी नष्ट हो जाता है।

इस नाश की प्रक्रिया में महेश्वर की नाश करने की इच्छा निमित्तकारण बनती है। महेश्वर की सञ्ज्ञीहीर्षा से ही द्वयणुक के आरम्भक दोनों परमाणुओं में क्रिया होती है और उस क्रिया से विभाग होता है। विभाग से परमाणुओं का संयोग नष्ट हो जाता है तथा द्वयणुक कार्य नष्ट हो जाता है। यही क्रम त्र्यणुक, चतुरणुक, स्थूलतर, स्थूलतम कार्यद्रव्यों के नाश का है। अर्थात् सिञ्ज्ञहीर्षारूप महेश्वरेच्छा (निमित्तकारण) से कार्यद्रव्यों के असमवायिकारण या समवायिकारण के नाश से कार्यद्रव्यों का नाश होता है।

कार्यद्रव्य में विद्यमान रूपादि गुणों का नाश कार्यद्रव्य के समवायिकारण के नाश से हो जाता है। यथा वस्त्र का नाश होने से वस्त्रगत रूपादि का भी नाश हो जाता है।

रूपादि गुणों का आश्रय जब नष्ट नहीं होता किन्तु उसमें विरोधी गुण उत्पन्न हो जाते हैं, तब कार्यद्रव्य के पूर्वरूपादि गुणों का नाश हो जाता है। यह तेज के संयोग से होता है। जैसे कच्चे आम का हरा रूप आदि। काले घट का कृष्णरूपादि ।

13.3.1 परमाणु-सिद्धि

किं पुनः परमाणुसद्भावे प्रमाणम् ?

उच्यते, यदिदं जालं सूर्यमरीचिस्थं सर्वतः सूक्ष्मतमं रज उपलभ्यते तत् स्वल्पपरिमाणद्रव्यारब्धं कार्यद्रव्यत्वात् घटवत्। तच्च द्रव्यं कार्यमेव महद्द्रव्यारम्भकस्य कार्यत्वनियमात्। तदेवं द्वयणुकाख्यं द्रव्यं सिद्धम्। तदपि स्वल्पपरिमाणसमवायिकारणारब्धं कार्यद्रव्यत्वाद् घटवत् । यस्तु द्वयणुकारम्भक स एव परमाणुः स चानारब्ध एवेति ।

शब्दार्थ -

परमाणुसद्भावे = परमाणु के होने में, जालम्= झिलमिला, स्वल्पपरिमाण = छोटे परिमाण वाल, महद्द्रव्यारम्भकस्य = महत् परिमाण वाले द्रव्य के आरम्भ।

गद्यार्थ -

परमाणु की सत्ता में पुनः प्रमाण क्या है?

बताते हैं। यह जो (बन्द कमरे में किवाड़ आदि के किसी छिद्र में से आती हुई) सूर्य की किरणों में स्थित चारों ओर सूक्ष्मतम् धूलि उपलब्ध होते हैं (वह त्र्यणुक कहलाते हैं)। वह अपने से छोटे परिमाण वाले द्रव्य से उत्पन्न हुआ है, क्योंकि वह कार्य द्रव्य है, जैसे कि घट और वह द्रव्य कार्य ही है, क्योंकि अपने से महत् द्रव्य को उत्पन्न करने वाला कार्य ही होता है यह नियम है। इस तरह द्वयणुक नामक द्रव्य सिद्ध होता है। वह द्वयणुक भी अपने से छोटे परिमाण वाले समवायिकारण से उत्पन्न हुआ है, कार्य द्रव्य होने से, घट के समान)। जो द्व्यणुक को उत्पन्न करने वाला है, वही परमाणु है और वह अनारब्ध ही होता है।

व्याख्या -

परमाणु को सिद्ध करने के लिए ग्रन्थकार ने दो अनुमानवाक्यों का प्रयोग किया है। प्रथम अनुमानवाक्य के द्वारा द्वयणुक की सिद्धि की गई है तथा द्वितीय अनुमान वाक्य के द्वारा परमाणु की सिद्धि की गई है।

1. सूर्य की किरणों में स्थित अत्यन्त सूक्ष्म झिलमिला (जाल) रजकण दिखलाई देता है। वह त्र्यणुक है। वह कार्य अपने से छोटे परिमाण वाले द्रव्य से उत्पन्न हुआ है, क्योंकि वह कार्य द्रव्य है, जैसे कि घट अपने से छोटे कपालों से उत्पन्न होता है। वह द्रव्य कार्य ही है, क्योंकि अपने से महत् द्रव्य का आरम्भक कार्य ही होता है, यह नियम है। इस नियम से त्र्यणुक का आरम्भक द्वयणुक द्रव्य सिद्ध होता है।

2. द्वयणुक भी कार्य द्रव्य है। अतः उसका आरम्भक भी उससे अल्प परिमाणवाला समवायिकारण होगा। वह द्वयणुक से अल्पपरिमाणवाला द्रव्य परमाणु है, वह नित्य है। वह नेत्रेन्द्रिय ग्राह्य भी नहीं है।

इस तरह त्र्यणुकारम्भक द्वयणुक की सिद्धि कर द्वयणुकारम्भक परमाणु की सिद्धि अनुमान द्वारा की गई है। नित्य परमाणु कार्यद्रव्य नहीं है। अतः वह किसी से उत्पन्न भी नहीं माना जाता है।

ननु कार्यद्रव्यारम्भकस्य कार्यद्रव्यत्वाभिचारात् तस्य कथमनारब्धत्वम? उच्यते, अनन्तकार्यपरम्परा-दोषप्रसंगात्। तथा च सत्यनन्तद्रव्यारब्धत्वाविशेषेण मेरुसर्षपयोरपि तुल्यरिमाणत्वप्रसघ्गः। तस्मादनारब्ध एव परमाणुः।

शब्दार्थ -

कार्यद्रव्यारम्भकस्य = कार्यद्रव्य का उत्पादक, अनारब्धत्वम् = नित्यत्व, तुल्यपरिमाण = समान परिमाण।

गद्यार्थ -

(प्रश्न है) कार्यद्रव्य को उत्पन्न करने वाला कार्य द्रव्य ही होता है, यह नियम है, अतः द्वयणुक के उत्पादक परमाणु को अनारब्ध नित्य कैसे माना जा सकता है? बताते हैं। (परमाणु को अनित्य कार्य द्रव्य मानने पर) कार्य-परम्परा को अनन्त मानने का दोष प्राप्त होने लगेगा और कार्यपरम्परा के आनन्त्य को स्वीकार करने पर मेरु पर्वत और सरसों का भी तुल्य परिमाण मानना होगा, क्योंकि दोनों ही समान रूप से अनन्त द्रव्यों से उत्पन्न होने वाले हो जायेंगे। अतः आनन्त्य दोष से बचने हेतु परमाणु को अनुत्पन्न (नित्य ही) माना जाता है।

व्याख्या -

द्वयणुक को पक्ष बनाकर परमाणु की सिद्धि पूर्व में की गई थी तथा द्वयणुकारम्भक परमाणु को नित्य द्रव्य माना गया था। यहाँ पर शंका होती है कि द्वयणुक एक कार्यद्रव्य है। जो कार्यद्रव्य का आरम्भक होता है, वह भी कार्यद्रव्य होता है यह नियम है। इस नियम से परमाणु को एक कार्यद्रव्य होना चाहिये। आप परमाणु को अनारब्ध नित्य, उत्पन्न न होने वाला कैसे कहते हैं?

समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि कार्यद्रव्य का आरम्भक कार्यद्रव्य ही होता है, यह सर्वत्र मानना समीचीन नहीं है, क्योंकि इस नियम को मानने पर अनन्त कार्यपरम्परादोष की प्राप्ति होगी। जैसे परमाणु को यदि कार्यद्रव्य माना जाये तब परमाणु का कारण, फिर उस कारण का कारण, फिर उसका कारण इस तरह कार्यपरम्परा कभी समाप्त नहीं होगी तथा अनवस्था दोष उत्पन्न होगा।

दूसरी बात यह है कि प्रत्येक कार्यद्रव्य के अनन्त अवयव मानने पर मेरुपर्वत तथा सरसों के दाने के भी अनन्त अवयव होंगे, तब दोनों समान परिमाण वाले हो जायेंगे।

अतः परमाणु को कार्यद्रव्य न मानकर अनारब्ध मानना चाहिये। अवयवधारा की कल्पना का अन्त तो कहीं मानना होगा, जहाँ से फिर अवयव (टुकड़े) नहीं हो सकते। वही अन्त अवयव परमाणु है। परमाणु की कल्पना करने पर मेरुपर्वत जैसे विशाल कार्य अधिक संख्या वाले परमाणुओं से बना है तथा सरसों का दाना अल्पसंख्या वाले परमाणुओं से बना है यह माना जाता है, तथा दोनों के परिमाण में समानता नहीं माननी पड़ती है।

13.3.2 द्वयणुकादि अवयव नियम

द्वयणुकं तु द्वाभ्यामेव परमाणुभ्यामारभ्यते। एकस्यानारम्भकत्वात्, त्र्यादिकल्पनायां प्रमाणाभावात्। त्र्यणुकं तु त्रिभिरेव द्वयणुकैरारभ्यते। एकस्यानारम्भकत्वात्। द्वाभ्यामारम्भे कार्यगतमहत्त्वानुपपत्ति- प्रसंगात्। कार्ये हि महत्त्वं कारणमहत्त्वाद्वा कारणबहुत्वाद्वा। तत्र प्रथमस्यासम्भवाच्चरममेषितव्यम्। न च चतुरादिकल्पनायां प्रमाणमस्ति, त्रिभिरेव महत्त्वारम्भोपपत्तेरिति।

शब्दार्थ -

कारणमहत्त्वात् = कारण के महत्-परिमाण से, कारणबहुत्वाद् = कारण के बहुत्व से, एषितव्यम् = स्वीकार करना चाहिये, महत्त्वारम्भोपपत्तेः = महत् परिमाण की उत्पत्ति हो जाती है।

गद्यार्थ -

द्वघणुक तो दो ही परमाणुओं से उत्पन्न होता है, क्योंकि एक परमाणु कार्यारम्भक नहीं होता है। तीन परिमाणुओं से द्वयणुक की उत्पत्ति होती है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। त्र्यणुक तीन द्वघणुकों से ही उत्पन्न किया जाता है, क्योंकि एक द्वयणुक त्र्यणुक का आरम्भक नहीं होता है। दो द्वयणुकों से त्र्यणुक की उत्पत्ति मानने पर कार्य त्र्यणुक में महत्त्व परिमाण नहीं आ सकेगा। क्योंकि कार्य में महत् परिमाण कारण के महत् परिमाण से अथवा कारण के बहुत्व से आता है। त्र्यणुक के महत् परिमाण के विषय में प्रथम कारण महत्त्व सम्भव नहीं है, (क्योंकि त्र्यणुक के कारण द्वयणुक में महत्परिमाण नहीं होता है, द्वयणुक तो अणुपरिमाण माना जाता है)। अतः कारण-बहुत्व को त्र्यणुक में महत्त्वपरिमाण का उत्पादक मानना चाहिये। चार द्वयणुकों से त्र्यणुक की उत्पत्ति की कल्पना में प्रमाण इसलिए नहीं है कि तीन द्वयणुकों से ही महत् परिमाण (महत्त्व) के आरम्भ की उपपत्ति (संगति) हो जाती है।

व्याख्या -

द्वयणुक की उत्पत्ति दो परमाणुओं से ही होती है। तर्कभाषाकार ने इसमें युक्ति दी है कि एकस्यानारम्भकत्वात्। यदि एक परमाणु को कार्य की उत्पत्ति में कारण मानें तो यह युक्ति ठीक नहीं है, क्योंकि एक परमाणु किसी कार्य का आरम्भक नहीं होता। यदि एक परमाणु कार्य का आरम्भ करे तब तो कार्य सदा होता ही रहेगा, क्योंकि परमाणु नित्य है। दूसरी बात यह होगी कि कार्य को नित्य मानना होगा, जो न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय को इष्ट नहीं है। अतः एक परमाणु कार्य की उत्पत्ति नहीं कर सकेगा।

त्र्यादिकल्पनायां प्रमाणाभावात्' यदि तीन या चार परमाणुओं से द्वयणुक की उत्पत्ति मानें तो इसमें प्रमाण का अभाव है। यह दूसरी कल्पना इसलिए अयुक्त है कि जब दो परमाणुओं से ही द्वयणुक की उत्पत्ति सम्भव हो रही है तब तीन या चार परमाणुओं से द्वयणुक की उत्पत्ति क्यों मानें, अथवा इसमें प्रमाण क्या है? जब प्रमाण नहीं है तो अप्रामाणिक अर्थ क्यों स्वीकार किया जाये।

त्र्यणुकं तु त्रिभिरेव द्वयणुकैरारभ्यते' त्र्यणुक की उत्पत्ति तीन द्वयणुकों से ही होती है। एक द्वयणुक त्र्यणुक का आरम्भ नहीं कर सकता है, क्योंकि एक कारण किसी कार्य का आरम्भक नहीं होता है।

यदि उक्त पक्ष को स्वीकार न किया जाये तब 1. दो द्वयणुकों से अथवा 2. तीन चार पाँच आदि द्वघणुकों से त्र्यणुक की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। किन्तु यह विकल्प भी युक्तिसंगत नहीं है। दो द्वयणुकों से त्र्यणुक की उत्पत्ति मानने पर त्र्यणुक कार्य में महत्परिमाण नहीं आ पायेगा, क्योंकि कार्य में महत्परिमाण कारण के महत्परिमाण से आता है। त्र्यणुकार्य के कारण द्वयणुक में महत्परिमाण है ही नहीं, तब त्र्यणुक कार्य में महत्परिमाण कैसे आएगा। दूसरी बात यह है कि कारण के बहुत्व से कार्य में महत्परिमाण आता है। कारण द्वयणुक बहुत्व संख्या वाला है ही नहीं। अतः यह पक्ष ठीक नहीं है।

बहुत्व संख्या वाले तीन द्वयणुकों से त्र्यणुककार्य को मानने पर कार्य में कारण का महत् परिमाण आ जायेगा। तब चार पाँच आदि द्वयणुकों से त्र्यणुक की उत्पत्ति के पक्ष को क्यों स्वीकार किया जाये। यही अस्वीकार प्रमाणाभाव है। भाव यह है कि तीन द्वयणुक को त्र्यणुक का कारण मानने पर कारण में बहुत्त्व संख्या आ जाती है तथा कारण का गुण महत् परिमाण कार्य त्र्यणुक में स्वीकार कर लिया जाता है। अतः नैयायिक तीन द्वयणुकों से त्र्यणुक की उत्पत्ति मानते हैं।

स्वयं आकलन कीजिए –

अभ्यास प्रश्न -

1. दो परमाणुओं में क्रिया होने से उनका आपस में संयोग होने पर क्या उत्पन्न होता है?
2. त्र्यणुक के समवायिकारण कौन होते हैं?
3. कार्यद्रव्य का नाश कैसे होता है?
4. पृथिवी आदि के संहार की इच्छा किसे होती है?
5. पृथिवी आदि के नाशक्रम में सर्वप्रथम किसमें क्रिया होती है?
6. द्वयणुक की उत्पत्ति कैसे होती है?

13.4 सारांश

इस इकाई में सबसे पहले कार्यद्रव्यों पृथिवी, जल, तेज और वायु की उत्पत्ति के क्रम में वर्णन में बताया गया है कि जब दो परमाणुओं में क्रिया होने पर दोनों का संयोग होता है, तो उनसे द्व्यणुक उत्पन्न होता है। इस क्रिया में समवायि, असमवायि और निमित्त कारण विद्यमान रहते हैं।

परमाणु के गुण द्वयणुक कार्य के गुणों को उत्पन्न करते हैं। द्वयणुक के गुण त्र्यणुक के गुणों को तथा त्र्यणुक में विद्यमान गुण चतुरणुक आदि के गुणों को उत्पन्न करते जाते हैं। इस क्रम से महापृथिवी, महाजल, महातेज और महावायु की उत्पत्ति होती है।

नाश की प्रक्रिया में महेश्वर की नाश करने की इच्छा निमित्तकारण बनती है। महेश्वर की सञ्ज्ञीहीर्षा से ही द्वयणुक के आरम्भक दोनों परमाणुओं में क्रिया होती है और उस क्रिया के होने पर विभाग होता है। विभाग से परमाणुओं का संयोग नष्ट हो जाता है तथा द्वयणुक कार्य नष्ट हो जाता है। यही क्रम त्र्यणुक, चतुरणुक, स्थूलतर, स्थूलतम कार्यद्रव्यों के नाश का है।

परमाणु की सिद्धि ग्रन्थकार ने दो तरह से बताई है। पहली अनुमानवाक्य के द्वारा द्वयणुक की सिद्धि की गई है और दूसरी अनुमान वाक्य के द्वारा परमाणु की सिद्धि की गई है। द्वयणुक की उत्पत्ति दो परमाणुओं से और त्र्यणुक की तीन परमाणुओं से होती है।

आकाश शब्द गुण से युक्त होता है। वह आठ गुणों वाला है। शब्द आकाश का विशेष गुण है और नित्य है। दिशा के विपरीत परत्व अपरत्व द्वारा जिसका अनुमान किया जाए, वह काल है।

13.5 कठिन शब्दावली -

क्रियया = क्रिया होने से, स्थूलतरम् = स्थूलतर द्रव्य, नोदनात् = ईश्वरीय प्रेरणा से, सिञ्ज्ञीर्षाः = संहार के इच्छुक, सूर्यमरीचिस्थम् = सूर्य की किरणों में स्थित, परिशेषात् = परिशेष अनुमान से, सम्प्रत्ययः = प्रतीति रूप अनुमिति का होना, विभुत्वान्नित्यम् = विभु और नित्य, सन्निधानात् = समीपता के कारण से, अपरत्वार्हे = दैशिक अपरत्व के योग्य।

13.6 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर -

1. एक द्वयणुक
2. दो द्वयणुक
3. कार्यद्रव्य के अवयव में नोदन या अभिघात से उत्पन्न क्रिया द्वारा अवयवी के आरंभक संयोग का नाश होने पर
5. महेश्वर को
5. द्वयणुक के उत्पादक परमाणुओं में
6. अपने से अल्प परिमाण वाले समवायिकारण में

13.7 सहायक ग्रन्थ

1. तर्कभाषा, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणि, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी-221001, संस्करण-12, 2013.
2. तर्कभाषा, टीकाकार, पण्डित श्रीरुद्रधर झा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-221001, संस्करण-7, 2021.
3. तर्कभाषा, व्याख्याकार डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-221001, संस्करण-2013.
4. तर्कभाषा, व्याख्याकार एवं सम्पादक डॉ. अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर-302001, संस्करण-2021.
5. तर्कभाषा, व्याख्याकार श्रीबदरीनाथशुक्ल, मोतीलाल बनारसी दास, चौक वाराणसी, प्रथम संस्करण-1968.

13.8 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न -

1. कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति और विनाशक्रम का वर्णन करें।
2. द्वयणुक तथा त्र्यणुक की उत्पत्ति का निरूपण कीजिए।
3. तर्कभाषा में परमाणु सिद्धि किस प्रकार बताई है?

इकाई - चौदह

द्रव्य और गुण निरूपण

संरचना

14.1 प्रस्तावना
14.2 उद्देश्य
14.3 द्रव्य निरूपण
  14.3.1 आकाश
  14.3.2 काल
  14.3.3 दिक्
  14.3.4 आत्मा
  14.3.5 मन
    - स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न-1
14.4 गुणनिरूपण
  14.4.1 रूप गुण
  14.4.2 रस गुण
  14.4.3 गन्ध गुण
  14.4.4 स्पर्श गुण
  14.4.5 संख्या गुण
  14.4.6 परिमाण गुण
    - स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न-2
14.5 सारांश
14.6 कठिन शब्दावली
14.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर
14.8 सहायक ग्रन्थ
14.9 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियो, इस इकाई में आप लोगों को दिक्, आत्मद्रव्य, मनद्रव्य के बारे में बताकर गुणों के ऊपर चर्चा की जाएगी। गुण का लक्षण और उदाहरण बताकर उसके भेदों रूपगुण, रसगुण, गन्धगुण, स्पर्शगुण, संख्यागुण, और परिमाणगुण की लक्षण और उदाहरण सहित जानकारी प्रदान की जाएगी।

14.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से विद्यार्थियों को नम्नलिखित जानकारी उपलब्ध होगी –

- आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन
- गुण निरूपण,

- रूप, रस, गन्ध
- स्पर्श, संख्या और परिमाण

14.3 द्रव्य निरूपण

न्यायशास्त्र में नौ द्रव्य माने गए हैं, जिनमें से चार द्रव्यों का पूर्व इकाई वर्णन कर दिया गया है। अब यहाँ पर शेष पाँच द्रव्यों का वर्णन किया जा रहा है, जो निम्नलिखित प्रकार से है –

14.3.1 आकाश

शब्दगुणमकाशम्। शब्द-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभागवत्। एकं विभु नित्यञ्च। शब्दलिंगकञ्च। शब्दलिंगकत्वमस्य कथम्? परिशेषात्। 'प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्र- प्रसंगात् परिशिष्यमाणे सम्प्रत्ययः परिशेषः'।

तथाहि शब्दस्तावद् विशेषगुणः सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वाद् रूपादिवत्। गुणश्च गुण्याश्रित एव। न चास्य पृथिव्यादिचतुष्टयमात्मा च गुणी भवितुमर्हति, श्रोत्रग्राह्यत्वाच्छब्दस्य। ये हि पृथिव्यादीनां गुणा न ते श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यन्ते, यथा रूपादयः, शब्दस्तु श्रोत्रेण गृह्यते। न दिक्कालमनसां गुणो विशेषगुणत्वात्। अत एभ्योऽष्टभ्योऽतिरिक्तः शब्दगुणी एषितव्यः, स एवाकाश इति ।

शब्दार्थ -

नित्यञ्च = और नित्य, प्रसक्तप्रतिषेधे = प्राप्त का प्रतिषेध कर देने पर, अप्रसंगात् = प्राप्ति न होने के कारण, परिशिष्यमाणे = शेष रहने वाले में, पृथिव्यादिचतुष्टयम् = पृथिवी, अप्, तेज और वायु ये चारों, गृह्यन्ते = गृहीत होते हैं, एभ्यः = इन से, शब्दगुणी = शब्दगुण का आश्रय।

गद्यार्थ -

शब्द गुण से युक्त आकाश है। वह शब्द, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग और विभाग नामक गुणों वाला है, एक है, विभु है और नित्य है, शब्दलिंग है।

(प्रश्न) शब्द नामक लिंग से आकाश का अनुमान कैसे होता है?

(उत्तर) - परिशेषानुमान से। प्राप्त पदार्थों का प्रतिषेध कर देने पर तथा अन्य किसी पदार्थ में (शब्द की) प्राप्ति न होने पर शेष रहने वाले पदार्थ में प्रतीतिरूप अनुमिति का होना (सम्प्रत्यय) परिशेष कहलाता है।

जैसे शब्द विशेष गुण है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह सामान्य (जाति) से युक्त होते हुए हमारी बाह्येन्द्रिय (श्रोत्र) से ग्राह्य है, जैसे कि रूप आदि बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य है। गुण तो गुणी (द्रव्य) पर आश्रित होता ही है। इस शब्द नामक विशेष गुण के गुणी द्रव्य - पृथिवी, जल, तेज और वायु नहीं हो सकते हैं, क्योंकि शब्द श्रोत्र से ग्राह्य है। जो पृथिवी आदि के गुण हैं, यथा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, वे श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य नहीं हैं। शब्द तो श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत होता है। (अतः शब्द पृथिव्यादि के गुण नहीं हैं।) यह शब्द विशेष-गुण होने से दिक्, काल और मन का भी गुण नहीं है। अतः इन आठों पृथिवी, जल, तेज, वायु, आत्मा, काल, दिक् और मन से अतिरिक्त शब्द-गुण का गुणी मानना चाहिये और वह गुणी आकाश ही है।

स चैको, भेदे प्रमाणाभावात्। एकत्वेनैवोपपत्तेः। एकत्वाच्चाकाशत्वं नाम सामान्यमाकाशे न विद्यते, सामान्यस्यानेकवृत्तित्वात् - विभु चाकाशं परममहत्परिमाण- वदित्यर्थः। सर्वत्र तत्कार्योपलब्धेः। अत एव विभुत्वान्नित्यमिति।

शब्दार्थ -

प्रमाणाभावात् = प्रमाण का अभाव, सामान्यस्यानेकवृत्तित्वात् = सामान्य अनेकों में रहने वाला होता है, कार्योपलब्धेः = कार्य उपलब्धी।

गद्यार्थ -

वह आकाश एक है, क्योंकि उसके अनेक होने (भेद) में कोई प्रमाण नहीं है। आकाश के एक होने से ही सारी संगति बैठ जाती है। एक होने से आकाश में आकाशत्व नामक जाति नहीं होती है, क्योंकि जाति (सामान्य) अनेक में रहने वाली मानी जाती है। क्योंकि जाति (सामान्य) अनेक में रहने वाली मानी जाती है। आकाश विभु है, अर्थात् परममहत् परिमाण वाला है, क्योंकि उसका कार्य सर्वत्र उपलब्ध होता है। इसलिए विभु होने से आकाश नित्य है।

व्याख्या -

आकाश द्रव्य की सिद्धि शब्दलिंगकत्व हेतु द्वारा परिशेषानुमान से किया जाता है, क्योंकि आकाश प्रत्यक्ष तो है नहीं। तब उसकी सत्ता में प्रमाण क्या है? इसके उत्तर में शब्दलिंगकत्वञ्च कहा गया है। शब्द है लिंग हेतु जिसका वह आकाश है।

आकाश में शब्द संख्या परिमाण पृथकत्व संयोग आदि आठ गुण हैं, किन्तु शब्द इसका विशेष गुण है। गुण गुणी में आश्रित होता है। द्रव्य को गुणी कहते हैं। शब्द जिसका गुण है वह गुणी द्रव्य आकाश ही है, इस को परिशेषानुमान से सिद्ध किया गया है। परिशेष कहते हैं - प्रसक्त का प्रतिषेध होने पर अन्यत्र प्राप्ति के न होने से शेष में अनुमिति करना। इसमें तीन अंश हैं - 1. जो प्राप्त हैं उनका प्रतिषेध करना, 2. अन्यत्र में प्राप्ति नहीं है यह दिखलाना तथा 3. जो शेष रह जाये उसमें निश्चय करना। यथा शब्द का विषय दिखलाया गया है -

1. शब्द आश्रित होता है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह गुण है (हेतु)। जैसे रूप (उदाहरण)। इस आधार पर 'शब्दः विशेषगुणः' शब्द विशेष गुण है (प्रतिज्ञा), सामान्यवत्वे सति अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् होता हुआ हमारी बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य है (हेतु)। रूपादिवत् (उदाहरण)।

शब्द गुण का गुणी द्रव्य पृथिवी जल तेज वायु और आत्मा नहीं हो सकते, क्योंकि यह श्रोत्रग्राह्य है। पृथिवी आदि के गुण गन्ध शीतस्पर्श उष्णस्पर्श स्पर्श और ज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य नहीं हैं। अतः शब्द इनका गुण नहीं है।

शब्द विशेष गुण है। अतः यह दिक् काल और मन का भी गुण नहीं है, क्योंकि इन तीनों में विशेष गुण नहीं रहता है। इस तरह इन आठों द्रव्यों की प्राप्ति का निषेध हो गया है। अन्यत्र गुण कर्म आदि में भी शब्द की प्राप्ति नहीं देखी जाती है। अतः शेष रहा आकाश द्रव्य। जो गुणी है। वह विशेष गुण शब्द आकाश में ही है, यह परिशेषानुमान से सिद्ध हुआ।

शब्द एक है, व्यापक है और नित्य है। आकाश एक है। इसके अनेक होने में प्रमाण नहीं है। शब्द में तीव्र तीव्रतर तीव्रतम् का जो भेद है उससे आकाश का भेद नहीं माना जाता है। शब्द के उत्पादक अभिघात आदि के ये भेद हैं। अभिघातादि के भेद से शब्द में भेद दिखता है, आश्रय भेद से नहीं। अतः कहा गया है कि एक आकाश से ही आकाशसम्बन्धी सभी व्यवहार होते हैं। आकाश व्यापक (विभु) है। यह सभी भूत द्रव्यों में संयुक्त होने से विभु है, अर्थात् इसका परिमाण परममहत् है, क्योंकि इसका कार्य शब्द सर्वत्र उपलब्ध है। शब्द का समवायिकारण

आकाश है, शब्द उस कारण का कार्य है। जब कार्य शब्द सर्वत्र उपलब्ध है तब उसका समवायिकारण या आश्रय आकाश भी सर्वत्र है, यह मानना पड़ेगा।

आकाश नित्य है। इस में हेतु है विभुत्व। विभु द्रव्य नित्य होता है। जैसे कि आत्मा के प्रसङ्ग में बताया जा चुका है। अकाश में सामान्य नहीं रहता है। आकाश एक ही है। एक व्यक्ति में सामान्य नहीं रहा करता है। सामान्य जाति को कहते हैं। सामान्य का लक्षण है - नित्यम् एकम् अनेकानुगतं सामान्यम् अर्थात् जो नित्य, एक तथा अनेकों में अनुगताकारक प्रतीति का विषय है वह सामान्य है। चूँकि आकाश एक है। अतः इसमें आकाशत्व जाति नहीं रहती है।

14.3.2 काल

कालोऽपि दिग्विपरीतपरत्वापरत्वानुमेयः। संख्या-परिमाण-पृथकत्व-संयोग-विभागवान्। एको नित्यो विभुश्च। कथमस्य दिग्विपरीतपरत्वापरत्वानुमेयत्वम्? उच्यते। सन्निहिते वृद्धे सन्निधानादपरत्वार्हे तद्विपरीतं परत्वं प्रतीयते। व्यवहिते यूनि व्यवधानात् परत्वार्हे तद्विपरीतमपरत्वम्। तदिदं तत्तद्विपरीतं परत्वमपरत्वञ्च कार्यं तत्कारणस्य दिगादेरसम्भवात् कालमेव कारणमनुमापयति। स चैकोऽपि वर्तमानातीतभविष्यत्क्रियोपाधिवशाद् वर्तमानादिव्यपदेशं लभते। पुरुष इव पच्यादिक्रियोपाधिवशात् पाचक-पाठकादिव्यपदेशम्। नित्यत्वविभुत्वे चास्य पूर्ववत्।

शब्दार्थ -

कालोऽपि = काल भी, दिग्विपरीत = दिशा के विपरीत, तद्विपरीतम् = उस के विपरीत, व्यवहिते = व्यवधानयुक्त यूनि = युवक में, व्यवधानात् = व्यवधान के कारण से, दिगादेः = दिशा आदि का होना, अनुमापयति = अनुमान कराता है, उपाधिवशाद् = उपाधि के कारण, लभते = प्राप्त करता है।

गद्यार्थ -

दिशा के विपरीत परत्व और अपरत्व द्वारा काल का अनुमान किया जाता है। काल संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग और विभाग गुण वाला है। यह एक नित्य और विभु है। यह दिशा के विपरीत परत्व और अपरत्व द्वारा अनुमान का विषय कैसे है? यह प्रश्न होता है। बताते हैं - समीप में स्थित वृद्ध में समीपता के कारण जो स्थानकृत अपरत्व के योग्य है, उसमें उस से विपरीत परत्व (कालकृत) की प्रतीति होती है। इसी तरह दूरस्थ युवक में दूरी के कारण जो परत्व के योग्य है, उसमें स्थानकृत परत्व के विपरीत अपरत्व की प्रतीति होती है। उस स्थानकृत अपरत्व और परत्व के विपरीत जो यह कालकृत परत्व और अपरत्व है, वह कार्य है। उस कालकृत परत्व और अपरत्व कार्य का कारण दिशा आदि नहीं हो सकता है। अतः यह काल रूप कारण का अनुमान कराता है। वह काल एक होने पर भी वर्तमान अतीत और भविष्यत् क्रियारूप उपाधि के कारण वर्तमान आदि व्यवहार को प्राप्त करता है। जिस प्रकार पुरुष पाक आदि क्रियारूप उपाधि के कारण पाचक और पाठक का व्यवहार प्राप्त करता है। काल की नित्यता और विभुत्व आकाश के समान ही है।

व्याख्या -

परत्व और अपरत्व सामान्य गुण माने जाते हैं। कारिकावली में कहा गया है कि परत्व और अपरत्व दो प्रकार का है – 1. दैशिक स्थान के सम्बन्ध से 2. कालिक के सम्बन्ध से। परत्व मूर्त के साथ संयोग की अधिकता है तथा अपरत्व मूर्त के साथ संयोग की अल्पता है।

दिशा का अनुमान परत्व तथा अपरत्व के द्वारा किया जाता है और दिग्विपरीत (जो दिशामूलक परत्व अपरत्व नहीं है) परत्व अपरत्व के द्वारा काल का अनुमान होता है। उदाहरण के द्वारा इसे इस प्रकार समझा

जाये, दरभंगा से पश्चिम जयपुर है और प्रयाग भी। दरभंगा से जयपुर में बैठे व्यक्ति की अपेक्षा प्रयाग में बैठे व्यक्ति में स्थान की समीपता के कारण अपरत्व है तथा जयपुर में बैठे व्यक्ति में स्थान की दूरी के कारण परत्व है। यह दैशिक परत्व-अपरत्व है।

परन्तु एक ही स्थान पर पूर्व में उत्पन्न होने वाले व्यक्ति में परत्व होता है तथा बाद में उत्पन्न होने वाले व्यक्ति में अपरत्व होता है। कारण यह है कि सूर्यकिरण का संयोग पूर्व उत्पन्न में पहले हुआ, पश्चात् उत्पन्न में बाद में हुआ। पूर्वोत्पन्न में सूर्यकिरण संयोग की अधिकता के कारण परत्व है तथा पश्चात् उत्पन्न में सूर्यकिरण के संयोग की अल्पता है। अतः यहाँ परत्व और अपरत्व कालिक (काल से सम्बन्ध रखता) है।

पूर्व उत्पन्न में जो कालिक परत्व है, वह दरभंगा से जयपुर की अपेक्षा पहले स्थित प्रयाग में दैशिक अपरत्व हो जाता है तथा पश्चात् उत्पन्न जन में जो अपरत्व कालिक है, वह दरभंगा से प्रयाग की अपेक्षा बाद में स्थित जयपुर में दैशिक परत्व हो जाता है। यही दिग्विपरीत परत्वाऽपरत्व है। उससे काल का अनुमान किया जाता है।

यह परत्व अपरत्व कार्य है। इस कार्य का कारण कोई अवश्य होगा। वह कारण काल है यह माना जाता है। यह काल एक है, नित्य है तथा विभु है। यदि एक है तो उसमें वर्तमान भूत और भविष्य का भेद कैसे होता है? तथा क्षण, घण्टा, दिन, रात्रि, वर्ष आदि का भेद कैसे होता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि तत् तत् क्षण विशिष्ट क्रिया के कारण एक अखण्ड काल में भेद किया जाता है। जिस प्रकार पकाने वाला पकाने की क्रिया के कारण पाचक कहलाता है तथा पढ़ाने वाला पाठक कहलाता है।

14.3.3 दिक्

कालविपरीतपरत्वापरत्वानुमेया दिक्। एका नित्या विभ्वी च। संख्या-परिमाण-पृथकत्व- संयोग-विभागवती। पूर्वादिप्रत्ययैरनुमेया। तेषामन्यनिमित्तासम्भवात् । पूर्वस्मिन् पश्चिमे वा देशे स्थितस्य वस्तुनस्तादवस्थ्यात्। सा चैकापि सवितुस्तत्तद्देशसंयोगोपाधिवशात्। प्राच्यादिसंज्ञां लभते।

शब्दार्थ -

विभागवती = विभाग नामक गुणों वाली, तत्तद्देशसंयोग = उस उस देश के साथ संयोग, उपाधिवशात्= उपाधि के कारण, प्राच्यादिसंज्ञां = पश्चिम आदि संज्ञा को।

गद्यार्थ -

काल के विपरीत परत्व और अपरत्व नामक गुणों से अनुमान योग्य दिक् कहलाती है। वह एक नित्य और विभु है। वह संख्या, परिमाण, पृथक्तव, संयोग और विभाग नामक गुणों वाली है। पूर्व, पश्चिम इत्यादि की प्रतीति से भी वह अनुमान योग्य है, क्योंकि पूर्व पश्चिमादि का दिक् से भिन्न कोई अन्य निमित्त कारण नहीं हो सकता है। पूर्व या पश्चिम देश में स्थित वस्तु उसी अवस्था में रहती है और वह एक है, फिर भी सूर्य का उन उन भिन्न देशों में संयोगरूप उपाधि के निमित्त से पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि संज्ञा को प्राप्त करती है।

व्याख्या -

कालसम्बद्ध परत्वं अपरत्व के विपरीत परत्व और अपरत्व के द्वारा दिक् का अनुमान किया जाता है। जयपुर से दिल्ली की अपेक्षा शाहपुरा में अपरत्व है और दिल्ली में परत्व है। यह परत्व और अपरत्व दिक् का अनुमान कराता है। यहाँ परत्वापरत्व के व्यवहार का कारण दिक् है। अन्य उदाहरण के रूप में पूर्व पश्चिम आदि की प्रतीति से भी दिक् का अनुमान होता है। जैसे जयपुर से पूर्व में अलवर है, पश्चिम में अजमेर है, उत्तर में

शाहपुरा है और दक्षिण में कोटा है, इस व्यवहार में पूर्व आदि की प्रतीति एक कार्य है, जो किसी कारण से उत्पन्न होने वाला है। इसका कारण दिक् है।

पूर्व आदि की प्रतीति का कोई कारण है (प्रतिज्ञा), क्योंकि पूर्वादि की प्रतीति कार्य है (हेतु), अन्य कार्यों के समान (उदाहरण)। यह कारण कौन है? या प्रतीति का कारण कौन है? निश्चय ही पृथिवी आदि आठ द्रव्य इस प्रतीति के कारण नहीं हैं। अतः परिशेषानुमान से इस प्रतीति का कारण पृथिव्यादि से भिन्न दिक् है यह सिद्ध होता है।

सा चौकाऽपि सवितुः - वह दिक् एक है। फिर भी उसमें पूर्व पश्चिम आदि अनेकता का व्यवहार कैसे होता है, यह प्रश्न उपस्थित होता है। ग्रन्थकार ने 'सवितुस्तत्तद्देशसंयोगापाधिवशात् प्राच्यादिसंज्ञां लभते' कहकर समाधान किया है, अर्थात् भिन्न-भिन्न देश के साथ सूर्य किरण का संयोग होने से पूर्व पश्चिम आदि संज्ञा प्राप्त होती है अर्थात् उदयगिरि समीपस्थ दिक् (स्थान) पूर्व कहलाता है। उदयगिरि से दूरस्थ स्थान पश्चिम कहलाता है। इसी तरह सुमेरु पर्वत से समीपस्थ स्थान उत्तर कहलाता है तथा सुमेरु पर्वत से दूरस्थित (व्यवहित) स्थान दक्षिण कहलाता है। इस तरह सूर्य तथा दिक् प्रदेशों का संयोग ही पूर्व पश्चिम आदि संज्ञाओं के व्यवहार का निमित्त (उपाधि) होता है।

14.3.4 आत्मा

आत्मत्वाभिसम्बन्धवान् आत्मा। सुखदुःखादिवैचित्र्यात् प्रतिशरीरं भिन्नः। स चोक्त एव। तस्य सामान्यगुणाः संख्यादयः पञ्च, बुद्धयादयो नव विशेषगुणाः। नित्यत्व-विभुत्वे पूर्ववत्।

शब्दार्थ -

सम्बन्धवान् = सम्बन्ध वाला, प्रतिशरीरम् = प्रत्येक शरीर में। बुद्धयादयः = बुद्धि आदि, नित्यत्वविभुत्वे = नित्यता और व्यापकता।

गद्यार्थ -

आत्मत्वजाति के समवाय सम्बन्ध से युक्त आत्मा है। प्रत्येक व्यक्ति के सुख-दुःख आदि की विचित्रता (भेद) के कारण आत्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न ही है। उसका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग और विभाग ये पाँच आत्मा के समान्य गुण तथा बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म एवं संस्कार ये नौ आत्मा के विशेष गुण हैं। आत्मा की नित्यता एवं व्यापकता आकाश के समान ही है।

14.3.5 मन

मनस्त्वाभिसम्बन्धवन्मनः। अणु, आत्मसंयोगि, अन्तरिन्द्रियम्, सुखाद्युपलब्धिकारणं नित्यञ्च। संख्याद्यष्टगुणवत्। तत्संयोगेन बाह्येन्द्रियमर्थग्राहकम्। अतएव सर्वोपलब्धिसाधनम्। तच्च न प्रत्यक्षम्, अपि त्वनुमानगम्यम्। तथाहि सुखाद्युपलब्धयश्चक्षुराद्यतिरिक्तकरणसाध्याः, असत्स्वपि चक्षुरादिषु जायमानत्वात्। यद्वस्तु यद्विनैवोत्पद्यते तत् तदतिरिक्तकरणसाध्यं, यथा कुठारं विनोत्पद्यमाना पचनक्रिया तदतिरिक्तवह्नयादिकरणसाध्या। यच्च करणं तन्मनः तच्च चक्षुराद्यतिरिक्तम् । तच्चाणुपरिमाणम् ।

इति द्रव्याण्योक्तानि।

शब्दार्थ -

मनस्त्व = मनस्त्व जाति वाला, संख्याद्यष्टगुणवत् = संख्यादि आठ गुणों वाला, उत्पद्यते = उत्पन्न होती है, वह्नयादिकरणसाध्या = अग्नि आदि करणों से सिद्ध होने वाली।

गद्यार्थ -

मनस्त्व जाति के सम्बन्ध वाला मन है। वह अणु, आत्मा के साथ संयोगवाला और आन्तरिक इन्द्रिय है। वह सुख-दुःख आदि के अनुभव का करण (साधन) है, नित्य है और संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व तथा संस्कार इन आठ गुणों वाला है। मन के संयोग से बाह्य इन्द्रिय (नेत्रदि) अर्थ का ग्रहण करती है। इसलिए मन सभी अर्थों की उपलब्धि का साधन है। वह प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञेय नहीं है, अपितु अनुमान प्रमाण से जानने योग्य है। जैसे कि (अनुमान प्रकार) सुख आदि के अनुभव नेत्रदि से भिन्न करण द्वारा साध्य है, क्योंकि नेत्रदि के नहीं होने पर भी सुखादि की उत्पत्ति होती है। जो वस्तु जिस करण के बिना ही उत्पन्न होती है, वह वस्तु उस करण से भिन्न करण द्वारा सिद्ध की जाती है, जैसे कि पाकक्रिया कुठार (करण) के बिना उत्पन्न होती है, वह (पाकक्रिया) उस कुठार से भिन्न वह्नि आदि करण द्वारा सिद्ध हो जाती है और जो सुखादि का करण है वह मन है। वह मन चक्षु आदि से भिन्न है, वह अणु परिमाण है।

व्याख्या -

द्वादश प्रमेयों में मन का निरूपण किया जा चुका है। यहाँ पर द्रव्य के रूप में मन का निरूपण किया जा रहा है। मनस्त्व जाति समवाय सम्बन्ध से जिसमें रहती है, वह मन कहलाता है। वह अणु है। यदि मन को मध्यम परिमाण वाला मानें तो वह अनित्य माना जायेगा। यदि महत्परिमाण वाला मानें तो एककालावच्छेदेन अनेक इन्द्रियों के अर्थों का ज्ञान होने लगेगा। चूँकि मन अणु है तथा नित्य है, अतः ये दोष नहीं आते।

मन प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। यह अनुमान का विषय है। अनुमान प्रयोग - सुखादि की उपलब्धि नेत्रदि इन्द्रियों से भिन्न इन्द्रिय (करण) द्वारा होती है, क्योंकि अन्धे बहरे आदि को भी सुखादि की उपलब्धि होती है।

मन आत्मसंयोगी है। यह आत्मा से संयुक्त होता है तथा आत्मा इन्द्रिय से संयुक्त होता है। आत्मसंयुक्त इन्द्रिय द्वारा अर्थों की उपलब्धि में मन नियन्त्रक है। यह जिस इन्द्रिय से सम्बद्ध होगा उसी के अर्थ का ज्ञान करायेगा, अन्य इन्द्रियों के अर्थों का ज्ञान नहीं करायेगा। कुछ लोग मन को केवल संयोगी मानते हैं। उनका मनना है कि सूक्ष्मशरीर से संयुक्त मन ही संचरण करता है। यह कर्माशय के अनुसार दूसरे शरीर से संयुक्त होकर भी अर्थों का ज्ञान कराता है। जैसे कि स्वर्ग या नरक को प्राप्त करने वाला जीव का मन।

मन अवयवरहित होने से नित्य है। यह आन्तरिक इन्द्रिय है। बाह्येन्द्रिय इसके संयोग से ही अपने अपने अर्थों का ग्रहण करती है। अतः मन सभी विषयों की उपलब्धि का साधन है।

स्वयं आकलन कीजिए -

अभ्यास प्रश्न - 1

1. आकाश कितने गुणों से युक्त है?
2. शब्द नामक लिंग से आकाश का अनुमान कैसे होता है?
3. दिशा के विपरीत परत्व और अपरत्व द्वारा किसका अनुमान किया जाता है?
4. काल के कितने गुण हैं?
5. काल का अनुमान कैसे किया जाता है?
6. दिक् कितने गुणों से युक्त है?

7. दिक् में पूर्व पश्चिम आदि का व्यवहार कैसे होता है?
8. आत्मा द्रव्य के विशेष गुण कितने हैं?
9. मन का स्वरूप कैसा है?
10. मन के संयोग से बाह्य इन्द्रियाँ किसका ग्रहण करती हैं?

14.4 गुण निरूपण

अथ गुणा उच्यन्ते। सामान्यवान् असमवायिकारणं, स्पन्दात्मा गुणः। स च द्रव्याश्रित एव। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथकत्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-शब्द-बुद्धि-सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्म- अधर्म-संस्कार-भेदाच्चतुर्विंशतिधा ।

शब्दार्थ -

सामान्यवान् = सामान्य से युक्त, द्रव्याश्रित = द्रव्य के आश्रित, चतुर्विंशतिधा = चौबीस प्रकार का।

गद्यार्थ -

अब गुणों का निरूपण किया जा रहा है। सामान्यवान्, असमवायिकारण होने वाला और कर्म से भिन्न गुण कहलाता है। वह द्रव्य के ही आश्रित रहता है। वह रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथकत्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-शब्द-बुद्धि-सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्म-अधर्म-संस्कार आदि के भेदों से चौबीस प्रकार का है।

व्याख्या -

गुण के लक्षण में तीन पद हैं – 1. सामान्यवान् 2. असमवायिकारणम् और 3. अस्पन्दात्मा। ये तीनों पद लक्षण में साभिप्राय हैं। सामान्य वाला गुण है, इस कथन से सामान्य विशेष और समवाय में गुण के लक्षण की अतिव्याप्ति रोकी जाती है, क्योंकि सामान्य विशेष और समवाय में सामान्य (जाति) नहीं रहता है। 'असमवायिकारणम्' यह पद द्रव्य में गुण के लक्षण की अतिप्रसक्ति रोकने के लिए है, क्योंकि द्रव्य समवायिकारण हुआ करता है। 'अस्पन्दात्मा' यह पद कर्म में गुण के लक्षण की अतिव्याप्ति रोकने के लिए है। स्पन्द का अर्थ है - क्रिया, क्रिया और कर्म समानार्थक हैं। जो अस्पन्दात्मा है कर्म स्वरूप नहीं है, वह गुण है।

14.4.1 रूप गुण

तत्र रूपं चक्षुर्मात्रग्राह्यो विशेषगुणः। पृथिव्यादित्रयवृत्ति। तच्च शुक्लाद्यनेकप्रकारकम्। पाकजश्च पृथिव्याम्। तच्चाऽनित्यं पृथिवीमात्रे। आप्यतैजसपरमाण्वोर्नित्यम्। आप्यतैजसकार्येष्वनित्यम्। शुक्लभास्वरमपाकजं तेजसि। तदेवाभास्वरमप्सु।

शब्दार्थ -

पृथिव्यादित्रयवृत्ति = पृथ्वी, जल, तेज की वृत्ति वाला, पाकजश्च = और पाकज रूप, आप्यतैजसकार्येषु= जल एवं तेज के कार्यरूपों में।

गद्यार्थ -

गुणों में रूप नेत्रमात्र से ग्राह्य विशेष गुण है। यह पृथ्वी, जल और तेज में रहता है। वह रूप शुक्ल, नील, हरित आदि भेद से अनेक प्रकार का है। पृथ्वी में पाकज रूप भी होता है। (नित्य-अनित्य दोनों प्रकार की) पृथ्वी में वह रूप गुण अनित्य है। जल और तेज के परमाणुओं में वह (रूप) नित्य होता है। जल तथा तेज के कार्यों में

वह अनित्य होता है। तेज में शुक्ल भास्वर (सफेद चमकीला) रूप अपाकज होता है और वही अपाकज रूप जल में अभास्वर-शुक्ल होता है।

व्याख्या -

रूप के लक्षण में 'चक्षुर्मात्रग्राह्यो विशेषगुणः रूपम्' ऐसा कहा गया है। इस लक्षण में मात्र पद संख्या में लक्षण की अतिव्याप्ति रोकने के लिए है। यदि चक्षुर्ग्राह्यः इतना ही पद रखते तब संख्या में यह लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है, क्योंकि संख्या भी चक्षु से ग्राह्य है। इसके अतिरिक्त त्वक् से भी संख्या का ग्रहण होता है। चूँकि संख्या चक्षुमात्र से ग्राह्य नहीं है, अतः यह लक्षण संख्या में अतिव्याप्त नहीं होता है।

यदि इस लक्षण में 'गुणः' पद नहीं रखते तब रूपत्व जाति में भी यह लक्षण अतिव्याप्त हो जाता, क्योंकि रूपत्व जाति का ग्रहण भी चक्षुमात्र से होता है। रूपत्व जाति है, गुण नहीं। अतः यह लक्षण रूपत्व में अतिव्याप्त नहीं होता। रूप के लक्षण में विशेषगुणः न रखकर केवल गुणः इसको रखते तथा विशेष पद को नहीं रखते तब संख्या में यह लक्षण अतिव्याप्त होता। संख्या भी चक्षुमात्र से ग्राह्य गुण है। अतः लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता है।

रूप शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश और कर्बुर (चित्र रूप) के भेद से न्यायवैशेषिक में सात प्रकार का माना जाता है। अतः यहाँ शुक्ल आदि अनेक प्रकार का रूप है, यह कहा गया है। चित्र रूप षड्विध रूपों का सम्मिश्रण है। अतः इसे अतिरिक्त सातवाँ रूप मानें या न मानें इस पर विवाद है। वस्तुतः मिश्र रूप की प्रतीति होती है। जहाँ किसी विशेष रूप का उल्लेख सम्भव नहीं है। अतः कर्बुर (चित्र) को सातवाँ रूप मान लिया गया। इससे अधिक की कल्पना में अनन्त रूपों को मानना पड़ेगा। अतः सात से भिन्न रूप की कल्पना नहीं की जाती है।

14.4.2 रस गुण

रसो रसनेन्द्रियग्राह्यो विशेषगुणः। पृथिवीजलवृत्तिः। तत्र पृथिव्यां मधुरादिषट्प्रकारो मधुर-अम्ल-लवण-कटु-कषाय-तिक्त-भेदात्, पाकजश्च अप्सु मधुरोऽपाकजो नित्योऽनित्यश्च। नित्यः परमाणुभूतास्वप्सु, कार्यभूतास्वनित्यः।

14.4.3 गन्ध गुण

गन्धो घ्राणग्राह्यो विशेषगुणः। पृथिवीमात्रवृत्तिः। अनित्य एव। स द्विविधः सुरभिरसुरभिश्च। जलादौ गन्धप्रतिभानं तु संयुक्तसमवायेन द्रष्टव्यम्।

शब्दार्थ -

रसनेन्द्रियग्राहाः = रसना-इन्द्रिय से ग्रहण किया जाने वाला, पृथिवीजलवृत्तिः = पृथिवी और जल की वृत्ति वाला, तिक्त = तीखा, पाकजः - पकने वाला, अप्सु = जल में, घ्राणग्राह्यः = घ्राणेन्द्रिय से ग्राह्य, सुरभिः = सुगन्ध।

गद्यार्थ -

रसनेन्द्रिय से ग्राह्य विशेष गुण रस कहलाता है। यह पृथिवी और जल में होता है। पृथिवी में मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त के भेद से छह प्रकार का रस होता है और वह पाकज है। जल में अपाकज मधुर रस है, वह नित्य और अनित्य है। परमाणुरूप जल में नित्य मधुर रस तथा कार्यरूप जल में अनित्य मधुर रस होता है।

घ्राणेन्द्रिय से ग्राह्य विशेष गुण गन्ध कहलाता है। वह पृथिवी-मात्र में रहता है तथा अनित्य ही है। सुगन्ध और दुर्गन्ध के भेद से गन्ध दो प्रकार का है। जल आदि में जो गन्ध की प्रतीति होती है, वह संयुक्त

समवायसम्बन्ध से होती है (अर्थात् जल या वायु आदि में जो गन्ध की प्रतीति है वह जल या वायु की नहीं है, अपितु जल या वायु में संयुक्त पार्थिव अंश जो पुष्प आदि हैं, उनमें समवाय सम्बन्ध से रहने वाला गन्ध ही जलादि में प्रतीत होता है। अतः वह गन्ध पृथिवी का ही है)।

14..4.4 स्पर्श गुण

स्पर्शस्त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यो विशेषगुणः। पृथिव्यादिचतुष्टयवृत्तिः। स च त्रिविधः शीत-उष्ण-अनुष्णाशीतभेदात्। शीतः पयसि, उष्णस्तेजसि, अनुष्णाशीतः, पृथिवीवाय्वोः। पृथिवीमात्रे ह्यनित्यः। आप्य-तैजस-वायवीयपरमाणुषु नित्यः। आप्यादिकार्येष्वनित्यः। एते च रूपादयश्चत्वारो महत्त्वैकार्यसमवेतत्त्वे सत्युद्भूता एव प्रत्यक्षाः।

शब्दार्थ -

शीतोष्णानुष्णाशीतभेदात् = शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत (न उष्ण न शीतल) के भेद से, पयसि = जल में, पृथिवीवाय्वोः = पृथिवी और वायु में।

गद्यार्थ -

त्वक् इन्द्रिय से ग्राह्य विशेष गुण स्पर्श कहलाता है। स्पर्श गुण पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चारों द्रव्यों में रहता है। स्पर्श शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत के भेद से तीन प्रकार का है। जल में शीत स्पर्श, तेज में उष्ण स्पर्श और पृथ्वी तथा वायु में अनुष्णाशीतस्पर्श (न तो शीतल न ही उष्ण) होता है। परमाणुरूप तथा कार्यरूप पृथ्वी में (अनुष्णाशीत स्पर्श) अनित्य है। जल, तेज तथा वायु के परमाणुओं में (स्पर्श गुण) नित्य है। कार्यरूप जल तेज तथा वायु में (स्पर्श गुण) अनित्य है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार गुण महत् परिमाण के साथ किसी कार्य द्रव्य में समवाय से रहते हुए ही उद्भूत (प्रकट) होकर प्रत्यक्ष के योग्य होते हैं।

व्याख्या -

त्वगिन्द्रिय से ग्राह्य विशेषगुण स्पर्श पृथिवी, जल,, तेज एवं वायु इन चारों द्रव्यों में रहता है। स्पर्श तीन प्रकार का है – 1. शीत, 2. उष्ण और 3. अनुष्णाशीत (न उष्ण न शीत)। शीतस्पर्श जल में तथा उष्ण स्पर्श तेज में होता है। नित्य एवं कार्यरूप दोनों प्रकार की पृथिवी में तथा कार्यरूप वायु में अनुष्णाशीत स्पर्श अनित्य होता है। परमाणु रूप वायु में अनुष्णाशीत स्पर्श नित्य होता है। परमाणुरूप जल में शीतस्पर्श नित्य है तथा कार्यरूप जल में अनित्य है। परमाणु रूप तेज में उष्णस्पर्श नित्य होता है तथा कार्यरूप तेज में अनित्य होता है।

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का प्रत्यक्ष कैसे होता है? यह प्रश्न है। समाधान है कि 'रूपादयश्चत्वारो महत्त्वैकार्थसमवेत्तत्त्वे सति उद्भूता एव प्रत्यक्षाः' अर्थात् 1. रूप आदि गुण किसी अर्थ में (कार्य द्रव्य में) समवाय सम्बन्ध से रहें 2. तथा उस कार्य द्रव्य में महत् परिमाण भी समवाय सम्बन्ध से रहे 3- और वे उद्भूत हों सूक्ष्म नहीं हों, अर्थात इन्द्रिय से ग्रहण किए जाने वाले हों तभी वे रूपादि प्रत्यक्ष होते हैं।

इन विशेषताओं के बिना इनका प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। परमाणु या द्वयणुक में महत् परिमाण नहीं होता है तथा चक्षु में रूप उद्भूत नहीं है। अतः परमाणु, यणुक तथा चक्षु के रूप का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है।

14.4.5 संख्या गुण

संख्या एकत्वादिव्यवहारहेतुः सामान्यगुणः। एकत्वादिपरार्द्धपर्यन्ता। तत्रैकत्वं द्विविधं नित्यानित्यभेदात्। नित्यगतं नित्यमनित्यगतमनित्यम्। स्वाश्रयसमवायिकारणगतैकत्वजन्यञ्च।

द्वित्वंश्चानित्यमेव। तच्च द्वयोः पिण्डयोः 'इदमेकम्' इत्यपेक्षाबुद्धया जन्यते। तत्र द्वौ पिण्डौ समवायिकारणे। पिण्डयोरेकत्वे असमवायिकारणे। अपेक्षाबुद्धिर्निमित्तकारणम्। अपेक्षाबुद्धिविनाशादेव द्वित्वविनाशः। एवं त्रित्वाद्युत्पत्तिर्विज्ञेया।

शब्दार्थ -

एकत्वादिव्यवहारहेतुः = एकत्व आदि के व्यवहार का कारण, सामान्यगुणः = व सामान्य गुण, एकत्वादिपरार्धपर्यन्ता = वह एकत्व से लेकर परार्ध (सबसे बड़ी संख्या) तक होती है। तत्र = उन संख्याओं में, एकत्वं द्विविधम् = एकत्व दो प्रकार का होता है, नित्यानित्यभेदात् = नित्य तथा अनित्य के भेद से। नित्यगतम् = नित्य द्रव्य में (आकाशादि में) रहने वाला, नित्यम् = नित्य होता है। अनित्यगतम् = अनित्यद्रव्यों में (कार्यद्रव्य में) रहने वाला, एकत्वजन्यञ्च = एकत्व से उत्पन्न हुआ।

गद्यार्थ -

एकत्व आदि के व्यवहार का निमित्त संख्या एक सामान्य गुण है। वह संख्या एकत्व से लेकर परार्ध (सबसे बड़ी संख्या) तक होती है। नित्य और अनित्य के भेद से एकत्व दो प्रकार का है। नित्य द्रव्य में रहने वाला एकत्व नित्य है और अनित्य द्रव्य में रहने वाला एकत्व अनित्य होता है। अनित्य एकत्व अपने आश्रय (घटादि) के समवायिकारण (कपालादि) में विद्यमान एकत्व से उत्पन्न हुआ करता है। द्वित्व तो अनित्य ही होता है और वह द्वित्व (घटादि) दो पिण्डों में 'यह एक है, यह एक है' इस प्रकार की अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होता है। उस उत्पत्ति में दोनों पिण्ड समवायिकारण बनते हैं, दोनों पिण्डों के एकत्व असमवायिकारण बनते हैं तथा अपेक्षाबुद्धि निमित्तकारण बनता है। अपेक्षा बुद्धि के विनाश से ही द्वित्व का विनाश होता है। इसी प्रकार त्रित्व आदि की उत्पत्ति के विषय में जानना चाहिये।

व्याख्या -

एक दो तीन चार आदि के व्यवहार का कारण संख्या एक सामान्य गुण है। इसकी प्रतीतिमात्र होती है। वह भी द्रव्यों में प्रतीति का विषय बनती है। एकत्व संख्या नित्य एवं अनित्य होती है। नित्य द्रव्य परमाणु आत्मा आकाश काल आदि में नित्य एकत्व है। अनित्य द्रव्य पृथिवी घट पट जल आदि में एकत्व अनित्य है।

द्वित्व आदि संख्याएँ तो अनित्य ही हैं। सभी द्रव्यों में द्वित्वादि की उत्पत्ति अपेक्षा बुद्धि से होती है। अनेक घटों में यह एक घट है, यह एक घट है, इस प्रकार से जो घटों में एक दूसरे की अपेक्षा से एकत्व की प्रतीति होती है वही अपेक्षा बुद्धि है।

14.4.6 परिमाण गुण

परिमाणं मानव्यवहारासाधारणं कारणम्। तच्चतुर्विधम्। अणु, महद्, दीर्घ, ह्रस्वश्चेति। तत्र कार्यगतं परिमाणं संख्या-परिमाण-प्रचय-योनि। तद्यथा द्वयणुकपरिमाणमीश्वरापेक्षाबुद्धि- जन्यपरमाणुद्वित्वजनितत्वात् संख्यायोनि, संख्याकारणकमित्यर्थः। त्र्यणुकपरिमाणञ्च स्वाश्रयसमवायिकारणगतबहुत्वसंख्यायोनि। चतुरणुकादि- परिमाणन्तु स्वाश्रयसमवायिकारण-परिमाणजन्यम्। तूलपिण्डपरिमाणन्तु स्वाश्रय-समवायिकारणावयवानां प्रशिथिलसंयोगजन्यम्। परमाणुपरिमाणञ्चाकाशादिगतं नित्यमे।

शब्दार्थ -

चतुर्विधम् = चार प्रकार का, "स्वम् = ह्रस्व, कार्यगतम् = अनित्य द्रव्य में विद्यमान, परिमाणम् = परिमाण, तद्यथा = जैसे कि, बुद्धिजन्य = बुद्धि से उत्पन्न, त्र्यणुकपरिमाणम् = त्र्यणुक और परिमाण, स्वकारणावयवप्रचययोनि = अपने कारण अवयवों के प्रचय से उत्पन्न, प्रशिथिलसंयोगः = अत्यन्त शिथिल संयोग।

गद्यार्थ -

माप के व्यवहार का असाधारण कारण परिमाण कहलाता है। वह चार प्रकार का है- अणु, महद्, दीर्घ और ह्रस्व। कार्यद्रव्यों में विद्यमान परिमाण संख्यायोनि, परिमाणयोनि एवं प्रचययोनि के भेद से तीन प्रकार का है। जैसे कि – 1. द्वयणुक का अणु परिमाण ईश्वर की अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होने वाली परमाणुओं की द्वित्व संख्या से उत्पन्न होने के कारण संख्या से उत्पन्न (संख्यायोनि) माना जाता है। 2. और त्र्यणुक का महत्परिमाण अपने आश्रय (त्र्यणुक) के समवायिकारण (द्वयणुकों) में विद्यमान बहुत्व संख्या से उत्पन्न माना जाता है। 3. चतुरणुक आदि का महत्परिमाण तो अपने आश्रय चतुरणुकादि के समवायिकारण त्र्यणुक के महत् परिमाण से उत्पन्न (परिमाणयोनि) माना जाता है, 4. रुई के गोले का परिमाण तो अपने कारण तूलपिण्ड के अवयवों के प्रचय से उत्पन्न (प्रचययोनि) माना जाता है। परमाणु का अणु परिमाण तथा आकाशादि में विद्यमान परममहत्परिमाण तो नित्य ही है अर्थात् नित्यद्रव्यों में विद्यमान परिमाण नित्य ही होता है।

व्याख्या -

जिससे मापा जाए उसको परिमाण कहते हैं। यह अणु है, यह महत् है इस प्रकार के माप के व्यवहार का असाधारण कारण परिमाण कहलाता है। इसके चार भेद किये गये हैं - अणु, महत्, दीर्घ तथा ह्रस्व। इन चारों में ह्रस्वत्व अणुत्व के साथ तथा दीर्घत्व परिमाण महत् के साथ ही रहते हैं। जहाँ अणुत्व होगा, वहाँ ह्रस्वत्व भी होगा और जहाँ महत् होगा वहाँ दीर्घत्व भी होगा। जो सबसे छोटा परिमाण होता है वह अणु कहलाता है। यह अणु शब्द न्यायवैशेषिक में परमाणु के लिए भी प्रयुक्त है। अणुपरिमाण परमाणु, द्वयणुक तथा मन में रहता है। यह परिमाण संख्या से उत्पन्न होने के कारण संख्यायोनि कहलाता है।

जो परिमाण संख्या से उत्पन्न हो, वह संख्यायोनि है। जैसे द्वयणुक का अणुपरिमाण परमाणु में विद्यमान द्वित्व संख्या से उत्पन्न होता है। दो परमाणुओं में यह एक, यह एक इस प्रकार के एकत्व को ग्रहण करने वाली ईश्वर की अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न है। त्र्यणुक का महत् परिमाण उसी ईश्वर की अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होने वाली द्वयणुक की बहुत्व संख्या से उत्पन्न होता है।

परिमाण से उत्पन्न परिमाण परिमाणयोनि कहलाता है। महत् परिमाण परिमाण-योनि है। यथा चतुरणुक में जो महत् परिमाण है, वह त्र्यणुक के महत् परिमाण से उत्पन्न होता है। हम जानते हैं कि चार त्र्यणुकों से एक चतुरणुक बनता है जो त्र्यणुक से महत् परिमाण वाला है। चतुरणुक का परिमाण अपने समवायिकारण त्र्यणुकादि के महत् परिमाण से जन्य है। इसी तरह घट पट आदि कार्यों का महत् परिमाण अपने-अपने कारण कपाल तन्तु आदि के महत् परिमाण से ही उत्पन्न माना जाता है।

महत् अणु से भिन्न परिमाण है। यह दो प्रकार का है - परिच्छिन्न (सीमित) महत् और अपरिच्छिन्न (असीमित) महत्। इसे परममहत् भी कहते हैं।

त्र्यणुक चतुरणुक घट पट आदि कार्यों का महत्परिमाण परिच्छिन्न माना जाता है। आकाश आदि का परिमाण अपरिच्छिन्न व्यापक, असीमित होने से परममहत् कहलाता है। अणु एवं महत् परिमाण नित्य एवं अनित्य दोनों माने जाते हैं। परमाणुओं का अणु परिमाण तथा आकाशादि विभु द्रव्यों का महत् परिमाण नित्य माना जाता है। इसकी उत्पत्ति एवं नाश नहीं होते हैं। परमाणुओं के अणु परिमाण को परम-अणु तथा आकाशादि के महत् परिमाण को परममहत् भी कहते हैं।

अवयवों का प्रशिथिल संयोग जिसकी उत्पत्ति का कारण है, वह परिमाण प्रचययोनि है। जैसे रुई का गोला। रुई के अवयवों का दृढ़संयोग तूलपिण्ड है। जब उसे धुन दिया जाता है तब अवयवों का दृढ़संयोग अत्यन्त

शिथिल होकर महत्परिमाण वाला हो जाता है। रुई के गोले में जो महत् परिमाण उत्पन्न हुआ, उसका कारण प्रचय अवयवों का संयोग ही है।

प्रश्न - द्वयणुक के अणु परिमाण तथा त्र्यणुक के महत्परिमाण को संख्यायोनि क्यों माना जाता है? समान जातीय उत्कृष्ट परिमाण का जनक होता है, यह नियम है। यथा तन्तुओं से उत्पत्र पट में तन्तुओं के परिमाण से बड़ा परिमाण होता है। वह तन्तु परिमाण से उत्पन्न माना जाता है। इस तरह कारण के परिमाण से जन्य कार्य का परिमाण माना जाता है। यदि कारण का परिमाण महत् होगा तो उससे महत्तर परिमाण कार्य का होगा। यदि कारण का परिमाण अणु है तो कार्य का परिमाण अणुतर होगा। द्वयणुक कार्य के परिमाण का कारण अणु है। वह अणुतर परिमाण ही द्वयणुक में उत्पन्न कर सकता है, किन्तु अणु से छोटा परिमाण होता नहीं है, अतः माना जाता है कि द्वयणुक का अणु परिमाण परमाणुओं के परिमाण से उत्पन्न नहीं होता है, अपितु ईश्वर की अपेक्षा बुद्धि से जन्य परमाणुओं की द्वित्वसंख्या से उत्पन्न होता है। यही बात त्र्यणुक में मानी जाती है। तीन द्वयणुकों से त्र्यणुक बनता है। द्वयणुक का अणु परिमाण अणुतर परिमाण ही उत्पन्न कर सकता है महत् नहीं। अतः द्वयणुकों का परिमाण त्र्यणुक का महत् परिमाण उत्पन्न नहीं कर सकता है। इसलिए द्वयणुकों की बहुत्व संख्या को, जो अपेक्षा बुद्धि से जन्य है, उसे त्र्यणुक के महत्परिमाण का जनक या कारण माना जाता है। संख्यायोनि स्वीकार करने का यही आशय है।

स्वयं आकलन कीजिए –

अभ्यास प्रश्न - 2

1. गुणों के कितने भेद हैं?
2. रूप गुण किसमें रहता है?
3. पृथिवी में रूप गुण का स्वभाव कैसा है?
4. रस गुण के कितने भेद हैं?
5. घ्राण गुण के दो भेद कौन-से हैं?
6. स्पर्श गुण कहाँ-कहाँ रहता है?
7. स्पर्श के तीन भेद कौन-से हैं?
8. संख्या गुण के कितने भेद हैं?
9. माप के व्यवहार के असाधारण कारण को क्या कहते हैं?
10. परिमाण के तीन भेद कौन-से हैं?

14.5 सारांश

इस इकाई में सर्वप्रथम दिक् अर्थात् दिशा पर प्रकाश डाला गया है। काल के विपरीत परत्व और अपरत्व से अनुमान योग्य को दिक् कहा गया है। भिन्न-भिन्न देशों में संयोगरूप उपाधि के कारण इसे पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण आदि संज्ञा से जाना जाता है।

इसके बाद आत्मा की चर्चा की गई है। आत्मत्वजाति के सम्बन्ध वाली आत्मा है, जो प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में भिन्न-भिन्न ही है। उसके पाँच के समान्य गुण तथा नौ विशेष गुण हैं।

आत्मा के बाद मन का उल्लेख है। मनस्त्व जाति के सम्बन्ध वाला मन है। यह आन्तरिक इन्द्रिय है। वही सुख-दुःख आदि के अनुभव का करण (साधन) है। यह आठ गुणों से युक्त है और अणु परिमाण वाला है।

इसके बाद गुणों का वर्णन किया गया है। गुण का लक्षण है – जो सामान्यवान् हो, असमवायिकारण होने वाला हो और कर्म से भिन्न हो। रूप, रस, गन्ध आदि के भेद से गुण चौबीस प्रकार का है। सर्वप्रथम रूप गुण आता है जो नेत्र से ग्राह्य है। गुण के अनेक भेद हैं। गुण नित्य-अनित्य और पाकज-अपाकज स्वरूप वाला होता है.

रसनेन्द्रिय से ग्राह्य होने वाला विशेष गुण रस कहलाता है, जो यह पृथिवी और जल में रहता है। पृथिवी में छह प्रकार का रस होता है। घ्राणेन्द्रिय से ग्राह्य होने वाले गुण को गन्ध कहा जाता है। वह पृथिवी में रहता है तथा सुगन्ध और दुर्गन्ध के भेद दो प्रकार का होता है।

इसके बाद स्पर्श गुण आता है जो त्वक् से अनुमेय है। स्पर्श गुण चार द्रव्यों में रहता है। शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत के भेद से तीन प्रकार का है। स्पर्श गुण के पश्चात् संख्या गुण का लक्षण बताया है। एक, दो, तीन, चार आदि के व्यवहार का कारण संख्या है, जो एक सामान्य गुण है। इसकी प्रतीतिमात्र होती है। संख्या नित्य एवं अनित्य होती है। जिससे किसी वस्तु को मापा जाए उसको परिमाण कहते हैं। यह अणु है, यह महत् है - इस प्रकार के माप के व्यवहार का असाधारण कारण परिमाण कहलाता है।

14.6 कठिन शब्दावली -

विभ्वी = व्यापक, वैचित्र्यात् = भेद होने से, अर्थग्राहकम्= अर्थ का ग्रहण कराने वाला, अनुमानगम्यम् = अनुमान से जानने योग्य, आप्यतैजसपरमाण्वोः= जल और तेज के परमाणुओं में, आप्यतैजसपरमाण्वोः= जल और तेज के परमाणुओं में, अपाकजम् = न पकने वाला, गन्धप्रतिभानम् = गन्ध की प्रतीति, उष्णस्तेजसि = उष्ण तेज में, विज्ञेया = जाननी चाहिये, संख्यापरिमाणप्रचययोनि = संख्या, परिमाण और प्रचय योनि के भेद से, तूलपिण्डपरिमाणम् = रुई के गोले (तूलपिण्ड) का परिमाण।

14.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर -

अभ्यास प्रश्न - 1

1. छः
2. परिशेषानुमान से
4. काल का
4. पाँच
5. परत्व और अपरत्व द्वारा
6. पाँच
7. सूर्यकिरण के संयोग से
8. नौ
9. अणु परिमाण वाला
10. अर्थ का

अभ्यास प्रश्न - 2

1. चौबीस
2. पृथिवी, जल और तेज में
3. अनित्य
4. छः
5. दो - सुगन्ध और दुर्गन्ध
6. पृथ्वी, जल, तेज और वायु
7. शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत
8. दो - नित्य और अनित्य
9. परिमाण
10. संख्यायोनि, परिमाणयोगनि और प्रचययोनि

14.8 सहायक ग्रन्थ

1. तर्कभाषा, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणि, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी-221001, संस्करण-12, 2013.
2. तर्कभाषा, टीकाकार, पण्डित श्रीरुद्रधर झा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-221001, संस्करण-7, 2021.
3. तर्कभाषा, व्याख्याकार डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-221001, संस्करण-2013.
4. तर्कभाषा, व्याख्याकार एवं सम्पादक डॉ. अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर-302001, संस्करण-2021.
5. तर्कभाषा, व्याख्याकार श्रीबदरीनाथशुक्ल, मोतीलाल बनारसी दास, चौक वाराणसी, प्रथम संस्करण-1968.

14.9 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न -

1. आकाश, काल और दिक् द्रव्यों का उदाहरण सहित उल्लेख करें।
2. तर्कभाषा के अनुसार रूप, रस और गन्ध गुणों की उदाहरण सहित विस्तृत व्याख्या करें।
3. केशव मिश्र के अनुसार स्पर्श, संख्या और परिमाण का सोदाहरण चर्चा करें।

इकाई - पन्द्रह

गुण निरूपण

संरचना

15.1 प्रस्तावना
15.2 उद्देश्य
15.3 गुण निरूपण
  15.3.1 पृथकत्व गुण
  15.3.2 संयोग गुण
  15.3.3 विभाग गुण
  15.3.4 परत्व-अपरत्व गुण
  15.3.5 गुरुत्व गुण
  15.3.6 द्रवत्व गुण
  15.3.7 स्नेह गुण
  15.3.8 शब्द गुण
    - स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न
15.4 सारांश
15.5 कठिन शब्दावली
15.6 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर
15.7 सहायक ग्रन्थ
15.8 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न

15.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियो, इस इकाई में गुणों के चौबीस भेदों में से पृथक, संयोग, विभाग, परत्व-अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह और शब्द गुण का लक्षण और उदाहरण सहित वर्णन किया जा रहा है। प्रत्येक पदार्थ का अपना कोई न कोई गुण होता है।

15.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से विद्यार्थियों को निम्नलिखित जानकारी उपलब्ध होगी –

- पृथकत्वगुण,
- संयोगगुण, विभागगुण,
- परत्व-अपरत्व गुण,
- गुरुत्वगुण, द्रवत्वगुण,
- स्नेहगुण और शब्दगुण

15.3 गुण निरूपण

पूर्व इकाई में गुणों के छः रूपों की चर्चा की गई। अब इस इकाई उससे आगे के रूपों का वर्णन किया जा रहा है।

15.3.1 पृथकत्व गुण

पृथकत्वं पृथग्व्यवहारासाधारणं कारणम्। तच्च द्विविधम् एकपृथकत्वं द्विपृथकत्वादिकञ्च। तत्रद्यं नित्यगतं नित्यम्, अनित्यगतमनित्यम्। द्विपृथकत्वादिकञ्चानित्यमेव।

शब्दार्थ -

पृथकत्वम् = पृथकत्व (अलग) कहलाता है, नित्यगतम् = नित्य में विद्यमान, अनित्यमेव = अनित्य ही।

गद्यार्थ -

यह इस से पृथक् है, इस प्रकार के व्यवहार का असाधारण कारण पृथकत्व कहलाता है। वह दो प्रकार का है- एक पृथकत्व और द्विपृथकत्व आदि। उनमें प्रथम एक पृथकत्व नित्य द्रव्यों में रहता हुआ नित्य होता है और अनित्य द्रव्यों में रहता हुआ अनित्य होता है। द्विपृथकत्व आदि तो सर्वत्र अनित्य ही होता है।

व्याख्या -

सभी द्रव्यों में रहने वाला सामान्य गुण पृथकत्व है। यह पृथक् व्यवहार का असाधारण कारण है। जैसे यह वस्त्र उस वस्त्र से पृथक् है, यह घट उस घट से पृथक् है, इत्यादि में जो भिन्नता का व्यवहार होता है, वह पृथकत्व गुण के कारण होता है।

प्रश्न होता है कि अन्योऽन्याभाव के आधार पर पृथकत्व की प्रतीति हो सकती है, फिर पृथकत्व को अलग क्यों माने।

समाधान बताया जा रहा है कि अन्योऽन्याभाव तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता का अभाव है। यथा - घटो नः पटः। घट में पट के तादात्म्य का अभाव है। यह अभावात्मक प्रतीति है।

किन्तु पृथकत्व की प्रतीति भावात्मक होती है। अतः पृथकत्व को गुण के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है। पृथकत्व दो वस्तुओं या अधिक वस्तुओं में प्रतीति का कारण जब होगा तब अनित्य होगा। उसे द्विपृथकत्व कहेंगे। एक अनित्य द्रव्य में भी एक पृथकत्व अनित्य होता है।

किन्तु नित्य द्रव्य में एक पृथकत्व नित्य होगा। जैसे जलीय परमाणु से पार्थिव परमाणु पृथक् है। इस व्यवहार में परमाणुगत एक पृथकत्व नित्य है।

15..3.2 संयोग गुण

संयोगः संयुक्तव्यवहारहेतुर्गुणः। स च द्वयाश्रयोऽव्याप्यवृत्तिश्च। स च त्रिविध। अन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजः, संयोगजश्चेति। तत्रन्यतरकर्मजो यथा क्रियावता श्येनेन सह निष्क्रियस्य स्थाणोः संयोगः। अस्य हि श्येनक्रिया असमवायिकारणम्। उभयकर्मजो यथा सक्रिययोर्मल्लयोः संयोगः। संयोगजो यथा कारणाकारणसंयोगात् कार्याकार्यसंयोगः। यथा हस्ततरुसंयोगेन कायतरुसंयोगः।

शब्दार्थ -

अव्याप्यवृत्तिः = व्याप्त होकर नहीं रहना, उभयकर्मजः = दोनों की क्रिया से उत्पन्न संयोग, क्रियावता = क्रियायुक्त, श्येनेन सह = बाज के साथ, स्थाणोः = ठूंठ का, हस्ततरुसंयोगेन = हाथ और वृक्ष के संयोग से।

गद्यार्थ -

यह इससे संयुक्त है, इस प्रकार के व्यवहार का हेतु संयोग नामक गुण है। वह दो द्रव्यों में आश्रित रहता है (सम्पूर्ण में) व्याप्त होकर नहीं रहता है और वह संयोग तीन प्रकार का है - अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज और संयोगज। उनमें अन्यतरकर्मज का उदाहरण है - क्रियावान् श्येन के साथ स्थाणु का संयोग। इस संयोग का

असमवायिकारण श्येन की क्रिया है। उभयकर्मज का उदाहरण - सक्रिय दो मल्लों का संयोग। संयोगज का उदाहरण - कारण और अकारण के संयोग से कार्य और अकार्य का संयोग। यथा - हाथ और तरु के संयोग से शरीर और तरु का संयोग।

व्याख्या -

यह इससे मिला है। इस प्रकार के व्यवहारण का कारण संयोग नामक गुण होता है। संयोग द्व्याश्रय एवं अव्याप्यवृत्ति है। द्व्याश्रय से अभिप्राय है जहाँ संयोग का आश्रय दो द्रव्य होते हैं। संयोग दोनों में समवायसम्बन्ध से रहते हैं। अतः संयोग का समवायिकारण दोनों द्रव्य हैं। जैसे पुस्तक और मेज का संयोग। संयोग पुस्तक एवं मेज दोनों में आश्रित है। इस संयोग के समवायिकारण भी दोनों हैं।

अव्याप्यवृत्ति से अभिप्राय है जहाँ यह संयोग दोनों द्रव्यों में सम्पूर्णतः व्याप्त नहीं है, अपितु दोनों के एकदेश में ही है। अतः संयोग को अव्याप्यवृत्ति कहा है। व्याप्त होकर न रहने वाला अव्याप्यवृत्ति कहलाता है। सार यह है कि संयोग दो द्रव्यों के एक भाग में ही होता है, सम्पूर्ण में नहीं। संयोग के तीन भेद हैं - अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज, संयोगज।

अन्यतरकर्मज - एक सक्रिय द्रव्य की क्रिया से निष्क्रिय के साथ होने वाला संयोग अन्यतरकर्मज कहलाता है। अन्यतर कर्मज क्रिया से उत्पन्न। यह शाब्दिक अर्थ है। जैसे सक्रिय श्येन (बाज) की क्रिया से उसका स्थाणु के साथ जो संयोग हुआ वह अन्यतर (बाज की) क्रिया से हुआ। इसमें श्येन की क्रिया असमवायिकारण होती है।

उभयकर्मज - दोनों द्रव्यों की क्रिया से उत्पन्न संयोग उभयकर्मज है। दो मल्लों का जो संयोग है, वह दोनों की क्रिया से उत्पन्न है। दोनों की क्रिया इसमें असमवायिकारण है। दोनों मल्ल समवायिकारण हैं।

संयोगज - संयोग से उत्पन्न संयोग संयोगज कहलाता है। इसमें कारण और अकारण के संयोग से कार्य एवं अकार्य में संयोग माना जाता है। उदाहरण के लिए हाथ एवं तरु के संयोग से शरीर एवं तरु का संयोग होना। इसमें हाथ शरीर के प्रति संयोग में कारण है तथा तरु शरीर के प्रति कारण नहीं है। इन कारण और अकारण के संयोग से शरीर एवं तरु का संयोग माना गया है। यहाँ पर शरीर हाथ आदि अवयव का कार्य है तथा तरु हाथ आदि का कार्य नहीं है। फिर भी कार्यशरीर और अकार्य तरु का संयोग माना जाता है। यही संयोगज संयोग है। न्याय-वैशेषिक में संयोग जन्य गुण है। यह अनित्य ही है। अत एव नित्य द्रव्य आत्मा का विभु द्रव्य आकाश के साथ संयोग नहीं माना जाता है। अथवा आत्माओं का संयोग नहीं माना जाता है।

15.3.3 विभाग गुण

विभागोऽपि विभक्तप्रत्ययहेतुः। संयोगपूर्वको द्व्याश्रयः। स च त्रिविधोऽन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजो विभागजश्चेति। तत्र प्रथमो यथा श्येनक्रियया शैलश्येनयोर्विभागः। द्वितीयो यथा मल्लयोर्भागः। तृतीयो यथा हस्ततरुविभागात् कायतरुविभागः।

द्वित्वे च पाकजोपत्तौ विभागे च विभागजे।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः।।

शब्दार्थ -

विभक्तप्रत्ययहेतुः = विभक्त प्रतीति का कारण, द्व्याश्रयः = दो में आश्रित, शैलश्येनयोर्विभागः = पर्वत और श्येन का विभाग, हस्ततरुविभागात् = हाथ और वृक्ष के विभाग से, कायतरुविभागः = शरीर और वृक्ष का विभाग।

गद्यार्थ -

यह द्रव्य इससे विभक्त है, इस प्रकार की विभक्त प्रतीति का कारण विभाग नामक गुण है। यह संयोगपूर्वक तथा दो द्रव्यों में आश्रित होता है। विभाग तीन प्रकार का है - अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज तथा विभागज। उनमें पहले का उदाहरण श्येन की क्रिया से पर्वत और श्येन का विभाग है। द्वितीय का उदाहरण - दो मल्लों का (अपनी क्रिया से) विभाग है। तृतीय का उदाहरण - हाथ और वृक्ष के विभाग से शरीर और वृक्ष का विभाग है। कहा गया है कि द्वित्व की उत्पत्ति पाकज उत्पत्ति और विभाग से उत्पन्न विभाग में जिस व्यक्ति की बुद्धि स्खलित नहीं हुई उसे विद्वान् जन वैशेषिक दर्शन का ज्ञाता मानते हैं।

व्याख्या -

विभाग भी एक गुण है। यह इससे विभक्त है, इस प्रतीति का असाधारण कारण विभाग है। यह दो द्रव्यों में साथ रहता है। इसका आश्रय दोनों द्रव्य होते हैं। अतः इसे द्वयाश्रय कहा है। यह विभाग संयोगपूर्वक ही होता है अर्थात् दो द्रव्यों में पहले संयोग होता है, उसके बाद विभाग होता है। संयुक्त द्रव्यों में ही विभक्त की प्रतीति होती है।

कभी-कभी असंयुक्त दो द्रव्यों में भी संयोगाभाव के कारण विभाग का व्यवहार किया जाता है। किन्तु विभाग संयोगाभाव नहीं है। विभाग एक स्वतन्त्र एवं भावरूप गुण है। विभाग के तीन भेद हैं – 1. अन्यतरकर्मज - दो द्रव्यों में से किसी एक की क्रिया से विभाग जब उत्पन्न होता है तब उसे अन्यतरकर्मज विभाग कहते हैं। जैसे पर्वत पर बैठा श्येन जब उड़ जाता है तब श्येन की क्रिया से पर्वत और श्येन का जो विभाग प्रतीत होता है वह अन्यतरकर्मज हुआ। इससे दोनों के पूर्व संयोग का नाश भी होता है। 2. उभयकर्मज - दोनों की क्रिया (कर्म) से उत्पन्न विभाग है। उदाहरणार्थ सक्रिय एवं गुंधे हुए दो मल्ल जब विभक्त होते हैं, तब दोनों में विभाग रहता है। यह विभाग दोनों मल्लों की क्रिया से उत्पन्न होता है। इससे दोनों के संयोग का नाश भी होता है। 3. विभागज विभाग - विभाग से उत्पन्न विभाग विभागज विभाग कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है - कारणमात्र विभागज विभाग और कारणाकारण विभागज विभाग।

1.. कारणमात्र के विभाग से होने वाले विभाग का उदाहरण है - घट के दो कपालों में से एक की क्रिया से दोनों कपालों का विभाग होना। इस विभाग से दोनों कपालों के संयोग का नाश होता है तथा घट का नाश भी हो जाता है। इस कपालद्वय के विभाग से कपाल का आकाश देश से विभाग होता है, जिससे वह पहले संयुक्त था। यह कारण (कपाल) तथा आकाश (अकारण) का विभाग विभागज विभाग है। इस कारणमात्र के विभाग से कपाल तथा आकाश देश का संयोग भी नष्ट हो जाता है।

2. कारण तथा अकारण के विभाग से होने वाले विभाग का उदाहरण है - हाथ तथा वृक्ष के विभाग से शरीर-वृक्ष का विभाग। वृक्ष से संयुक्त हाथ को हटाने पर हाथ तथा वृक्ष का विभाग हो जाता है। इस हस्त-तरु विभाग से काय तरु विभाग (शरीर-वृक्ष का विभाग) हो जाता है। यहाँ पर हस्त शरीर का कारण अवयव है, वृक्ष उसका कारण नहीं है (अकारण है)। उन दोनों हाथ-तरु विभाग से शरीर कार्य तथा वृक्ष (अकार्य) का भी विभाग हो जाता है। इस कारणाकारण विभागज विभाग से शरीर एवं वृक्ष का संयोग नष्ट हो जाता है। विभागज विभाग वैशेषिक सम्प्रदाय में महत्त्वपूर्ण विषय है। अतः द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ -- यह कारिका मूल में दी गई है। इस कारिका के मूल रचयिता अन्वेष्टव्य है।

15.3.4 परत्व-अपरत्व गुण

परत्वापरत्वे परापरव्यवहारासाधारणकारणे। ते तु द्विविधे दिक्कृते कालकृते च। तत्र दिक्कृतयोरुत्पत्तिः कथ्यते। एकस्यां दिश्यवस्थितयोः पिण्डयोरिदमस्मात् सन्निकृष्टमिति बुद्धयानुगृहीतेन दिक्पिण्डसंयोगेनापरत्वं

सन्निकृष्टे जन्यते। विप्रकृष्टबुद्धया तु परत्वं विप्रकृष्टे जन्यते। सन्निकर्षस्तु पिण्डस्य द्रष्टुः शरीरापेक्षया संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्वम्। तद्भूयस्त्वं विप्रकर्ष इति।

कालकृतयोस्तु परत्वापरत्वयोरुत्पत्तिः कथ्यते। अनियतदिगवस्थितयोर्युवस्थविरपिण्डयोः 'अयमस्मादल्पतरकालसम्बद्धः' इत्यपेक्षाबुद्धयानुगृहीतेन कालपिण्डसंयोगेनासमवायिकारणेन यूनि, अपरत्वम्। 'अयमस्माद् बहुतरकालेन सम्बद्धः' इति धिया स्थविरे परत्वम् ।

शब्दार्थ -

द्विविधे = दोनों में, अवस्थितयोः = स्थित, सन्निकृष्टम् = समीप, दिक्पिण्डसंयोगेन = दिशा और पिण्ड के संयोग द्वारा, जन्यते = उत्पन्न होने में, जन्यते = उत्पन्न होता है, द्रष्टुः = देखने वाले, पिण्डस्य = पिण्ड का, अयमस्माद् = यह इसकी, बहुतरकालेन = अधिक काल से।

गद्यार्थ -

यह 'पर' है यह 'अपर' है, इस प्रकार के 'पर' एवं 'अपर' व्यवहार के असाधारण कारण परत्व एवं अपरत्व नामक गुण हैं। ये परत्वापरत्व दिक्कृत एवं कालकृत भेद से दो प्रकार के हैं। उनमें दिक्कृत, परत्व तथा अपरत्व की उत्पत्ति कहते हैं। एक ही दिशा में स्थित दो पिण्डों में यह इससे समीप है, इस बुद्धि से युक्त दिशा और पिण्ड के संयोग से समीपस्थ शरीर में अपरत्व उत्पन्न होता है और यह इससे दूर है, इस बुद्धि से युक्त दिशा और पिण्ड के संयोग से दूरस्थ शरीर में परत्व उत्पन्न होता है। सन्निकर्ष (सामीप्य) का अर्थ - 'देखने वाले के शरीर की अपेक्षा पिण्ड से संयुक्त दिक् के संयोग की न्यूनता' है और 'देखने वाले के शरीर की अपेक्षा पिण्ड से संयुक्त दिक् के संयोग की अधिकता' विप्रकर्ष का अर्थ है।

कालकृत परत्व और अपरत्व की उत्पत्ति बताई जाती है। अनिश्चित दिशा में स्थित युवा और वृद्ध के शरीरों (पिण्डों) में यह युवा शरीर इस वृद्ध शरीर की अपेक्षा न्यून काल का सम्बन्ध वाला है, इस अपेक्षा बुद्धि से युक्त काल और शरीर के संयोग रूप असमवायिकारण से युवक शरीर में अपरत्व उत्पन्न होता है तथा वृद्ध शरीर इस युवक शरीर की अपेक्षा अधिक काल से सम्बन्ध वाला है, इस अपेक्षाबुद्धि से वृद्ध शरीर (स्थविर) में परत्व उत्पन्न होता है।

व्याख्या -

परत्व और अपरत्व नामक गुण पर ज्येष्ठ और अपर कनिष्ठ या पर दूर, अपर के व्यवहार का असाधारण कारण है। इसकी उत्पत्ति दिशा एवं काल से होती है। अतः परत्व अपरत्व दिक्कृत तथा कालकृत भेद से दो प्रकार के माने जाते हैं।

दिक्कृत परत्वापरत्व - एक नियत दिशा में स्थित दो द्रव्यों में ही दिक्कृत परत्वापरत्व उत्पन्न होते हैं। इसमें पर का अर्थ दूर तथा अपर का अर्थ समीप होता है। इसमें अपेक्षा बुद्धि के संयोग से दिशा और द्रव्य के परस्पर संयोग से समीपस्थ द्रव्य में अपरत्व उत्पन्न होता है तथा यह इससे समीप है यह ज्ञान होता है।

कालकृत परत्वापरत्व - अनियत दिशा में स्थित दो पिण्डों में यह इससे परकाल से सम्बद्ध है। इस अपेक्षाबुद्धि या प्रतीति से युवा की अपेक्षा वृद्ध शरीर में परत्व की उत्पत्ति होती है, तथा वृद्ध शरीर की अपेक्षा युवा शरीर में अपरत्व की उत्पत्ति होती है। इसे ज्येष्ठ या कनिष्ठ भी कहा जा सकता है।

इदमस्मात् सन्निकृष्टम् या इदमस्मात् विप्रकृष्टम् या ज्येष्ठः कनिष्ठः इस प्रकार की अपेक्षाबुद्धि परत्वापरत्व की उत्पत्ति में निमित्त कारण बनती है। दिक् पिण्ड संयोग, या काल-पिण्ड संयोग असमवायिकारण बनते हैं तथा जिस द्रव्य या वस्तु में परत्त्व एवं अपरत्व उत्पन्न होते हैं, वह समवायिकारण बनता है।

परत्वापरत्व का विनाश अपेक्षाबुद्धि, संयोग तथा द्रव्य इन कारणों में से एक दो या सभी के विनाश से होता है।

15.3.5 गुरुत्व गुण

गुरुत्वमाद्यपतनासमवायिकारणम्। पृथिवीजलवृत्ति। यथोक्तं-संयोग-वेग-प्रयत्नाभावे सति गुरुत्वात् पतनमिति।

15.3.6 द्रवत्व गुण

द्रवत्वमाद्यस्यन्दनासमवायिकारणम्। भूतेजोजलवृत्ति। भूतेजसोर्घृतादिसुवर्ण-योरग्निसंयोगेन द्रवत्वं नैमित्तिकम्। जले नैसर्गिकं द्रवत्वम् ।

15.3.7 स्नेह गुण

स्नेहश्चिक्कणता। जलमात्रवृत्तिः, कारणगुणपूर्वको गुरुत्वादिवद् यावद्द्रव्यभावी।

शब्दार्थ

आद्य = प्रथम, संयोगवेगप्रयत्नाभावे सति = संयोग वेग और प्रयत्न के अभाव के रहने पर, स्यन्दनासमवायिकारणम् = स्यन्दन (रिसने) का असमवायिकारण, अग्निसंयोगेन = अग्नि के संयोग से। चिक्कणता = चिकनाई, कारणगुणपूर्वकः = कारण गुण, गुरुत्वादिवद् = गुरुत्व आदि के समान,

गद्यार्थ -

प्रथम पतन का असमवायिकारण गुरुत्त्व नामक द्रव्य है। यह पृथिवी और जल में रहता है। जैसा कि कहा गया है संयोग, वेग तथा प्रयत्न का अभाव होने पर गुरुत्व के कारण पतन होता है।

प्रथम स्यन्दन (बहाव) का असमवायिकारण द्रवत्व नामक गुण है। यह पृथिवी, तेज और जल में रहता है। घृत आदि पार्थिव द्रव्य तथा सुवर्ण आदि तैजस द्रव्य में अग्नि संयोग के निमित्त से उत्पन्न होने वाला द्रवत्व नैमित्तक कहलाता है। जल में स्वाभाविक द्रवत्व नामक रहता है।

चिकणता (चिकनापन) को स्नेह नामक गुण कहते हैं। यह जलमात्र में रहने वाला गुण है, यह कार्य में कारण के गुणों से उत्पन्न होता है। गुरुत्वादि के समान स्नेह भी जब तक द्रव्य रहता है तब तक रहता है।

व्याख्या -

आद्य पतन का असमवायिकारण गुरुत्व है। गुरुत्व का अर्थ है 'भारीपन'। पतन का अर्थ है- अधोमुख गमन। गुरुत्व के लक्षण में आद्य पद विशेष प्रयोजन से दिया गया है। वस्तुतः वृक्ष से गिरने वाले फल में पतन के दो भाग हैं – 1. आद्यपतन और 2. उसके बाद का अग्रिम पतन। इन दोनों पतनों के कारण भिन्न हैं। वैशेषिकों का सिद्धान्त है कि गुरुत्व नामक धर्मविशेष (गुण) से द्रव्य का प्रथम पतन होता है। यह गुरुत्व गुण प्रथम पतन का असमवायिकारण है। यथा वृक्ष से टूटकर पृथिवी पर पहुँचने तक गिरने वाले फल में अनेक पतन क्रियायें होतीं हैं। आद्यपतन का असमवायिकारण गुरुत्व है। बाद की पतन श्क्रियाओं का असमवायिकारण वेग है, क्योंकि प्रथम पतनक्रिया से फल में वेग उत्पन्न होता है और वह वेग बाद की पतनक्रियाओं का असमवायिकारण है। गुरुत्व के

लक्षण में यदि आद्य पद न रखा जाये तब बाद की पतनक्रिया के असमवायिकारण 'वेग' में गुरुत्व का लक्षण अतिव्याप्त हो जायेगा। आद्य पद के रखने से यह दोष नहीं होता है।

गुरुत्व के कारण किसी द्रव्य का पतन तभी होगा जब संयोग वेग और प्रयत्न का - अभाव होगा। अतः सूत्रकार ने कहा है कि 'संयोगवेगप्रयत्नाभावे सति गुरुत्वात् पतनमिति।' आशय यह है कि पतन के प्रतिबन्धक संयोग वेग और प्रयत्न हैं। यथा फल का वृक्ष से पतन में प्रतिबन्धक वृक्ष और फल का संयोग है। बाण का वेग बाण के पतन में प्रतिबन्धक है तथा आकाश में उड़ते पक्षी के शरीर के नहीं गिरने में उनका प्रयत्न प्रतिबन्धक है।

गुरुत्व का प्रत्यक्ष नहीं होता है। किन्तु तुलादण्ड के उठने या गिरने से गुरुत्व का अनुमान होता है। कुछ विद्वान् त्वगिन्द्रिय द्वारा गुरुत्व के प्रत्यक्ष को स्वीकार करते हैं। परन्तु यह पक्ष दुर्बल है।

वस्तु का बहकर जाना ही द्रवत्व है। प्रथम बहाव का असमवायिकारण द्रवत्व है। प्रथम बहाव (स्यन्दन) से अन्य बहाव भी होते हैं, जिनमें वेग असमवायिकारण है। वेग में अतिव्याप्ति को रोकने हेतु लक्षण में आद्य-पद दिया गया है।

यह द्रवत्व पृथिवी, तेज और जल में रहता है। जल में स्वाभाविक द्रवत्व है। पृथिवी और तेज में नैमित्तिक द्रवत्व है अर्थात् अग्निसंयोग के निमित्त से उत्पन्न होता है।

स्नेह चिकनाई को कहते हैं। यह जल का विशेष गुण है। जब तक द्रव्य रहता है तब तक यह स्नेह भी रहता है। कारण में रहने वाले स्नेह गुण से कार्य में स्नेह गुण उत्पन्न होता है। जलीय परमाणु में स्नेह नित्य है तथा अन्य जल में यह अनित्य है।

15.3.8 शब्द गुण

शब्दः श्रोत्रग्राह्यो गुणः। आकाशस्य विशेषगुणः। ननु कथमस्य श्रोत्रेण ग्रहणं यतो भेर्यादिदेशे शब्दो जायते श्रोत्रन्तु पुरुषदेशेऽस्ति?

सत्यम्। भेरीदेशे जातः शब्दो वीचीतरंगन्यायेन कदम्बमुकुलन्यायेन वा सन्निहितं शब्दान्तरमारभते। स च शब्दः शब्दान्तरमिति क्रमेण श्रोत्रदेशे जातोऽन्त्यः शब्दः श्रोत्रेण गृह्यते, न त्वाद्यो नापि मध्यमः। एवं वंशे पाट्यमाने दलद्वयविभागदेशे जातः शब्दः शब्दान्तरारम्भक्रमेण श्रोत्रदेशेऽन्त्यं शब्दं जनयति। सोऽन्त्यः शब्दः श्रोत्रेण गृह्यते, नाद्यो न मध्यमः। 'भेरीशब्दो मया श्रुत' इति मतिस्तु भ्रान्तैव। भेरीशब्दोत्पत्तौ भेर्याकाशसंयोगोऽसमवायिकारणं, भेरीदण्डसंयोगोनिमित्तकरणम्।

शब्दार्थ -

भेर्यादिदेशे = भेरी (नगाड़े) आदि के देश में, श्रोत्रन्तु = कान तो, पुरुषदेशे = पुरुष के (श्रोता के) देश में, कदम्बमुकुलन्यायेन = कदम्ब की कली के न्याय से, आरभते = उत्पन्न करता है, श्रोत्रदेशे = कर्णदेश में, वंशे पाट्यमाने = बाँस के फाड़े जाने पर, शब्दान्तरारम्भक्रमेण = शब्द को उत्पन्न करने के क्रम से, भेरीशब्दः = नगाड़े का शब्द, मतिः = बुद्धि।

गद्यार्थ -

श्रोत्र द्वारा ग्रहण किया जाने वाला शब्द एक गुण है। यह आकाश द्रव्य का विशेष गुण है। (प्रश्न है) इस शब्द का श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण कैसे होता है? क्योंकि नगाड़े के प्रदेश में शब्द उत्पन्न होता है और श्रोत्रेन्द्रिय तो पुरुष के प्रदेश में होता है।

बताते हैं। नगाड़े के प्रदेश में उत्पन्न हुआ शब्द वीचीतरंगन्याय से अथवा कदम्बमुकुलन्याय से समीप में स्थित अन्य शब्द को उत्पन्न करता है और वह शब्द एक अन्य शब्द को उत्पन्न करता है। इस क्रम से श्रोत्र देश में

उत्पन्न अन्तिम शब्द श्रोत्र द्वारा ग्रहण किया जाता है, पहला और मध्यम शब्द ग्रहण नहीं किया जाता है। इसी तरह बाँस के फाड़े जाने पर बाँस के दोनों दलों के विभाग प्रदेश में उत्पन्न शब्द अन्य शब्द को उत्पन्न करते हुए के क्रम से श्रोत्र प्रदेश में अन्तिम शब्द को उत्पन्न करता है। वह अन्तिम शब्द श्रोत्र से गृहीत होता है, न कि पहला या मध्य का शब्द। 'नगाड़े का शब्द मैंने सुना' यह बुद्धि तो भ्रान्ति मात्र ही है। भेरी शब्द की उत्पत्ति में भेरी और आकाश का संयोग असमवायि कारण है तथा भेरी-दण्ड का संयोग निमित्त कारण है।

व्याख्या -

श्रोत्रेन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने वाला गुण शब्द है। यह आकाश का विशेष गुण है। इसी विशेष गुण के आधार पर आकाश की सिद्धि भी होती है। प्रश्न उठता है कि नगाड़े का शब्द नगाड़े के पास है और उसको ग्रहण करने वाली कर्णेन्द्रिय पुरुष के पास है। दोनों में दूरी है। अतः श्रोत्रेन्द्रिय एवं शब्द (अर्थ) का सन्निकर्ष नहीं हो सकता है। तब श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का प्रत्यक्ष कैसे होगा?

अब यहाँ पर उत्तर दिया जा रहा है कि भेरी से उत्पन्न शब्द दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है, दूसरा शब्द तीसरे को एवं तीसरा चौथे को उत्पन्न करता जाता है। इस क्रम से उत्पन्न होता हुआ शब्द जब श्रोता के श्रोत्र प्रदेश में उत्पन्न होता है तब उस शब्द का श्रोत्रेन्द्रिय से सन्निकर्ष हो जाने के कारण समवाय सम्बन्ध से श्रोत्र शब्द को ग्रहण कर लेता है। इस अन्तिम शब्द को श्रोत्र ग्रहण करता है, प्रथम या मध्य में उत्पन्न होने वाले शब्द को ग्रहण नहीं करता है।

वीचीतरंगन्याय शब्द से जो शब्द उत्पन्न होता है, उसे वीचीतरंगन्याय से बताते हैं। वीची का अर्थ है - लहर, एवं तरङ्ग का अर्थ है - गति। पानी में पत्थर या ढेला फेंकने पर अभिघात होता है, उससे लहर उत्पन्न होती है। वह लहर चारों ओर अपनी गति से दूसरी लहर को दूसरी, तीसरी को तीसरी अन्य लहरों को उत्पन्न करती जाती है। अन्तिम लहर किनारे पर जाकर रुक जाती है। इसी तरह नगाड़े और दण्ड के संयोग से या बाँस के फाड़ने से जो शब्द उत्पन्न होता है वह दूसरे शब्द को, दूसरा तीसरे को क्रम से उत्पन्न करता जाता है। इसी क्रम से कर्णप्रदेश में जो शब्द उत्पन्न होता है, वह श्रोता द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है।

कदम्बमुकुलन्याय - कदम्ब की कली जिस तरह विकसित होती है, उसी तरह शब्द विकसित होते हुए कर्णप्रदेश तक पहुँचता है, अर्थात् कदम्ब की कली जब विकसित होने लगती है तब उसके चारों ओर छोटी-छोटी अनेकों पंखुरियाँ वृत्ताकार में विकसित होती हैं। पुनः उन पंखुरियों के विकास से अग्रिम पंक्ति की पंखुरियाँ विकसित होती हैं। इसी तरह प्रथम शब्द से चारों ओर पृथक्-पृथक् अनेक शब्दों की पंक्ति उत्पन्न होती है। इस पंक्ति के शब्दों से आगे-आगे के शब्दों की पंक्तियाँ उत्पन्न होती जाती हैं। इस तरह कदम्बमुकुलन्याय से उत्पन्न अन्तिम शब्द पंक्ति का शब्द श्रोत्र द्वारा सुना जाता है।

'भेरीशब्दो मया श्रुतः' अर्थात् भेरी प्रदेश में उत्पन्न शब्द मैंने सुना, यह बुद्धि भ्रान्तिमात्र है। क्योंकि उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि शब्दज शब्दन्याय से श्रोत्र देश में उत्पन्न शब्द ही श्रोत्र द्वारा गृहीत होता है।

एवं वंशोत्पाटनाच्चटचटाशब्दोत्पत्तौ वंशदलाकाशविभागोऽसमवायिकारणं, दलद्वय- विभागो निमित्तकारणम्। इत्थमाद्यः शब्दः संयोगजो विभागजो वा। अन्त्यमध्यमशब्दास्तु शब्दासमवायिकारणका अनुकूलवातनिमित्तकारणकाः। यथोक्तम् - 'संयोगाद् विभागाच्छब्दाच्च शब्दनिष्पत्ति' इति। आद्यादीनां सर्वशब्दानामाकाशमेकमेव समवायिकारणम्। कर्मबुद्धिवत् त्रिक्षणावस्थायित्वम्। तत्राद्यमध्यमशब्दाः कार्यशब्दनाश्याः। अन्त्यस्तूपान्त्येन उपान्तस्त्वन्त्येन सुन्दोपसुन्दन्यायेन विनश्येते। इदं त्वयुक्तम्। उपान्त्येन

त्रिक्षणावस्थायिनोऽन्त्यस्य, द्वितीयक्षण- मात्रनुगामिना तृतीयक्षणे चासताऽन्त्यनाशजननासम्भवात्। तस्मादुपान्त्यनाशादेवान्त्यनाश इति।

शब्दार्थ -

भेर्याकाशसंयोगः = भेरी और आकाश का संयोग, इत्यधिकः = यह अधिक, चटचटाशब्दोत्पत्तौ = चट चट शब्द की उत्पत्ति में, संयोगजः = संयोग से, अनुकूलवातनिमित्तकारणकाः = अनुकूल वायुरूपी निमित्तकारण वाले, कर्मबुद्धिवत् = कर्म और बुद्धि के समान, कार्यशब्दनाश्याः = कार्य शब्द के द्वारा नाश को, उपान्त्येन = अन्तिम से पूर्व में उत्पन्न द्वारा, उपान्त्यस्तु = अन्तिम से पूर्व शब्द, सुन्दोपसुन्दन्यायेन = सुन्दोपसुन्द न्याय से, त्रिक्षणावस्थायिनः = तीन क्षण तक रहने वाले।

गद्यार्थ -

भेरी के शब्द की उत्पत्ति में भेरी और आकाश का संयोग असमवायिकारण है, भेरी और दण्ड का संयोग निमित्त कारण है। इसी प्रकार बाँस के फाड़ने से 'चट चट' शब्द की उत्पत्ति में बांस के टुकड़े एवं आकाश का विभाग असमवायिकारण होता है, दोनों टुकड़ों का विभाग निमित्तकारण होता है। इस तरह प्रथम शब्द संयोग से उत्पन्न या विभाग से उत्पन्न माना जाता है। अन्तिम और मध्यम शब्द तो शब्दरूप असमवायिकारण से उत्पन्न और अनुकूल वायुरूप निमित्तकारण से उत्पन्न माने जाते हैं। जैसा कि सूत्रकार ने कहा है संयोग से, विभाग से और शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है। प्रथमादि सभी शब्दों का आकाश ही समवायिकारण होता है। कर्म और बुद्धि के समान शब्द तीन क्षण तक विद्यमान रहता है। उनमें प्रथम एवं मध्यम शब्द अपने कार्य द्वारा नाश को प्राप्त होते हैं।

(कुछ का मत है कि) अन्त्य शब्द उपान्त्य शब्द (अन्तिम से पूर्व) के द्वारा एवं उपान्त्य शब्द अन्त्य शब्द के द्वारा सुन्दोपसुन्दन्याय से नाश को प्राप्त होते हैं। किन्तु यह कथन युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि तीन क्षण तक रहने वाले, केवल द्वितीय क्षण तक अन्तिम शब्द का अनुसरण करने वाले और तृतीय क्षण में विद्यमान न रहने वाले उपान्त्य शब्द के द्वारा नाश किया जाना सम्भव नहीं है। अतः उपान्त्यशब्द के नाश से ही अन्तिम शब्द का नाश होता है (यह मानना चाहिये)।

व्याख्या -

भेरीशब्दोत्पत्ती -- इत्यादि अनुच्छेद में शब्द की उत्पत्ति में समवायि, असमवायि एवं निमित्तकारण का उल्लेख किया गया है। भेरी के शब्द की उत्पत्ति में भेरी और आकाश का संयोग असमवायिकारण है और भेरी-दण्डसंयोग निमित्त कारण है। इसी तरह बांस के फाड़ने पर विभाग से शब्द उत्पन्न होता है। इसमें बांस के टुकड़े एवं आकाश का विभाग असमवायिकारण होता है और दोनों दलों का विभाग निमित्त कारण होता है। इस तरह संयोग और विभाग द्वारा शब्द की उत्पत्ति होती है।

भेरी आदि के स्थान से श्रोत्र देश तक शब्दधारा के प्रवाह में प्रथम, मध्यम एवं अन्तिम ये तीन शब्द होते हैं। प्रथम शब्द संयोग या विभाग से उत्पन्न होता है। परन्तु अन्तिम और मध्यमशब्द शब्द से उत्पन्न होते हैं। अतः उन्हें 'शब्दासमवायिकारणका' और 'अनुकूलवातनिमित्तका' कहा है।

इस तरह शब्द संयोग से, विभाग से और शब्द से उत्पन्न होता है। प्रथम, मध्यम एवं अन्तिम तीनों शब्दगुणों का समवायिकारण आकाश ही होता है। प्रथम शब्द भेरी-दण्ड संयोग या वंशदल विभाग से उत्पन्न होता है। प्रथम शब्द से उत्पन्न मध्यम शब्द है और मध्यम से उत्पन्न अन्तिम शब्द श्रोत्र में उत्पन्न होकर श्रोत्र

द्वारा गृहीत हो जाता है। प्रत्येक शब्द त्रिक्षणावस्थायी (तीन क्षण तक रहने वाला) है। प्रथम क्षण में उत्पत्ति, द्वितीय में स्थिति एवं तृतीय क्षण में नाश।

शब्दगुण का नाश दो प्रकार से होता है - आश्रय के नाश से और विरोधी गुणों की उत्पत्ति से। चूँकि शब्द का आश्रय आकाश द्रव्य नित्य है, उसका नाश नहीं होता। अतः विरोधी गुणों की उत्पत्ति से ही शब्द का नाश माना जाता है। जैसे आद्य शब्द का नाश आद्य शब्द से उत्पन्न मध्यम शब्द (कार्य शब्द) द्वारा होता है। मध्यम शब्द का नाश मध्यम शब्द से उत्पन्न अन्तिम शब्द (कार्य शब्द) के द्वारा होता है अर्थात् कार्यशब्द अपने कारण शब्द को नष्ट करते हैं। किन्तु अन्तिम शब्द श्रोत्र से गृहीत हो जाता है, उसका कोई कार्य नहीं होता है। अतः अन्तिम शब्द अपने कारणभूत उपान्त्य शब्द से नष्ट होता है।

कुछ लोग सुन्दोपसुन्दन्याय से उपान्त्य से अन्तिम का नाश एवं अन्तिम शब्द से उपान्त्य का नाश मानते हैं, पौराणिक कथा के अनुसार सुन्द एवं उपसुन्द दोनों राक्षस भाई परस्पर युद्ध करते हुए एक दूसरे को मार देते हैं - एक साथ ही दोनों नष्ट हो जाते हैं। इसी तरह उपान्त्य एवं अन्त्य शब्द एक साथ ही नष्ट हो जाते हैं। परन्तु ग्रन्थकार इससे सहमत नहीं हैं, क्योंकि शब्द तीन क्षण तक रहता है – 1. जिस समय उपान्त्य शब्द की उत्पत्ति होती है, उस समय अन्त्य शब्द की उत्पद्यमानता होती है। 2. जिस समय (द्वितीय क्षण में) उपान्त्य शब्द की स्थिति होती है, उस समय अन्त्य शब्द की त्पत्ति होती है। 3. जिस तृतीय क्षण में उपान्त्य शब्द की विनश्यद अवस्था होती है, उस समय अन्त्य शब्द की स्थिति होती है। इसके बाद उपान्त्य शब्द नहीं रहता, वह द्वितीय क्षण तक ही अन्त्य शब्द का अनुसरण करता है। अतः उपान्त्य शब्द जब अन्तिम शब्द के तृतीय क्षण में रहता ही नहीं है, तब वह अन्तिम शब्द का नाश भी नहीं कर सकता।

अतः तर्कभाषाकार कहते हैं कि तृतीय क्षण में उपान्त्य शब्द के नाश से ही अन्तिम शब्द का नाश हो जाता है।

➢ **शब्द की अनित्यता**

विनाशित्वञ्च शब्दस्यानुमानात्। तथाहि, अनित्यः शब्दः, सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रिय-ग्राह्यत्वाद् घटवदिति। शब्दस्यानित्यत्वं साध्यम्। अनित्यत्वञ्च विनाशावच्छिन्नस्वरूपत्वं, न तु विनाशावच्छिन्नसत्तायोगित्वं, प्रागभावे सत्ताहीनेऽनित्यत्वाभावप्रसंगात्। सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वं हेतुः। इन्द्रियग्राह्यत्वादित्युच्यमाने आत्मनि व्यभिचारः स्यादत उक्तं बाह्येति। एवमपि तेनैव योगिबाह्येन्द्रियेण ग्राह्ये परमाण्वादौ व्यभिचारः स्यादतो योगिनिरासार्थमुक्तमस्मदादीति।

किं पुनर्योगिसद्भावे प्रमाणम् ?

उच्यते। परमाणवः कस्यचित् प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वाद् घटवदिति। तथापि सामान्यादिना व्यभिचारोऽत उक्तं सामान्यवत्त्वे सतीति। सामान्यादित्रयस्य निःसामान्यत्वात् ।

शब्दार्थ -

विनाशावच्छिन्नस्वरूपत्वम् = विनाशयुक्त स्वरूप वाला होना, प्रागभावे = प्रागभाव में, अनित्यत्वाभावप्रसंगात् = अनित्यत्व का अभाव होने से, सामान्यवत्त्वे = सामान्य वाला, ग्राह्ये = ग्रहण किये जाने वाले, परमाण्वादौ = परमाणु आदि में, सद्भावे= होने में।

गद्यार्थ -

शब्द का विनाशशील होना अनुमान से सिद्ध होता है। जैसे कि शब्द अनित्य है। सामान्य से युक्त होते हुए हमारी बाह्येन्द्रिय (श्रोत्र) द्वारा ग्राह्य होने से, घट के समान। यहाँ पर शब्द की अनित्यता साध्य है। अनित्य का अर्थ है - नाशवान् स्वरूप वाला होना, न कि विनाश से युक्त सत्ता वाला होना। 'विनाश से युक्त सत्ता वाला होना' यह अर्थ मानने पर जाति से रहित (सत्ताहीन) प्रागभाव में अनित्यता के अभाव की प्राप्ति होने लगेगी। (उक्त अनुमान में) 'सामान्य से युक्त होते हुए हमारी बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य होना' यह हेतु है। (यहाँ यदि बाह्य शब्द न देकर) 'इन्द्रिय से ग्राह्य होने के कारण' इतना ही कहा जाता, तब आत्मा में हेतु का व्यभिचार हो जाता। अतः 'बाह्य' पद भी जोड़ा गया है। 'बाह्येन्द्रियग्राह्य होना' मानने पर योगियों की उसी बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य परमाणु आदि में व्यभिचार हो जायेगा, अतः योगी के बाह्येन्द्रिय ग्राह्य परमाण्वादि में व्यभिचार रोकने हेतु 'अस्मदादि' यह पद जोड़ा गया है।

(प्रश्न उठता है कि) योगी के होने में क्या प्रमाण है?

बताते हैं। परमाणु किसी के प्रत्यक्ष होते हैं, प्रमेय होने से, घट के समान। (यह अनुमान वाक्य योगी की सत्ता में प्रमाण है।) फिर भी सामान्यादि, जो हमारी बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य हैं, उनमें अनित्यता का दोष लगेगा, यह दोष न लगे, इसलिए अनुमानवाक्य में 'सामान्यवत्त्वे सति' यह पद दिया गया है, क्योंकि सामान्य, विशेष तथा समवाय ये तीनों सामान्य से रहित होते हैं। (इस तरह सामान्यादि में सामान्यवत्त्व के न होने से अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्व के होने पर भी अनित्यता प्राप्त नहीं होगी, व्यभिचार भी नहीं होगा।

व्याख्या -

शब्द विनाशशील (अनित्य) है, इसे सिद्ध करने के लिए 'अनित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सति अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् घटवत्' यह अनुमानवाक्य दिया गया है। इसमें अनित्यत्व का स्वरूप ग्रन्थकार ने 'विनाशावच्छिन्नस्वरूपत्वम्' बताया है। कुछ विद्वान् 'विनाशावच्छिन्नसत्तायोगित्वम्' को अनित्य का स्वरूप मानते हैं। किन्तु ग्रन्धकार इससे सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि 'विनाशयुक्त और सत्ता वाला होना' यदि अनित्य माना जाएगा तब प्रागभाव जो अनित्य है, उसमें यह लक्षण घटित नहीं होगा, क्योंकि वस्तु की उत्पत्ति से पूर्व जो उसका अभाव है, वह प्रागभाव कहलाता है। वस्तु की उत्पत्ति के बाद वह नहीं रहता, नष्ट हो जाता है। इस प्रागभाव में सत्ता (जाति) नहीं रहा करती है। सत्ता तो केवल द्रव्य, गुण और कर्म में ही रहा करती है। मुक्तावलीकार ने कहा भी है- 'सत्तावन्तस्त्रयस्त्वाद्याः'। अतः विनाशावच्छिन्नसत्तायोगित्वम् अनित्यत्वम् यह लक्षण ठीक नहीं है।

अनित्यता के साधक अनुमानवाक्य में 'सामान्यवत्त्वे सति अस्मदादिबाह्येन्द्रिय ग्राह्यत्वात्' यह हेतु दिया गया है। इस हेतुवाक्य में प्रत्येक पद का प्रयोजन है।

यदि लक्षण में 'बाह्य' पद न हो केवल 'अस्मदादीन्द्रिग्राह्यत्वात्' इतना ही रहे तब आत्मा में भी अनित्यता का लक्षण घटित होगा, क्योंकि आत्मा मन नामक इन्द्रिय से ग्राह्य है। बाह्यपद के रखने से यह दोष नहीं होता है, क्योंकि मन बाह्य इन्द्रिय नहीं है, अन्तः इन्द्रिय है। परमाणु योगियों की बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य है, वह नित्य है। उसमें अनित्यता का लक्षण अति प्रसक्त न हो इसलिए हेतु में अस्मदादि पद रखा गया है। परमाणु हम सामान्यजनों की बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य नहीं है, अतः परमाणु में अतिप्रसक्ति नहीं होती है।

लक्षण में 'सामान्यवत्त्वे सति' यह इसलिए है कि सामान्य विशेष और समवाय में अनित्यता का लक्षण अतिप्रसक्त न हो जाये। इन तीनों में सामान्य (जाति) नहीं रहता है।

स्वयं आकलन कीजिए –

अभ्यास प्रश्न -

1. पृथकत्व के कितने भेद हैं?
2. संयोग गुण किसे कहते हैं?
3. संयोग के कितने भेद हैं?
4. विभाग गुण किसे कहते हैं?
5. परत्व-अपरत्व गुण कहाँ रहता है?
6. परत्व-अपरत्व के कितने भेद हैं?
7. गुरुत्व नामक गुण किसमें रहता है?
8. द्रवत्व नामक गुण किसमें रहता है?
9. स्नेह गुण कहाँ रहता है?
10. शब्द कितने क्षण तक विद्यमान रहता है?
11. शब्द का विकाशाशील होना किसके द्वारा सिद्ध होता है?

15.4 सारांश

इस इकाई में गुणों के गुछ भेदों की चर्चा की गई। सर्वप्रथम पृथक गुण के बारे में बताया गया। सभी द्रव्यों में रहने वाला सामान्य गुण पृथकत्व होता है। जो एक पदार्थ को दूसरे से अलग करे उसे पृथक कहा गया है।। यह सजीव एवं निर्जीव सभी में दिखाई देता है।

जब हम कहते हैं कि यह इससे मिला है। इस प्रकार के व्यवहार का कारण संयोग नामक गुण होता है। संयोग हमेशा दो द्रव्यों में होता है। जैसे पुस्तक और मेज का संयोग। न्यायशास्त्र में विभाग भी एक गुण माना गया है। यह इससे विभक्त है, इस प्रकार की प्रतीति या आभास का असाधारण कारण विभाग है। विभाग भी हमेशा दो द्रव्यों में साथ रहता है। इसलिए इसे द्वयाश्रय कहा जाता है। परत्व-अपरत्व नामक गुण पर-अपर के व्यवहार का कारण है। परत्व-अपरत्व दिक्कृत तथा कालकृत भेद से दो प्रकार के माने जाते हैं।

दिक्कृत की बात करें तो एक नियत दिशा में स्थित दो द्रव्यों में दिक्कृत परत्व-अपरत्व होता है। इसमें पर का अर्थ दूर तथा अपर का अर्थ समीप होता है। कालकृत परत्व और अपरत्व में अनिश्चित दिशा में स्थित युवा और वृद्ध के शरीरों में यह युवा शरीर इस वृद्ध शरीर की अपेक्षा कम काल वाला है, इस कारण युवक के शरीर में अपरत्व उत्पन्न होता है तथा वृद्ध शरीर युवक के शरीर की अपेक्षा अधिक काल वाला है, इस अपेक्षाबुद्धि से वृद्ध शरीर में परत्व उत्पन्न होता है।

गुरुत्त्व गुण कहते हैं भारीपन को। यह पृथिवी और जल में रहता है। वस्तु का बहकर जाना ही द्रवत्व है। प्रथम बहाव का असमवायिकारण द्रवत्व है। यह द्रवत्व पृथिवी, तेज और जल में रहता है। चिकनाई का ही दूसरा नाम स्नेह है, जो जल का विशेष गुण है। श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण होने वाला गुण शब्द है। यह आकाश का विशेष गुण है। जहाँ आकाश होगा वहाँ शब्द होता है। आकाश के अभाव में शब्द गुण नहीं होता।

15.5 कठिन शब्दावली

अन्यतरकर्मजः = दो में से एक की क्रिया से उत्पन्न संयोग, श्येनक्रिया = बाज की क्रिया, सक्रिययोर्मल्लयो = सक्रिय दो मल्लों (पहलवानों) का, स्खलिता = स्खलित (परिभ्रष्ट) होना, विप्रकृष्टे = दूरस्थ वस्तु में, स्थविरे = वृद्ध शरीर में, भूतेजोजलवृत्ति = भूमि, तेज और जल में, वीचीतरंगन्यायेन = वीचीतरंग (लहर की गति) के नियम से, दलद्वयविभागदेशे = दोनों दलों के विभाग देश में, वंशोत्पाटनात् = बांस के फाड़ने से, त्रिक्षणावस्थायित्वम् = तीन क्षण तक रहने वाला।

15.6 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर -

1. दो
2. संयुक्त व्यवहार के हेतु को
3. तीन
4. विभक्त प्रतीति के कारण को
5. जहाँ पर अपर व्यवहार हो
6. दो
7. पृथिवी और जल में
8. पृथिवी, तेज और जल में
9. जलमात्र में
10. तीन क्षण
11. अनुमान से

15.7 सहायक ग्रन्थ

1. तर्कभाषा, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणि, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी-221001, संस्करण-12, 2013.
2. तर्कभाषा, टीकाकार, पण्डित श्रीरुद्रधर झा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-221001, संस्करण-7, 2021.
3. तर्कभाषा, व्याख्याकार डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-221001, संस्करण-2013.
4. तर्कभाषा, व्याख्याकार एवं सम्पादक डॉ. अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर-302001, संस्करण-2021.
5. तर्कभाषा, व्याख्याकार श्रीबदरीनाथशुक्ल, मोतीलाल बनारसी दास, चौक वाराणसी, प्रथम संस्करण-1968.

15.8 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न -

1. पृथकत्व, संयोग और विभाग गुणों का उदाहरण सहित वर्णन करें।
2. तर्कभाषा के आधार पर परत्व-अपरत्व और गुरुत्व-द्रवत्व नामक गुणों का विवेचन करें।
3. शब्द की अनित्यता ते आप क्या समझते हैं?

इकाई - सोलह

गुण, कर्म और सामान्य निरूपण

संरचना

16.1 प्रस्तावना
16.2 उद्देश्य
16.3 गुण निरूपण
  16.3.1 बुद्धि आदि गुण
  16.3.2 धर्म-अधर्म गुण
  16.3.3 संस्कार गुण
    • स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न
16.4 कर्म (अर्थ)
  16.4.1 कर्म के भेद
    • स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न
16.5 सामान्य (अर्थ)
    • स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न
16.6 सारांश
16.7 कठिन शब्दावली
16.8 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर
16.9 सहायक ग्रन्थ
16.10 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न

16.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियो, इस इकाई में शब्द की अनित्यता, संस्कार, कर्म और सामान्य गुण की जानकार प्रदान की जाएगी। शब्द को सभी लोग सुनते हैं, लेकिन शब्द नित्य है अथवा अनित्य, इस बात की जानकारी प्रायः किसी को नहीं होती। यहाँ इसी बात की चर्चा की जाएगी। संस्कार में बताया जाएगा कि संस्कार किन-किन पदार्थों के होते हैं और किस तरह उनकी प्रतीति होती है। इसी तरह से कर्म और सामान्य गुण की भी जानकारी दी जाएगी, जो आप लोगों के विवेक को जागृत करने के लिए सहायक सिद्ध होगी।

16.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से विद्यार्थियों को नम्नलिखित जानकारी उपलब्ध होगी –

- शब्द की अनित्यता,
- संस्कार निरूपण,
- कर्मनिरूपण और सामान्य

16.3 गुण निरूपण

पूर्व की दो इकाईयों में भी गुणों का वर्णन किया गया है। इस इकाई शेष बचे हुए सभी गुणों का वर्णन किया जा रहा है।

16.3.1 बुद्धि आदि गुण

तर्कभाषाकार ने कुछ गुणों का संकेत मात्र किया है। इसलिए उनको यहाँ एक ही बिन्दू में वर्णन कर दिया गया है।

अर्थप्रकाशो बुद्धिः। नित्याऽनित्या च। ऐशी बुद्धिर्नित्या, अन्यदीया त्वनित्या।

प्रीतिः सुखम् । तच्च सर्वात्मनामनुकूलवेदनीयम्।

पीडा दुःखम्। तच्च सर्वात्मनां प्रतिकूलवेदनीयम्।

राग इच्छा।

क्रोधो द्वेषः।

उत्साहः प्रयत्नः।

बुद्धयादयः षड् मानसप्रत्यक्षाः।

शब्दार्थ -

अर्थप्रकाशः = अर्थ का प्रकाश, ऐशी = ईश से सम्बद्ध, अन्यदीया = अन्य से सम्बद्ध, प्रीतिः = प्रसन्नता, सर्वात्मनाम् = सभी आत्माओं के द्वारा, अनुकूलवेदनीयम् = अनुकूल अनुभव किया जाना, रागः = इच्छा।

गद्यार्थ -

अर्थ का प्रकाश करने वाली बुद्धि है। वह दो प्रकार की होती है - नित्य और अनित्य। ईश्वर की बुद्धि नित्य और अन्य की अनित्य होती है। प्रीति अथवा आनन्द को सुख कहते हैं। पीड़ा को दुःख कहते हैं। वह सब आत्माओं को प्रतिकूल अनुभव होता है। राग का नाम इच्छा है। क्रोध का नाम द्वेष है। उत्साह को प्रसन्न कहते हैं।

बुद्धि आदि छः मानस प्रत्यक्ष के विषय हैं।

व्याख्या -

न्याय वैशेषिक में अर्थ के प्रकाश को बुद्धि कहा गया है। प्रकाश ज्ञान को कहते हैं। इस तरह बुद्धि और ज्ञान समानार्थक हैं। बुद्धिरूप प्रकाश अर्थविषयक होता है। तैजस प्रकाश निर्विषय होता है। बुद्धि आत्मा का गुण है। मन एवं बाह्येन्द्रियों के द्वारा आत्मा को ही ज्ञान होता है। वैशेषिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विवेचन बुद्धि के अन्तर्गत ही करते हैं।

बुद्धि, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न ये सभी छह गुण समवाय सम्बन्ध से आत्मा में रहते हैं। अतः ये आत्मा के ही गुण हैं।

ये छह मानसप्रत्यक्ष के विषय हैं। आत्मा का मन से संयोग होता है। आत्मा में ये छह रहते हैं। अतः संयुक्तसमवायसन्निकर्ष के द्वारा मन से बुद्धि आदि का प्रत्यक्ष होता है। अहं सुखी, अहं घटं जानामि आदि प्रत्यक्ष का स्वरूप है।

बुद्धि के दो भेद हैं - नित्या बुद्धि और अनित्या बुद्धि। ईश्वर की बुद्धि नित्य मानी जाती है, और अन्य की अनित्य मानी जाती है।

16.3.2 धर्म-अधर्म गुण

धर्माऽधर्मौ सुखदुःखयोरसाधारणकारणे। तौ चाप्रत्यक्षावप्यागमगम्यावनुमानगम्यौ च। तथाहि देवदत्तस्य शरीरादिकं देवदत्तविशेषगुणजन्यं कार्यत्वे सति देवदत्तस्य भोगहेतुत्वात्। देवदत्तप्रयत्नजन्यवस्तुवत्। यश्च शरीरादिजनक आत्मविशेषगुणः स एव धर्मोऽधर्मश्च। प्रयत्नादीनां शरीराद्यजनकत्वादिति ।

शब्दार्थ -

धर्माऽधर्मौ = धर्म और अधर्म, अनुमानगम्यौ = अनुमान प्रमाण से जानने योग्य, भोगहेतुत्वात् = भोग के हेतु होने से (हेतु)। देवदत्तप्रयत्नजन्यवस्तुवत् = देवदत्त के प्रयत्न से उत्पन्न (किसी) वस्तु के समान (उदाहरण)। शरीरादिजनकः = शरीर आदि को उत्पन्न करने वाला, शरीराद्यजनकत्वात् इति = शरीर आदि के जनक नहीं हैं।

गद्यार्थ -

धर्म और अधर्म सुख और दुःख के असाधारण कारण हैं। वे धर्म और अधर्म में प्रत्यक्ष नहीं हैं, फिर भी शास्त्र और अनुमानप्रमाण से जाने जाते हैं। जैसे कि देवदत्त के शरीर आदि में देवदत्त के विशेष गुण (धर्म-अधर्म) से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि कार्य होते हुए वे देवदत्त के भोग के हेतु हैं। देवदत्त के प्रयास से उत्पन्न होने वाले वस्तु की तरह। जो शरीरादि को उत्पन्न करने वाला आत्मा का विशेष गुण है, वही धर्म और अधर्म है, क्योंकि प्रयत्न आदि गुण शरीरादि के जनक नहीं होते हैं।

व्याख्या -

धर्म और अधर्म अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष नहीं हैं। अतः धर्म एवं अधर्म की सत्ता शास्त्र वचन से सिद्ध होती है अथवा अनुमान प्रमाण से। अनुमान प्रयोग है - देवदत्त का शरीर आदि देवदत्त (आत्मा) के विशेषगुण से जन्य है, यह साध्य है। 'कार्य होते हुए देवदत्त (आत्मा) के भोग का हेतु होने से' यह हेतु वाक्य है। 'देवदत्त के प्रयत्न से जन्य वस्तु के समान' यह उदाहरण है। इस अनुमान वाक्य में 'देवदत्तस्य' यह पद इसलिए रखा गया है कि जो शरीर आदि जिसके भोग का हेतु होता है, वह उसके ही विशेष गुण से जन्य होता है। इस अनुमान से सिद्ध होता है कि शरीरादि आत्मा के विशेष गुण से उत्पन्न होता है।

आत्मा के गुण, प्रयत्न आदि भी हैं, किन्तु वे शरीरादि के जनक नहीं हैं, क्योंकि शरीरादि की उत्पत्ति से पूर्व आत्मा के प्रयत्न आदि गुण नहीं हो सकते। अतः परिशेषानुमान से धर्म और अधर्म आत्मा के विशेष गुण सिद्ध होते हैं। ये विशेष गुण ही शरीर की उत्पत्ति करने वाले हैं।

16.3.3 संस्कार गुण

संस्कारव्यवहाराऽसाधारणं कारणं संस्कारः। संस्कारास्त्रिविधो वेगो भावना स्थितिस्थापकश्च। तत्र वेगः पृथिव्यादिचतुष्टयमनोवृत्तिः। स च क्रियाहेतुः। भावनाख्यस्तु संस्कार आत्ममात्रवृत्तिरनुभवजन्यः स्मृतिहेतुः। स चोद्बुद्ध एव स्मृतिं जनयति। उद्बोधश्च सहकारिलाभः। सहकारिणश्च संस्कारस्य सदृशदर्शनादयः। तथा चोक्तम्-

'सादृश्यादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः।'

इति। स्थितिस्थापकस्तु स्पर्शवद्द्रव्यविशेषवृत्तिः। अन्यथाभूतस्य स्वाश्रयस्य धनुरादेः पुनस्तादवस्थ्यापादकः। एते च बुद्धयादयोऽधर्मान्ता भावना च आत्मविशेषगुणाः। उक्ता गुणाः ।

शब्दार्थ -

क्रियाहेतुः = क्रिया का हेतु, अनुभवजन्यः = अनुभव से उत्पन्न, उद्बुद्धः= उद्बुद्ध (पैदा/जागृत) होकर, अन्यथाभूतस्य = अन्य प्रकार का हो जाना, स्वाश्रयस्य = अपने आश्रय का, अधर्मान्ताः = अधर्म पर्यन्त।

गद्यार्थ -

संस्कार सम्बन्धी व्यवहार का असाधारण कारण संस्कार कहलाता है। संस्कार तीन प्रकार का है - वेग, भावना और स्थितिस्थापक। उनमें वेग पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन में रहता है। और वह क्रिया का हेतु भी

है। भावना नामक संस्कार आत्मा मात्र में रहने वाला, अनुभव से उत्पन्न होने वाला और स्मृति का हेतु है। वह भावना संस्कार उद्‌बुद्ध होकर ही स्मृति को उत्पन्न करता है। उद्बोधन का अर्थ है - सहकारी कारणों की प्राप्ति और संस्कार के सहकारी कारण सदृश दर्शन आदि हैं। जैसा कि कहा गया है -

'सादृश्य अदृष्ट और चिन्ता आदि स्मृति के कारणभूत संस्कार के उद्बोधक हैं।'

स्थितिस्थापक नामक संस्कार स्पर्श वाले द्रव्यविशेष में रहता है। अन्य आकार-प्रकार का हो चुका अपने आश्रयभूत धनुष आदि को पुनः उसी पूर्व अवस्था में लाने वाला स्थितिस्थापक होता है। ये बुद्धि आदि बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना आत्मा के विशेष गुण हैं।

गुणों का निरूपण कर दिया गया।

व्याख्या -

संस्कार सम्बन्धी व्यवहार का असाधारण कारण संस्कार नामक गुण है। पूर्व में अनुभूत विषय की बाद में जो चर्चा की जाती है, उसमें संस्कार ही कारण बनता है। जिस वस्तु के अनुभव से उसके विषय में संस्कार उत्पन्न नहीं होता, उस वस्तु के विषय में कालान्तर में कुछ कहना सम्भव नहीं होता।

वेग नामक संस्कार पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन में रहता है और वह क्रिया का हेतु होता है। यह वेग कर्मज और वेगज भेद से दो प्रकार का है। बाण आदि में क्रिया के कारण उत्पन्न प्रथम वेग कर्मज वेग होता है और उसी में पूर्व वेग से उत्पन्न दूसरा, तीसरा, चौथा आदि वेग वेगज-वेग होता है।

भावना संस्कार केवल आत्मा में रहता है। यह अनुभव से उत्पन्न होता है और यह भावना स्मृति का कारण भी है। स्मृति ही संस्कार की सत्ता में प्रमाण भी है। यदि अनुभव के बाद आत्मा में संस्कार उत्पन्न न हो तो पूर्व में अनुभूत पदार्थ का स्मरण ही नहीं हो सकेगा।

जागृत संस्कार ही स्मृति को उत्पन्न करता है। उद्बोध का अर्थ है - सहकारी कारणों की प्राप्ति। जैसे पूर्व में हाथी और महावत को देखने से संस्कार उत्पन्न हुआ। कालान्तर में सहकारी हाथी को देखने से महावत का संस्कार उद्‌बुद्ध होता है और महावत की स्मृति उत्पन्न होती है। इस तरह संस्कार के उद्बोधक के उपस्थित होने पर संस्कार उद्‌बुद्ध होता है एवं स्मृति को उत्पन्न करता है। यही भावना संस्कार कहलाता है।

स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त कराने वाला संस्कार स्थिति-स्थापक कहलाता है। जैसे अन्य अवस्था या आकार को प्राप्त धनुष का पूर्व अवस्था में आ जाना। झुका कर छोड़ी गई वृक्ष की शाखा का पूर्व अवस्था में आना स्थितिस्थापक संस्कार द्वारा होता है। यह संस्कार स्पर्श के आश्रयभूत विशेष द्रव्यों में रहता है।

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार ये नौ गुण आत्मा के विशेष गुण हैं।

स्वयं आकलन कीजिए -

अभ्यास प्रश्न - 1

1. अर्थ को प्रकाशित करने वाली बुद्धि के कौन-से दो प्रकार हैं?
2. आत्मा के छः गुणों के नाम क्या हैं?
3. सुख और दुःख के असाधारण कारण क्या हैं?
4. संस्कार के कितने भेद हैं?

16.4 कर्म (अर्थ)

कर्माणि उच्यन्ते। चलनात्मकं कर्म, गुण इव द्रव्यमात्रवृत्ति। अविभुद्रव्यपरिमाणेन मूर्तत्वापरनाम्ना सहैकार्थसमवेतं विभागद्वारा पूर्वसंयोगनाशे सत्युत्तरदेशसंयोगहेतुश्च। तच्च उत्क्षेपण-अपक्षेण-आकुञ्चन-प्रसारण-गमनभेदात् पञ्चविधम्। भ्रमणादयस्तु गमनग्रहणेनैव गृह्यन्ते।

शब्दार्थ -

द्रव्यमात्रवृत्ति = केवल द्रव्य में रहने वाला, मूर्तत्वापरनाम्ना = दूसरे मूर्तत्व नाम वाला, अविभुद्रव्यपरिमाणेन = अविभु द्रव्य के परिमाण से, एकार्थसमवेतम् = एक अर्थ में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला, उत्क्षेपण = ऊर्ध्व गति।

गद्यार्थ -

अब कर्मों का वर्णन किया जा रहा है। कर्म का स्वरूप है चलना क्रिया। कर्म गुण के समान द्रव्यमात्र में रहता है। और 'अविभू' द्रव्य परिमाण, जिसे 'मूर्तत्व' नाम से भी कहते हैं, के साथ एक अर्थ (द्रव्य) में समवाय सम्बन्ध से रहता है और विभाग के द्वारा पूर्वदेश के संयोग का नाश होने पर उत्तरदेश के साथ संयोग का निमित्त है। वह कर्म पाँच प्रकार का है – 1. उत्क्षेपण (ऊर्ध्व गति), 2. अपक्षेपण (अधोगमन), 3. आकुञ्चन (सिकोड़ना), 4. प्रसारण (फैलाना) और 5. गमन। भ्रमण आदि का ग्रहण गमन के ग्रहण में ही हो जाता है।

व्याख्या -

कर्म का अर्थ गति, क्रिया स्पन्दन आदि है। कर्म केवल मूर्त द्रव्यों में रहता है। मूर्त का अर्थ है परिच्छिन्न परिमाण वाला होना। परिच्छिन्न परिमाण वाले मूर्तद्रव्य पृथिवी, जल, तेज, वायु एवं मन हैं। इन्हीं में कर्म रहता है। विभुद्रव्य जो परममहत् परिमाण वाला है, जैसे आकाश, काल, दिक् एवं आत्मा इनमें कर्म नहीं रहता। कर्म उत्तरदेश के साथ संयोग का हेतु होता है।

कर्मनाश की उत्पत्ति एवं नाश की प्रक्रिया - कर्म प्रथम क्षण में उत्पन्न होता है। द्वितीय क्षण में कर्म के आश्रयभूत द्रव्य का द्रव्यान्तर से विभाग, तृतीयक्षण में कर्म के आश्रयभूत द्रव्य में पहले से विद्यमान संयोग का नाश, चतुर्थक्षण में कर्माश्रयीभूत द्रव्य का अन्य द्रव्य के साथ संयोग और पञ्चम क्षण में कर्म का नाश होता है।

16.4.1 कर्म के भेद -

1. उत्क्षेपण - ऊर्ध्वदेश के साथ संयोगानुकूल क्रिया उत्क्षेपण है।
2. अवक्षेपण - अधोदेश के साथ संयोगानुकूल क्रिया।
3. आकुञ्चन - अभिमुखदेश के साथ संयोगानुकूल क्रिया।
4. प्रसारण - तिर्यग् देश के साथ संयोगानुकूल क्रिया प्रसारण है।
5. गमन - अनियत देश में संयोग के अनुकूल क्रिया गमन है।

इसके अलावा भ्रमण, रेचन, स्यन्दन, ऊर्ध्वज्वलन और तिर्यग् गमन आदि भी गमन में ही अन्तर्भूत होते हैं। कर्मत्व जाति प्रत्यक्षसिद्ध है क्योंकि 'चलति' कहने पर अनुगताकारप्रतीति होती है।

स्वयं आकलन कीजिए –

अभ्यास प्रश्न - 2

1. कर्म किन-किन द्रव्यों में रहता है?
2. कर्म के भेद क्या-क्या हैं?

3. कर्म के आश्रयभूत द्रव्य में पहले से विद्यमान संयोग का नाश कब होता है?
4. अभिमुखदेश के साथ संयोगानुकूल क्रिया क्या कहलाती है?

16.5 सामान्य (अर्थ)

अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्। द्रव्यादित्रयवृत्ति, नित्यमेकमनेकानुगतञ्च। तच्च द्विविधं, परमपरञ्च। परं सत्ता बहुविषयत्वात्। सा चानुवृत्तिप्रत्ययमात्रहेतुत्वात् सामान्यमात्रम्। अपरं द्रव्यत्वादि। अल्पविषयत्वात्। तच्च व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात् सामान्यं सद्विशेषः।

शब्दार्थ -

अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः = अनुवृतित्त प्रत्यय, अनेकानुगतम् = अनेकों में समवेत रहने वाला, बहुविषयत्वात् = बहुविषयक होने से, अपरम् = दूसरा, अल्पविषयत्वात् = अल्प विषय होने से।

गद्यार्थ -

(यह घट है, यह घट है इस प्रकार की) समानाकारक प्रतीति का निमित्त सामान्य (जाति) है। यह सामान्य द्रव्य, गुण एवं कर्म इन तीनों में रहता है, नित्य है, एक है तथा अनेकों में अनुगत (अन्वित) है। वह सामान्य दो प्रकार का है - पर (सामान्य) और अपर (सामान्य)। बहुविषयक होने से परसामान्य 'सत्ता' कहलाता है। वह सत्ता समानाकारक प्रतीति मात्र का हेतु होने से सामान्य ही कहलाता है। अपरसामान्य द्रव्यत्व आदि है क्योंकि इसका विषय अल्प ही है। वह अपरसामान्य भेद का भी कारण होने से सामान्य होते हुए भी सामान्यविशेष कहलाता है।

व्याख्या -

समान का भाव एक जैसे पदार्थों में रहने वाला धर्म होता है। जैसे अनेकों घटों में घटत्व, अनेकों मनुष्यों में मनुष्यत्व। इस समान प्रतीति के निमित्त धर्म को सामान्य कहते हैं। सामान्य को जाति भी कहते हैं।

'अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्' यह वचन सामान्य की सत्ता में प्रमाण है। सामान्य का लक्षण इस प्रकार से किया गया है - 'नित्यम् एकम् अनेकानुगतं सामान्यम्' यह है। सामान्य नित्य होता है, एक होता है और अनेकों द्रव्यों में समवायसम्बन्ध से रहता है। यह सामान्य केवल द्रव्य, गुण एवं कर्म में रहता है। सामान्य विशेष एवं समवाय में नहीं रहता, क्योंकि इन तीनों में कोई पदार्थ समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता है।

सामान्य के दो भेद हैं - परसामान्य और अपरसामान्य। 'अधिक देशवृत्तित्वं परत्वम्, अल्पदेशवृत्तित्वम् अपरत्वम्' यह पर व अपर का लक्षण है। परसामान्य को सत्ता जाति भी कहते हैं। परसामान्य द्रव्यत्व आदि जाति की अपेक्षा अधिक देश में रहता है। अतः वह सत्ता कहलाता है। घट में घटत्व, भूमि में भूमित्व और जल में जलत्व आदि जाति अल्प देश में रहती है। अतः इसे अपरसामान्य कहते हैं। यह अपरसामान्य पटत्व, भूमित्व आदि पट और भूमि आदि को अन्य से अलग भी करता है। अतः यह भेद का भी हेतु है और इसे सामान्यविशेष भी कहते हैं।

सामान्य, विशेष एवं समवाय में सामान्य जाति क्यों नहीं रहती है? इसके उत्तर में आचार्य उदयन ने जातिबाधकों को अपनी कारिका में प्रदर्शित किया है -

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः।।

व्यक्ति अर्थात् आश्रय का एक होना जाति का बाधक है। जिस धर्म का आश्रय एक ही व्यक्ति हो, वहाँ जाति नहीं मानी जाती। जैसे - आकाश एक है, अतः इसमें रहने वाले आकाशत्व धर्म को जाति (सामान्य) नहीं माना जाता है।

व्यक्तियों की समानता में जाति नहीं मानी जाती या समनियतत्व धर्म भी जाति नहीं होता। जैसे घट और कलश समान व्यक्ति है। अतः उनके धर्म घटत्व और कलशत्व को जाति नहीं माना जाता है।

किन्हीं वस्तुओं में रहने वाले ऐसे दो धर्म, जिनमें संकर होता है, उस धर्म को जाति नहीं माना जाता है। संकर का मतलब है कि कहीं उन दोनों धर्मों में से एक के अभाव में भी दूसरे का देखा जाना। जैसे भूतत्व और मूर्तत्व ये दोनों जाति नहीं हैं, क्योंकि आकाश में भूतत्व है, मूर्तत्व नहीं, मन में मूर्तत्व है, भूतत्व नहीं। यही संकर है।

अनवस्था के कारण सामान्य में सामान्य (जाति में जाति) नहीं माना जाता। जैसे घट में घटत्व है, तो घटत्व में घटत्वत्व, उसमें फिर घटत्वत्व आदि को मानने पर अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। अतः एक सामान्य में दूसरा सामान्य नहीं माना जाता। रूप की हानि होने पर जाति (सामान्य) नहीं मानी जाती। यथा विशेष नामक पदार्थ में सामान्य नहीं माना जाता, क्योंकि विशेष अनेक हैं, विशेष का स्वरूप है - दो नित्य पदार्थों में भेद बताना। अतः विशेष प्रत्येक नित्य पदार्थ में भिन्न-भिन्न होता है। यदि विशेष में सामान्य विशेषत्व मानें तब अनेक नित्य पदार्थ समान माने जाने लगेंगे। अतः विशेष में जाति नहीं मानी जाती।

सम्बन्ध का अभाव समवाय में सामान्य (जाति) मानने में बाधक है। समवाय में यदि सामान्य मानें तो वह समवाय सम्बन्ध से ही रहेगा। किन्तु समवाय एक है। अतः उसमें दूसरे समवाय का सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः समवायत्व को सामान्य नहीं माना जाता है।

अत्र कश्चिदाह 'व्यक्तिव्यतिरिक्तं सामान्यं नास्ति' इति । तत्र वयं ब्रूमः किमालम्बना तर्हि भिन्नेषु विलक्षणेषु पिण्डेष्वेकाकारा बुद्धिर्विना सर्वानुगतमेकम्। यच्च तदालम्बनं तदेव सामान्यम्।

ननु तस्याऽतद्व्यावृत्तिकृतैवैकाकारा बुद्धिरस्तु। तथाहि, सर्वेष्वेव हि गोपिण्डेषु, अगोभ्योऽश्वादिभ्यो व्यावृत्तिरस्ति। तेनागोव्यावृत्तिविषय एवायमेकाकारः प्रत्ययोऽनेकेषु, न तु विधिरूपगोत्वसामान्यविषयः। मैवम्। विधिमुखनैवैकाकारस्फुरणात्।

शब्दार्थ -

आह = कहता है, व्यक्तिव्यतिरिक्तं = व्यक्ति से भिन्न, ब्रूमः = कहते हैं, विलक्षणेषु = विलक्षण में, गोपिण्डेषु = गोपिण्डों में, अगोभ्यो = गो से भिन्न, एकाकारप्रत्ययः = एकाकार प्रतीति।

गद्यार्थ -

बौद्धों का कहना है कि व्यक्ति से अतिरिक्त सामान्य (जाति) नहीं होता है। इस पर नैयायिक कहते हैं कि यदि व्यक्ति से भिन्न सामान्य नहीं है तब सब में अनुगत रहने वाले एक धर्म के बिना भिन्न एवं विलक्षण पिण्डों में एकाकार की प्रतीति का आश्रय (आलम्बन) क्या है? जो एकाकारक प्रतीति का आश्रय या विषय है वही सामान्य है।

इस पर बौद्ध प्रश्न कर सकते हैं कि अतद्व्यावृत्ति (तद्भिन्न-भिन्नता) के कारण से ही एकाकार प्रतीति हो सकती है, क्योंकि सभी गो-पिण्डों में, गो से भिन्न जो अश्वादि हैं, उनसे भिन्नता तो है ही। अतः अनेक पिण्डों में होने वाली यह एकाकारक प्रतीति गोभिन्न की व्यावृत्ति के विषय में ही होती है। यह किसी विधिरूप गोत्व आदि

सामान्य के विषय में नहीं होती है। (नैयायिक कहते हैं कि) किन्तु बौद्धों का यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि विधिमुख (भावरूप) से ही इस समानाकार का स्फुरण (प्रतीति) हुआ करता है, निषेध रूप में नहीं।

व्याख्या -

'नित्यम् एकम् अनेकानुगतम् सामान्यम्' यह जो नैयायिकों का सामान्य का (जाति का) लक्षण है, उसे बौद्ध नहीं मानते। उनका कहना है व्यक्ति से भिन्न जाति नहीं होती है, क्योंकि व्यक्ति ही अर्थ क्रियाकारी है। जैसे अग्नि ही पकाती है, अग्नित्व नहीं। अतः व्यक्ति से भिन्न सामान्य पदार्थ नहीं है।

भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में समानाकारक प्रतीति भावात्मक धर्म के कारण नहीं होती है, अपितु निषेधात्मक धर्म के कारण होती है। अतद्-व्यावृत्ति (तद्भिन्नभिन्नत्व) निषेधात्मक धर्म का स्वरूप है। जैसे सभी गो व्यक्तियों में गो से भिन्न अगो, अश्वादि की अपेक्षा भिन्नता है। सभी गोव्यक्ति गोभिन्न अश्वादि से भिन्न हैं, यही एकाकारता है। इसी निषेधात्मक धर्म के द्वारा उन गो व्यक्तियों में समानाकारक प्रतीति होती है।

नैयायिकों का कहना है कि सभी गोव्यक्तियों में समानाकारक प्रतीति भावात्मक हैं। सभी गो व्यक्तियों में गोत्व समान है। अतद्व्यावृत्ति जो निषेध रूप है उससे एकाकार की प्रतीति अनुभव सिद्ध नहीं है। अतः बौद्धों का कथन मान्य नहीं है।

धर्म-अधर्म सुख और दुःख के असाधारण कारण को कहते हैं। वे अनुमानप्रमाण से जाने जाते हैं।

स्वयं आकलन कीजिए –

अभ्यास प्रश्न - 3

1. सामान्य (जाति) का स्वरूप कैसा है?
2. सामान्य किसे कहते हैं?
3. व्यक्ति से अतिरिक्त सामान्य (जाति) नहीं होता है – यह किस दर्शन का कथन है?
4. बौद्धों के अनुसार किसके कारण से एकाकार की प्रतीति हो सकती है?

16.6 सारांश

न्यायशास्त्र में बताया गया है कि शब्द विनाशशील अर्थात् अनित्य है। शब्द एक निश्चित् क्षण के बाद नाशवान हो जाता है। जैसे ही कोई शब्द निकलता है तो उसी समय उसको सुना जा सकता है, क्योंकि तुरन्त ही शब्द की सत्ता ओझल हो जाती है।

न्याय वैशेषिक में बताया गया है कि जो अर्थ का प्रकाश करे वह बुद्धि है। यह बुद्धि दो प्रकार की होती है - नित्य और अनित्य। प्रीति अथवा आनन्द को सुख को कहा गया है। पीड़ा को दुःख कहते हैं अर्थात् जिससे शारीरिक अथवा मानसिक कष्ट हो। राग का नाम इच्छा है और क्रोध का नाम द्वेष है। उत्साह को प्रसन्न कहते हैं।

अंतिम गुण संस्कार है। संस्कार सम्बन्धी व्यवहार के असाधारण कारण को संस्कार कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है - वेग, भावना और स्थितिस्थापक।

संस्कारों के बाद कर्म का कथन किया गया है। चलने की क्रिया ही कर्म है। कर्म केवल मूर्त द्रव्यों में रहता है। कर्म केवल मूर्त द्रव्यों में रहता है। कर्म प्रथम क्षण में उत्पन्न होकर पञ्चम क्षण में नष्ट हो जाता है। कर्म के पाँच गुण बताए गए हैं - भ्रमण, रेचन, स्यन्दन, ऊर्ध्वज्वलन और तिर्यग्।

न्यायशास्त्र के अनुसार समानाकारक प्रतीति के निमित्त सामान्य कहते हैं। यह सामान्य द्रव्य, गुण एवं कर्म इन तीनों में रहता है। सामान्य के दो भेद हैं - पर और अपर सामान्य।

16.7 कठिन शब्दावली

विनाशित्वम् = विनाशशील होना, योगिनिरासार्थम् = योगियों के बाहोन्द्रिय के निरास के लिए, प्रतिकूलवेदनीयम् = प्रतिकूल अनुभव किया जाना, चतुष्टयमनोवृत्तिः = मन की चार प्रकार की वृत्ति, संस्कारव्यवहारासाधारणं = संस्कार सम्बन्धी व्यवहार का असाधारण, चलनात्मकं = चलनस्वरूप वाला (गति क्रिया रूप), अपक्षेपण = अधोगमन, कुञ्चन = सिकोड़ना, अतद्व्यावृत्तिकृता = उससे भिन्न की भिन्नता के कारण।

16.8 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर -

अभ्यास प्रश्न - 1

1. नित्य और अनित्य
2. बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न
3. धर्म और अधर्म
4. वेग, भावना और स्थितिस्थापक

अभ्यास प्रश्न – 2

1. मूर्त द्रव्यों में
2. उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन
3. तृतीय क्षण में
4. आकुञ्चन

अभ्यास प्रश्न - 3

1. नित्य है, एक है और अनेकों से अनुगत है
2. समान प्रतीति के निमित्त धर्म को
3. बौद्ध दर्शन का
4. अतद्व्यवृत्ति (तद्भिन्न – भिन्नता)

16.9 सहायक ग्रन्थ

1. तर्कभाषा, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणि, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी-221001, संस्करण-12, 2013.
2. तर्कभाषा, टीकाकार, पण्डित श्रीरुद्रधर झा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-221001, संस्करण-7, 2021.
3. तर्कभाषा, व्याख्याकार डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-221001, संस्करण-2013.
4. तर्कभाषा, व्याख्याकार एवं सम्पादक डॉ. अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर-302001, संस्करण-2021.
5. तर्कभाषा, व्याख्याकार श्रीबदरीनाथशुक्ल, मोतीलाल बनारसी दास, चौक वाराणसी, प्रथम संस्करण-1968.

16.10 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न -

1. तर्कभाषा के अनुसार कर्मनिरूपण की व्याख्या करें।
2. तर्कभाषा के अनुसार सामान्य (अर्थ) का अपने शब्दों में व्याख्या करें।

इकाई - सत्रह

अर्थ और बुद्धि निरूपण

संरचना

17.1 प्रस्तावना
17.2 उद्देश्य
17.3 अर्थ निरूपण
  17.3.1 विशेष
  17.3.2 समवाय
    • स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न
17.4 बुद्धि निरूपण
    • स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न
17.5 सारांश
17.6 कठिन शब्दावली
17.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर
17.8 सहायक ग्रन्थ
17.9 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न

17.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियो, इस इकाई में विशेष, समवाय, अभाव, विज्ञानवाद निरास और बुद्धि का उल्लेख किया जा रहा है। कब और किसे विशेष कहा जाता है। समवाय और अभाव का यद्यपि पहले भी उल्लेख कर दिया गया है, फिर भी प्रसंगवश यहाँ पर इनका दोबारा वर्णन किया जा रहा है। समवाय सम्बन्ध क्या है और किन पदार्थों में होता है? अभाव की प्रतीति कहाँ और कब होती है? इसी तरह विज्ञनवाद निरास और बुद्धि के बारे में भी सामान्य चर्चा की गई है, जो आप लोगों का ज्ञानवर्धन करेगी।

17.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से विद्यार्थियों को नम्नलिखित जानकारी उपलब्ध होगी –

- विशेषनिरूपण,
- समवाय निरूपण,
- अभाव निरूपण,
- विज्ञानवादनिरास निरूपण और
- बुद्धि निरूपण

17.3 अर्थ निरूपण

इससे पूर्व की इकाइयों में चार अर्थ पदार्थों का निरूपण किया जा चुका है। इस इकाई शेष अर्थ पदार्थों का निरूपण किया जा रहा है।

17.3.1 विशेष निरूपण

विशेषो नित्यो नित्यद्रव्यवृत्तिः। व्यावृत्तिबुद्धिमात्रहेतुः। नित्यद्रव्याणि तु आकाशादीनि पञ्च, पृथिव्यादयश्चत्वारः परमाणुरूपाः।

शब्दार्थ -

नित्यद्रव्यवृत्तिः = नित्यद्रव्यों में रहता है, नित्यद्रव्याणि = नित्य द्रव्य, आकाशादीनि = आकाशदि।

गद्यार्थ -

विशेष नित्य पदार्थ है और नित्यद्रव्यों में रहता है। यह एक पदार्थ की दूसरे पदार्थ से भिन्नता को प्रदर्शित करने की बुद्धि का कारणमात्र है। नित्य द्रव्य आकाश, काल, दिक्, आत्मा एवं मन ये पाँच तथा पृथिवी, जल, तेज एवं वायु के परमाणु रूप हैं।

व्याख्या -

वैशेषिक नित्य द्रव्यों में एक भेदक धर्म को मानते हैं, जिस कारण नित्य द्रव्यों में परस्पर भिन्नता की प्रतीति हुआ करती है। यह भेदक धर्म ही विशेष कहलाता है। अनेकों घटों में अनेकों मनुष्यों में जो परस्पर भिन्नता है, वह अवयवभेद के कारण है। जो अन्त्यावयव परमाणु है, उसमें भी भिन्नता है। परमाणु में अवयव भेद नहीं है। जलीय परमाणु से पार्थिव परमाणु को पार्थिव परमाणु से तैजस परमाणु को और तैजस परमाणु से वायव्यपरमाणु को तथा परस्पर इन चारों के परमाणुओं को एक दूसरे से भिन्न कैसे जाना जाए, इस हेतु विशेष पदार्थ की कल्पना की गई है। नित्य द्रव्य-परमाणु में रहने वाला विशेष ही एक परमाणु को दूसरे परमाणु से भिन्न होने का बोध कराता है।

विशेष का स्वरूप स्वतः व्यावृत्त है। यह स्वयं भेदक है। इसका भेदक कोई नहीं है। यह अन्तिम भेदक धर्म है। विशेष पदार्थ को अंगीकार करने के कारण विशेष शब्द के आधार पर इस दर्शन का नाम वैशेषिक दर्शन पड़ा है।

17.3.2 समवाय निरूपण

अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः। स चोक्त एव।

नन्ववयवावयविनावप्ययुतसिद्धौ तेन तयोः सम्बन्धः समवाय इत्युक्तम्। न चैतद् युक्तम्। अवयवातिरिक्तस्यावयविनोऽभावात्। परमाणव एव बहवस्तथाभूताः सन्निकृष्टाः घटोऽयं घटोऽयमिति गृह्यन्ते।

अत्रेच्यते। अस्त्येकः स्थूलो घट इति प्रत्यक्षा बुद्धिः। न च सा परमाणुष्वने- केष्वस्थूलेष्वतीन्द्रियेषु भवितुमर्हति। भ्रान्तेयं बुद्धिरिति चेत्। न। बाधकाभावात्। तदेवं घट् पदार्था द्रव्यादयो वर्णिताः। ते च विधिमुऽप्रत्ययवेद्यत्वाद् भावरूपा एव।

शब्दार्थ -

अयुतसिद्धयोः = अयुतसिद्धों का, अवयवावयविनौ = अवयव और अवयवी, इत्युक्तम् = ऐसा कहा गया है, एतद्युक्तम् = यह कहा है, भ्रान्ता = भ्रान्ति है, बाधकाभावात् = बाधक नहीं है।

गद्यार्थ -

अयुतसिद्धों का सम्बन्ध 'समवाय' होता है, यह पूर्व में ही बता दिया गया है।

(बौद्धों का प्रश्न) - अवयव और अवयवी अयुतसिद्ध हैं। अतः इन दोनों का सम्बन्ध समवाय है, ऐसा कहा गया है। किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि अवयवों से भिन्न अवयवी होते ही नहीं हैं। वस्तुतः अवयवी के रूप में हो जाने वाले बहुत से परमाणु (अवयव) ही इन्द्रिय से सन्निकृष्ट होकर 'यह घट है, यह पट है' इस रूप में गृहीत होते हैं।

(नैयायिक का समाधान) यहाँ नैयायिक कहते हैं कि 'एक स्थूल घट है' इस प्रकार की प्रत्यक्ष प्रतीति (बुद्धि) होती है। वह प्रतीति एक न होने वाले, स्थूल न होने वाले तथा इन्द्रिय ग्राह्य न होने वाले परमाणुओं में नहीं हो सकती है। यदि बौद्ध 'स्थूल घट की प्रतीति भ्रान्ति है' ऐसा कहें, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि स्थूल घट की प्रतीति में बाधक का अभाव है।

व्याख्या -

'नन्ववयवा --- गृहान्तेनैयायिक' अवयव एवं अवयवी में समवाय सम्बन्ध मानते हैं। इस पर बौद्धों की आपत्ति है। उनका मानना है कि समवाय सम्बन्ध है। सम्बन्ध दो पर आश्रित रहता है। किन्तु अवयव (परमाणु) अवयवी से भिन्न नहीं हैं। एक पट या एक घट अनेकों तन्तु-अवयवों या मिट्टी के अवयवों से भिन्न नहीं है। दृश्यमान सभी पदार्थ परमाणुओं का समूह मात्र है।

नैयायिक इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं कि 'एक स्थूल घट है' यह प्रतीति प्रत्यक्ष है। अतः घट अवयवी है और कपालादि अवयव हैं। उन दोनों में समवाय सम्बन्ध है। दूसरी बात यह है कि घट की आकृति में सन्निविष्ट जो अनेक परमाणु हैं, वे अनेक हैं, सूक्ष्म हैं तथा अतीन्द्रिय हैं। अतः उनमें एकत्व और स्थूलत्व का ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः परमाणुसमूहों के अतिरिक्त घटरूप अवयवी का प्रत्यक्ष होने से अवयव एवं अवयवी में समवायसम्बन्ध माना ही जाना चाहिये। 'स्थूल घट की प्रतीति भ्रान्ति है' यह भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि उस प्रतीति का बाधक कोई नहीं है।

- **अभाव पदार्थ**

इदानीं निषेधमुखप्रमाणगम्योऽभावरूपः सप्तमः पदार्थः प्रतिपाद्यते। स च अभावः संक्षेपतो द्विविधः। संसर्गाभावोऽन्योन्याभावश्चेति। संसर्गाभावोऽपि त्रिविधः। प्रागभावः, प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ता- भावश्चेति।

उत्पत्तेः प्राक् कारणे कार्यस्याभावः प्रागभावः। यथा तन्तुषु पटाभावः। स चानादिरुत्पत्तेरभावात्। विनाशी च, कार्यस्यैव तद्विनाशरूपत्वात्।

उत्पन्नस्य कारणेऽभावः प्रध्वंसाभावः। प्रध्वंसो विनाश इति यावत् । यथा भग्ने घटे कपालमालायां घटाभावः। स च मुद्गरप्रहारादिजन्यः । स चोत्पत्तिमानप्यविनाशी नष्टस्य कार्यस्य पुनरनुत्पत्तेः ।

त्रैकालिकोऽभावोऽत्यन्ताभावः। यथा वायौ रूपाभावः। अन्योऽन्याभावस्तु तादात्म्यप्रतियोगिताकोऽभावः। 'घटः पटो न भवति।' तदेवमर्था व्याख्याताः।

शब्दार्थ -

निषेधमुखप्रमाणगम्यः = निषेधमुखप्रमाण से गम्य, प्रतिपाद्यते = प्रतिपादित किया जा रहा है, उत्पत्तेः = उत्पत्ति से, कार्यस्याभावः = कार्य का अभाव, उत्पन्नस्य = उत्पन्न हुए का, नष्टस्य= नष्ट हुए का, त्रैकालिकः = तीनों कालों में, प्रतियोगिताकः = प्रतियोगी का, व्याख्याताः = व्याख्यान।

गद्यार्थ -

अब निषेधात्मक प्रमाण से जानने योग्य 'अभाव' नामक सातवें पदार्थ का प्रतिपादन किया जा रहा है। वह अभाव संक्षेप में दो प्रकार का है – 1. संसर्गाभाव और 2. अन्योऽन्याभाव। संसर्गाभाव भी तीन प्रकार का है – 1. प्रागभाव, 2. प्रध्वंसाभाव और 3. अत्यन्ताभाव।

उत्पत्ति से पूर्व कारण में जो कार्य का अभाव है, वह प्रागभाव है। जैसे तन्तुरूप कारणों में पटरूप कार्य का अभाव। प्रागभाव अनादि है क्योंकि उसकी उत्पत्ति नहीं होती है। वह विनाशी है। पटरूप कार्य ही प्रागभाव का विनाश रूप है।

उत्पन्न हुए घटादि कार्य का कारण में अभाव होना प्रध्वंसाभाव है। प्रध्वंस का अर्थ विनाश ही है। जैसे घट के टूट जाने पर कपाल समूह में घट का अभाव (प्रध्वंस) हो जाता है। प्रध्वंसाभाव मुद्गर के प्रहार आदि से उत्पन्न होता है। प्रध्वंसाभाव उत्पत्तिमान् होते हुए भी अविनाशी है, क्योंकि नष्ट हुए कार्य की पुनः उत्पत्ति नहीं होती है।

त्रैकालिक (भूत, भविष्यद्, वर्तमानकालिक) अभाव अत्यन्ताभाव है। जैसे 'वायु में रूप का अभाव'। अन्योऽन्याभाव तादात्म्य प्रतियोगिताक अभाव है। जैसे घट पट नहीं होता। (यहाँ घट में पट के अभेद का तथा पट में घट के अभेद का अभाव होता है।)

इस तरह अर्थों की व्याख्या पूर्ण हुई।

व्याख्या -

वैशेषिक सूत्र में छः भाव पदार्थों का ही उल्लेख हुआ है। सूत्र में पठित चकार के बल से बाद के आचार्यों ने अभाव नामक एक पदार्थ को स्वीकार किया। इस तरह सात पदार्थ हुए। छः भाव पदार्थ - द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय तथा सातवाँ अभाव।

अभाव पदार्थ निषेधमुखप्रमाणगम्य है। जिसमें निषेध प्रधान है, उस प्रमाण से प्रतीति का विषय होना अभाव है। संसर्गाभाव संसर्ग का अर्थ है सम्बन्ध। संयोग या समवाय सम्बन्ध से जब एक पदार्थ में अन्य पदार्थ का अभाव हो तब वह संसर्गाभाव कहलाता है। जैसे 'इह भूतले घटो नास्ति'। यहाँ पर भूतल में संयोग सम्बन्ध से घट का अभाव बताया जाता है।

तन्तुषु पटाभावः - तन्तुओं में पट का अभाव। तन्तुओं में पट की उत्पत्ति से पूर्व पट का अभाव है। तन्तुओं में जो पटाभाव है, वह समवाय सम्बन्ध से है। वस्तुतः यह अभाव संसर्ग-विरोधी है। संसर्गाभाव के तीनों भेद - प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव एवं अत्यन्ताभाव अपने प्रतियोगी के संसर्ग के विरोधी है।

'प्रतियोगी यस्याभावः सः प्रतियोगी' अर्थात् जिसका अभाव होता है वह पदार्थ प्रतियोगी है। जैसे पटाभावः में अभाव का प्रतियोगी पट हुआ। दो पदार्थों के तादात्म्य का अभाव अन्योऽन्याभाव सिद्ध होता है। जैसे 'घटो न पटः' घट पट नहीं है। यहाँ घट एवं पट के अभेद का निषेध हुआ है। घट का अपने स्वरूप के साथ तादात्म्य है, पट के साथ नहीं।

नव्य न्याय की शैली में अभाव को प्रकट करने के लिए एक परिष्कृत शब्दावली का प्रयोग होता है। इसमें प्रायः प्रतियोगी अनुयोगी प्रतियोगिताऽवच्छेदक आदि का प्रयोग किया जाता है। इसे समझना आवश्यक है।

1. प्रतियोगी - जिसका अभाव होता है, उसको अभाव का प्रतियोगी कहते हैं। यस्याभावः स प्रतियोगी। जैसे पटाभावः में अभाव का प्रतियोगी पट, घटाभावः में अभाव का प्रतियोगी घट होता है।

2. अनुयोगी - जो अभाव का अधिकरण या आधार होता है, वह अभाव का अनुयोगी कहलाता है। यथा भूतले घटाभावः इसमें, अभाव का अधिकरण भूतल है तथा प्रतियोगी घट है। अतः इसे न्याय की शब्दावली में 'भूतलानुयोगिकघटप्रतियोगिकः अभावः कहेंगे।

3. प्रतियोगितावच्छेदकः - प्रतियोगी का अधिकरण अथवा अनुयोगी के साथ जो सम्बन्ध होता है, वही सम्बन्ध अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक या प्रतियोगितानियामक होता है अर्थात् किसी अधिकरण में प्रतियोगी के किसी संयोगादि सम्बन्ध से रहने का अभाव इसमें दिखलाया जाता है।

प्रतियोगी में अभाव की प्रतियोगिता रहती है। प्रतियोगिता जब सम्बन्ध से विशिष्ट या युक्त होती है तब उसे अवच्छिन्न कहते हैं। इस तरह 'भूतले घटो नास्ति' इसको न्याय की परिष्कृत शब्दावली में- 'भूतलानुयोगिक घटप्रतियोगिकसंयोगसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकः अभावः । अथवा भूतलानुयोगिक संयोगसम्बन्धावच्छिन्न-घटप्रतियोगिताकः अभावः' यह कहेंगे।

प्रागभाव - असत् कार्यवादी नैयायिक एवं वैशेषिक के मत में उत्पत्ति से पूर्व कारणों में कार्य अभाव रहता है। यही प्रागभाव है। प्रागभाव अनादि है अर्थात् इसकी भी उत्पत्ति नहीं होती है। कारण में कार्य का प्रागभाव अनादिकाल से है। कार्य की उत्पत्ति हो जाने पर प्रागभाव नष्ट हो जाता है, अतः प्रागभाव विनाशी है। कार्य ही उसका विनाश रूप है।

प्रध्वंसाभाव - उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थ नाशवान् हैं। उत्पन्न कार्य का कारण में अभाव होना प्रध्वंसाभाव है। यथा घट पर मुद्गर आदि से प्रहार करने पर घट का नाश हो जाता है। कपाल मात्र शेष रहता है। कपाल जो कारण है उसमें घट कार्य का यह प्रध्वंस नाश ही प्रध्वंसाभाव है। यह उत्पन्न होता है। अतः उत्पत्तिमान् है, किन्तु अविनाशी है। प्रध्वंसाभाव उत्पन्न होकर सदा रहता है, क्योंकि नष्ट कार्य की पुनः उत्पत्ति नहीं होती है।

अत्यन्ताभावः - तीनों कालों में जो अभाव रहे वह अत्यन्ताभाव है। यह नित्य अभाव है। यथा- वायु में रूप का अभाव। वायु में न रूप है न था, न होगा। इस तरह वायु में रूप का अत्यन्ताभाव नित्य है।

अत्यन्ताभाव एवं अन्योऽन्याभाव का भेद - अत्यन्ताभाव एवं अन्योऽन्याभाव दोनों नित्य है। तादात्म्य सम्बन्ध से होने वाला अभाव अन्योऽन्याभाव है तथा संयोग व समवाय सम्बन्ध से होने वाला अभाव अत्यन्ताभाव है।

- **विज्ञानवादनिरास निरूपण**

ननु ज्ञानाद् ब्रह्मणो वा अर्था व्यतिरिक्त न सन्ति। मैवम्। अर्थानामपि प्रत्यक्षादिसिद्धत्वेनाशक्यापलापत्वात्।

शब्दार्थ -

व्यतिरिक्तः =भिन्त्र, अर्थानाम् = अर्थों के, सिद्धत्वेन = होने के कारण।

गद्यार्थ -

(विज्ञानवादी बौद्ध एवं ब्रह्मवादी वेदान्ती के अनुसार)

(प्रश्न है) ज्ञान अथवा ब्रह्म से अतिरिक्त (द्रव्यादि) अर्थों की सत्ता नहीं हैं। नैयायिक समाधान करते हुए कहते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ये द्रव्यादि पदार्थ भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध हैं, अतः इनका निषेध करना सम्भव नहीं है।

व्याख्या -

विज्ञानवादी बौद्ध ज्ञान के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। उनके मत में सम्पूर्ण जगत् क्षणिक विज्ञान का स्वरूप है। विज्ञान में जगत् स्वरूप को कल्पित कर लिया जाता है। स्वप्न में जैसे पदार्थ का अस्तित्व नहीं होता है केवल ज्ञान ही रहता है, फिर भी सारे लौकिक व्यवहार सम्पन्न होते हैं, उसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में भी अर्थों

के बिना ही ज्ञान मात्र से सारा लौकिक व्यवहार सम्पन्न हो जाता है। अतः विज्ञान से अतिरिक्त किसी पदार्थ की सत्ता नहीं है। दृश्यमान जगत् स्वप्न के समान कल्पना एवं मिथ्यामात्र है।

अद्वैतवेदान्ती ब्रह्म को ही पारमार्थिक रूप में सत् मानते हैं। इनके अनुसार ब्रह्म की पारमार्थिक-सत्ता है। जगत् ब्रह्म का विवर्त मात्र है। इनके अनुसार सत्ता तीन प्रकार की है -

1. पारमार्थिकी, 2. व्यावहारिकी 3. प्रातिभासिकी।

ब्रह्म में माया अथवा अविद्या द्वारा जगत् की कल्पना की जाती है। अतः जगत् की सत्ता व्यावहारिकी है और शुक्ती में रजत की प्रतीति के समान ब्रह्म में जगत् की प्रतीति प्रातिभासिकी मात्र है। सत्य नहीं है। परमसत्ता तो ब्रह्ममात्र की है। विवर्त का अर्थ है - अतात्त्विक प्रतीति या अन्यथा प्रतीति ।

इस तरह विज्ञानवादी तथा ब्रह्मवादियों के अनुसार विज्ञान एवं ब्रह्म से भिन्न किसी पदार्थ की सत्ता नहीं है।

नैयायिक कहते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रमाणों के आधार पर पदार्थों की सत्ता स्वीकार की जाती है। द्रव्य आदि सभी पदार्थों की सत्ता प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध है। अतः इनकी सत्ता स्वीकार नहीं करना उचित नहीं है।

स्वयं आकलन कीजिए –

अभ्यास प्रश्न - 1

1. एक पदार्थ की दूसरे पदार्थ से भिन्नता प्रदर्शित करने की बुद्धि के कारणमात्र पदार्थ का नाम क्या है?
2. बौद्ध अवयव और अवयवी के बीच समवाय सम्बन्ध को क्यों नहीं मानते?
3. अभाव पदार्थ के कितने भेद हैं?
4. उत्पत्ति से पूर्व कारण में कार्य के अभाव का क्या नाम है?
5. उत्पन्न हुए घटादि कार्य का कारण में अभाव होना क्या कहलाता है?
6. त्रैकालिक अभाव किसे कहते हैं?

17.4 बुद्धि निरूपण

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इत्यादिभिः पर्यायशब्दैर्याऽभिधीयते सा बुद्धिः। अर्थप्रकाशो वा बुद्धिः। सा च संक्षेपत्तो द्विवधा। अनुभवः स्मरणं च। अनुभवोऽपि द्विविधो, यथार्थोऽयथार्थश्चेति।

तत्र यथार्थऽविसंवादी। स च प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्जन्यते। यथा चक्षुरादिभिरदुष्टैर्घटादिज्ञानम्। धूमलिंगकमग्निज्ञानम्। गोसादृश्यदर्शनाद् गवयशब्दवाच्यताज्ञानम्। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्याज्योतिष्टोमस्य स्वर्गसाधनताज्ञानञ्च ।

शब्दार्थ -

अर्थप्रकाशो = अर्थ का प्रकाश अथवा ज्ञान, धूमलिंगकम् = धूमरूप हेतु से, ज्योतिष्टोमस्य = ज्योतिष्टोम यज्ञ का, स्वर्गसाधनताज्ञानम् = स्वर्ग साधनता का ज्ञान।

गद्यार्थ -

बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान, प्रत्यय इत्यादि पर्यायवाची शब्दों से जिसे कहा जाता है वह बुद्धि है। अथवा अर्थ के ज्ञान को ही बुद्धि कहते हैं। वह बुद्धि संक्षेप में दो प्रकार की है – 1. यथार्थ और 2. अयथार्थ।

उनमें अर्थ के विपरीत न होने वाला अनुभव यथार्थ है और वह प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाणों से उत्पन्न होता है। दोषरहित नेत्रदि इन्द्रियों से घटादि का ज्ञान (प्रत्यक्ष प्रमाण से) होता है। धूमरूप लिंग (हेतु) द्वारा अग्नि का ज्ञान (अनुमान प्रमाण से) होता है। गवय में गाय की समानता के ज्ञान से गवय शब्द के अर्थ का ज्ञान (उपमान प्रमाण से) होता है। 'स्वर्ग की कामना रखने वाला ज्योतिष्टोम याग करे' इत्यादि वाक्य से (शब्द प्रमाण से) ज्योतिष्टोम याग की स्वर्ग साधनता का ज्ञान होता है।

व्याख्या -

न्यायसूत्र के अनुसार द्वादश प्रमेयों में बुद्धि भी एक है। उपलब्धि ज्ञान प्रत्यय (प्रतीति) ये बुद्धि के पर्याय शब्द हैं। अतः इसका लक्षण कहा गया - अर्थप्रकाशो बुद्धिः अर्थ का ज्ञान बुद्धि है। यथा अयं घटः अयं पटः इत्यादि रूप में घट-पटादि का ज्ञान बुद्धि है।

अर्थाविसंवादी बुद्धि के अनुभव और स्मरण ये दो भेद हैं। अनुभव भी यथार्थ और अयथार्थ के भेद से दो प्रकार का है। यथार्थ अनुभव अर्थ से मेल खाने वाला, अर्थ के विपरीत न होने वाला ज्ञान है।

अयथार्थस्तु अर्थव्यभिचारी, अप्रमाणजः। स त्रिविधः। संशयस्तर्को विपर्ययश्चेति, संशयतर्को वक्ष्येते।

विपर्ययस्तु अतस्मिंस्तद्ग्रहः। भ्रम इति यावत्। यथा पुरोवर्तिन्यरजते शुक्तिकादौ रजतारोपः, 'इदं रजतम्' इति ।

स्मरणमपि यथार्थमयथार्थञ्चेति द्विविधम्। तदुभयं जागरे। स्वप्ने तु सर्वं ज्ञानं स्मरणमयथार्थञ्च। दोषवशेन तदिति स्थाने इदमित्युदयात्।

सर्वञ्च ज्ञानं निराकारमेव न तु ज्ञानेऽर्थेन स्वस्याकारे जन्यते। साकारज्ञानवादनिराकरणात्। अत एवाकारेणार्थानुमानमपि निरस्तम्। प्रत्यक्षसिद्धत्वाद् घटादेः। सर्वं ज्ञानमर्थनिरूप्यं, अर्थप्रतिबद्धस्यैव तस्य मनसा निरूपणात्। घटज्ञानवानहं, इत्येतावन्मात्रं गम्यते न तु 'ज्ञानवानहम्' इत्येतावन्मात्रं ज्ञायते।

शब्दार्थ -

अयथार्थः = अयथार्थ अनुभव, अप्रमाणजः = प्रमाण रहित, संशयतर्कौ = संशय और तर्क, अतस्मिन् = उससे भिन्न में, अरजते = रजत से भिन्न, शुक्तकादौ = सीपी आदि में, उभयम् - दोनों प्रकार का, जागरे = जाग्रत अवस्था में, दोषवशेन = दोष के कारण।

गद्यार्थ -

अयथार्थ अनुभव अर्थ का व्यभिचारी अर्थात् अनुसरण करने वाला नहीं होता है क्योंकि वह प्रमाणों से उत्पन्न नहीं होता। अयथार्थ तीन प्रकार का है – 1. संशय, 2. तर्क और 3. विपर्यय। संशय और तर्क को आगे कहा जायेगा। उससे भिन्न वस्तु में उस वस्तु का ज्ञान विपर्यय है अर्थात् भ्रम है। जैसे सामने विद्यमान रजत से भिन्न सीपी आदि में 'यह रजत है' इस प्रकार से रजत का आरोप करना विपर्यय है।

स्मरण भी यथार्थ और अयथार्थ भेद से दो प्रकार का है। यह दोनों प्रकार का अनुभव जाग्रत् अवस्था में होता है। स्वप्न में सारा ज्ञान स्मरणरूप और अयथार्थ होता है। दोष के कारण से 'वह' के स्थान पर 'यह' का भान होता है।

सारा ज्ञान निराकार ही होता है। अर्थ, ज्ञान में अपना आकार उत्पन्न नहीं करता है, साकार ज्ञानवाद का खण्डन हो जाने से। घटादि के प्रत्यक्ष सिद्ध होने से आकार से अर्थ का अनुमान भी खण्डित हो जाता है। सारा ज्ञान अर्थ से निरूपित होता है। मैं 'घटज्ञानवान् हूँ' यही प्रतीत होता है, केवल 'ज्ञानवानहम्' इतना ही प्रतीत नहीं होता। अतः सारा ज्ञान अर्थ से निरूपित होता है।

व्याख्या -

अर्थ के साथ नहीं चलने वाला अर्थव्यभिचारी होता है, क्योंकि यह प्रमाणों से जन्य नहीं है। विपर्यय- अयथार्थ अनुभव का तीसरा भेद विपर्यय है। इसे भ्रम या भ्रान्ति भी कहते हैं। जो जहाँ नहीं है, या जैसा नहीं है, उसे, वहाँ या वैसा समझ लेना विपर्यय है।

अयथार्थ अनुभव के विषय में भारतीय दर्शन में अनेक पक्ष हैं। इसका विवेचन ख्यातिवाद के नाम से प्रसिद्ध है। शुक्ति में रजत की प्रतीति कैसे होती है। इसको लेकर पञ्चख्याति प्रसिद्ध है। जैसे आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा । तथाऽनिर्वचनख्यातिरित्येतत् ख्यातिपञ्चकम् ।

आत्मख्याति - यह विज्ञानवादी बौद्ध का मत है। इनके मत में जो शुक्ति में रजत की प्रतीति होती है, वहाँ विज्ञान में वासनारूप में विद्यमान रजत भी भासित होता है। भ्रान्ति में प्रतीत होने वाला रजत विज्ञान का आत्म रूप ही है। अतः यहाँ आत्मख्याति ही है। विज्ञानवादी इस संसार की व्याख्या भी आत्मख्याति के आधार पर करते हैं।

असत् ख्याति - यह शून्यवादी माध्यमिक बौद्धों का मत है। इनके अनुसार सभी पदार्थों की सत्ता सापेक्ष है। यह सापेक्षता ही असत् या शून्य है। इनके मत में विज्ञान भी नहीं है। शून्य ही सभी रूपों में भासित होता है। अतः भ्रमात्मक स्थल में भी शून्य ही भासित होता है। शुक्ति में रजत की जो भ्रान्ति है, वहाँ रजत की ही प्रतीति नहीं होती, अपितु भ्रान्ति का आश्रय शुक्ति भी असत् है। असत् शुक्ति ही असत् रजत के रूप में भासित होती है। अतः यह असत्ख्याति है।

अख्याति - यह मीमांसक प्रभाकर का मत है। इनके अनुसार शुक्ति में इदं रजतम् - यह रजत है, यह ज्ञान एकज्ञान नहीं है। यहाँ इदम् अंश में प्रत्यक्षात्मक अनुभव (ग्रहण) है तथा रजत अंश में स्मरण है। दोष के कारण हम ग्रहण एवं स्मरण इन दो ज्ञानों के भेद नहीं जान पाते हैं। हमें भेदाग्रह या विवेकाग्रह होता है। यहाँ पर दोनों ज्ञान यथार्थ हैं, केवल विवेक (भेद) की ख्याति प्रतीति न होने से भ्रान्ति होती है। इसे ही अख्याति कहते हैं।

अन्यथाख्याति - यह न्याय एवं वैशेषिक दर्शन का पक्ष है। इनके अनुसार शुक्ति में रजत की जो प्रतीति है वहाँ शुक्ति अन्यरूप में अर्थात् रजत रूप में भासित होती है। यही अतस्मिन् तद्ग्रहः है। अन्यथा ख्यायते किसी वस्तु में अन्य प्रकार की प्रतीति हो यह अन्यथाख्याति शब्द का अर्थ है।

अनिर्वचनख्याति - यह अद्वैतवेदान्तियों का मत है। इनके मत में भ्रमस्थल में जिसकी ख्याति होती है, वह अनिर्वचनीय है। जैसे शुक्ति में रजत की जो प्रतीति होती है, उसमें रजत अनिवर्चनीय है। क्योंकि वह रजत सत् नहीं है। वह रजत यदि सत् होता तो उसका बाध भी नहीं होता। वह रजत शशशृङ्गवत् असत् भी नहीं है, यदि असत् होता तो उसकी प्रतीति नहीं होती। वह सदसद्रूप भी नहीं है, यदि सदसत् उभयरूप होता तो उपर्युक्त दोष प्राप्त होता। अतः यह मानना चाहिये कि शुक्ति में प्रतिभासिक रजत की उत्पत्ति हो जाया करती है, जिसका सत् या असत् किसी भी रूप में निर्वचन नहीं किया जा सकता है। इस तरह विपर्ययस्थल में अनिर्वचनीय रजत ही भासित होता है। वेदान्ती के अनुसार जगत् की व्याख्या अनिर्वचनीय ख्याति के आधार पर होती है।

स्मरण - यथार्थ अयथार्थ दोनों होते हैं। किन्तु जाग्रत् अवस्था में ये दोनों प्रकार के स्मरण हैं। स्वप्नदशा में तो अयथार्थ स्मरण ही होता है। स्वप्न का ज्ञान संस्कार मात्र से उत्पन्न होता है, प्रमाणों से नहीं। अन्य बात यह है कि स्वप्न में निद्रा आदि के दोष के कारण दूर तथा अविद्यमान वस्तु भी समीप और विद्यमान सी प्रतीत होती है। अतः स्वप्नकालिक स्मरण अयथार्थ ही होता है।

स्वयं आकलन कीजिए –

अभ्यास प्रश्न - 2

1. अर्थ के विपरीत न होने वाला अनुभव किससे उत्पन्न होता है?
2. अयथार्थ अनुभव के कितने भेद हैं?
3. मीमांसकों के मत में 'इदं रजतम्' में दो ज्ञान कौन-से हैं

17.5 सारांश

विशेष नित्य पदार्थ को कहते हैं जो नित्यद्रव्यों में रहता है। इसी से नित्य द्रव्यों में परस्पर भिन्नता की प्रतीति होती है। एक-दूसरे के साथ भिन्नता ही विशेष कहलाती है। अयुतसिद्धों पदार्थों के सम्बन्ध को 'समवाय' कहते हैं। बौद्धों ने इस बात को नहीं माना है, परन्तु नैयायिकों ने अपने तर्कों द्वारा बौद्धों के मत का खण्डन करके अपने मत के स्थापित किया है।

अभाव का पूर्व में वर्णन कर दिया गया है, परन्तु प्रसंगवश संक्षेप में यहाँ पर अभाव की चर्चा की गई है। अभाव पदार्थ निषेधमुखप्रमाणगम्य है। अभाव के दो भेद हैं – संसर्गाभाव और अन्योऽन्याभाव। संसर्गाभाव भी तीन प्रकार का बताया गया है – प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव।

बौद्ध ज्ञान के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार सम्पूर्ण जगत् क्षणिक विज्ञान का स्वरूप है और विज्ञान से अतिरिक्त किसी पदार्थ की सत्ता नहीं है। इसी प्रकार अद्वैतवेदान्ती ब्रह्म को ही पारमार्थ रूप में सत् मानते हैं, और ब्रह्म की पारमार्थिक-सत्ता है। नैयायिकों ने इन दोनों का समाधान करते हुए कहा है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध होने के कारण द्रव्यादि पदार्थ हैं, जिनका निषेध करना सम्भव नहीं है।

न्यायसूत्र में द्वादश प्रमेयों में बुद्धि को भी एक प्रमेय माना है। उन्होंने इसका लक्षण इस तरह किया है - अर्थप्रकाशो बुद्धिः अर्थ का प्रकाश करने वाली बुद्धि है। बुद्धि के अनुभव और स्मरण ये दो भेद हैं

17.6 कठिन शब्दावली

पृथिव्यादयश्चत्वारः = पृथिवी आदि चार, सन्निकृष्टाः = सन्निकृष्ट होकर, कपालमालायाम् = कपालसमूह में, मुद्गरप्रहारादिजन्यः = मुद्गर के प्रहार आदि से उत्पन्न, अभिधीयते = कही जाती है, अर्थाविसंवादी = अर्थ के विपरीत न जाने वाला, पुरोवर्तिनि = सामने विद्यमान।

17.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर -

अभ्यास प्रश्न - 1

1. विशेष
2. क्योंकि बौद्ध अवयव और अवयवी को भिन्न नहीं मानते
3. दो - संसर्गाभाव और अन्योऽन्याभाव
4. प्रागभाव
5. प्रध्वंसाभाव
6. अत्यन्ताभाव को

अभ्यास प्रश्न - 2

1. प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द से

2. तीन - संशय, तर्क और विपर्यय
3. अनुभव (ग्रहण) और स्मरण

17.8 सहायक ग्रन्थ

1. तर्कभाषा, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणि, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी-221001, संस्करण-12, 2013.
2. तर्कभाषा, टीकाकार, पण्डित श्रीरुद्रधर झा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-221001, संस्करण-7, 2021.
3. तर्कभाषा, व्याख्याकार डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-221001, संस्करण-2013.
4. तर्कभाषा, व्याख्याकार एवं सम्पादक डॉ. अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर-302001, संस्करण-2021.
5. तर्कभाषा, व्याख्याकार श्रीबदरीनाथशुक्ल, मोतीलाल बनारसी दास, चौक वाराणसी, प्रथम संस्करण-1968.

17.9 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न -

1. तर्कभाषा के अनुसार समवाय और अभाव निरूपण की विस्तृत व्याख्या करें।
2. केशव मिश्र के द्वारा बताए गए विज्ञानवाद निरास का उल्लेख करें।
3. तर्कभाषा के अनुसार बताए गए बुद्धि के स्वरूप पर प्रकाश डालें।

इकाई - अट्ठारह

मन आदि प्रमेय तथा संशयादि पदार्थ निरूपण

संरचना

18.1 प्रस्तावना
18.2 उद्देश्य
18.3 मन आदि प्रमेय निरूपण
  18.3.1 मन
  18.3.2 प्रवृत्ति
  18.3.3 दोष
  18.3.4 प्रेत्याभाव
  18.3.5 फल
  18.3.6 पीड़ा
  18.3.7 अपवर्ग
    - स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न-1
18.4 संशयादि पदार्थ निरूपण
  18.4.1 संशय निरूपण
  18.4.2 प्रयोजन निरूपण
  18.4.3 दृष्टान्त निरूपण
  18.4.4 सिद्धान्त निरूपण
  18.4.5 अवयव निरूपण
    - स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न-2
18.5 सारांश
18.6 कठिन शब्दावली
18.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर
18.8 सहायक ग्रन्थ
18.9 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न

18.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियो, इस इकाई में मन, प्रवृत्ति आदि का संक्षेप में निरूपण किया गया है, क्योंकि इनका उल्लेख पूर्व में हो चुका है। इसके बाद अपवर्ग, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त और अवयव का वर्णन किया गया है। इसमें अपवर्ग की प्राप्ति के बारे में बताया है कि अपवर्ग क्या है, कितने भेद हैं, इत्यादि। उसके बाद संशयात्मक ज्ञान की विस्तृत चर्चा की गई है। तदनन्तर प्रयोजन और दृष्टान्त की जानकारी दी गई है। अन्त में सिद्धान्त और अवयवों का वर्णन किया गया है।

18.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से विद्यार्थियों को निम्नलिखित जानकारी उपलब्ध होगी –

- मन, प्रवृत्ति आदि निरूपण,
- अपवर्ग, संशय, प्रयोजन,
- दृष्टान्त, सिद्धान्त और अवयव

18.3 मन आदि प्रमेय निरूपण

बारह प्रमेयों में से पाँच प्रमेयों का वर्णन पूर्व की इकाइयों में किया जा चुका है। इस इकाई में आगे की प्रमेयों का वर्णन किया जा रहा है।

18.3.1 मन

अन्तरिन्द्रियं मनः । तच्चोक्तमेव ।

18.3.2 प्रदृत्ति

प्रवृत्तिः धर्माधर्ममयी वागादिक्रिया, तस्या जगद्व्वहारसाधकत्वात् ।

18.3.3 दोष

दोषाः राग-द्वेष-मोहाः। राग इच्छा। द्वेषो मन्युः, क्रोध इति यावत्। मोहो मिथ्याज्ञानं विपर्यय इति यावत् ।

18.3.4 प्रेत्याभाव

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः। स चात्मनः पूर्वदेहनिवृत्तिः, अपूर्वदेहसघ्घातलाभः ।

18.3.5 फल

फलं पुनर्भोगः, सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारः ।

18.3.6 पीड़ा

पीडा दुःखम्, तच्चोक्तमेव ।

शब्दार्थ -

अन्तः इन्द्रियं = आन्तरिक इन्द्रिय, रागद्वेषमोहाः - राग, द्वेष और मोह, मन्युः = क्रोध।

गद्यार्थ -

अन्तः इन्द्रिय का नाम मन है। उसे पहले ही बता दिया गया है।

धर्म अधर्म रूप यागादि क्रिया को प्रवृत्ति कहते हैं। उस प्रवृत्ति के जगत के व्यवहार का साधक होने से।

राग, द्वेष और मोह, ये तीनों दोष हैं। राग इच्छा को कहते हैं। द्वेष क्रोध को कहते हैं। मोह मिथ्या ज्ञान को कहते हैं।

पुनः उत्पन्न होना प्रेत्यभाव कहलाता है। और वह प्रेत्यभाव आत्मा के पूर्वशरीर की निवृत्ति तथा नवीन शरीर की प्राप्ति है।

सुख और दुःख में से किसी एक के साक्षात्कार को फल कहते हैं।

पीड़ा को दुःख कहते हैं। उसे पहले बता दिया गया है।

व्याख्या -

वाणी आदि से जो कार्य किया जाता है वह प्रवृत्ति है। प्रवृत्ति तीन प्रकार की है - वाचिक, कायिक और मानसिक प्रवृत्ति, जो धर्म या अधर्म का निमित्त बनती है। न्यायसूत्र में 'प्रवृत्तिर्वाम्बुद्धिशरीरारम्भः' कहा गया है।

वाचिक प्रवृत्ति आठ प्रकार की है - असत्य, अहित, कठोरता, और पिशुनता ये चार पापमूला वाचिक प्रवृत्तियाँ हैं तथा चार धर्ममूला वाचिक प्रवृत्तियाँ ये हैं - सत्य, हित, प्रिय और स्वाध्याय। इस तरह ये आठ हैं।

कायिक प्रवृत्ति छह हैं। तीन पापमूला तीन धर्ममूला। पापमूला तीन हैं - हिंसा, चोरी और व्यभिचार। धर्ममूला तीन हैं - दान, रक्षा और सेवा।

मानसिक प्रवृत्तियाँ छह हैं। परद्रोह, परधनलिप्सा और नास्तिकता, ये तीन पापमूला मानसिक प्रवृत्तियाँ हैं और तीन धर्ममूला दया, अस्पृहा और श्रद्धा ये तीन हैं।

प्रेत्यभाव - प्रेत्यभावः उत्पत्तिर्वा। मरकर होना, अर्थात् उत्पत्ति प्रेत्यभाव है। प्रेत्यभाव पुनर्जन्म को कहते हैं। पुनरुत्पत्तिः में पुनः के लगने से बार-बार मरकर उत्पन्न होना प्रेत्यभाव माना जाना चाहिए। प्रश्न होता है कि आत्मा तो नित्य है, तब उसकी मृत्यु या उत्पत्ति सम्भव नहीं है। तब वह बार-बार मर कर जन्म कैसे ग्रहण करेगा।

उत्तर देते हुए तर्कभाषाकार ने 'स बात्मनः पूर्वदेहनिवृत्तिः' कहा है। अर्थात् आत्मा पूर्वदेह को छोड़कर एक नवीन देह इन्द्रिय समूह को प्राप्त करता है। इस तरह शरीर की मृत्यु या उत्पत्ति होती है। आत्मा की नहीं।

18.3.7 अपवर्ग

मोक्षोऽपवर्गः। स चैकविंशतिप्रभेदभिन्नस्य दुःखस्यात्यन्तिकी निवृत्तिः। एकविंशतिभेदास्तु शरीरं, षडिन्द्रियाणि, षड् विषयाः, षड् बुद्धयः, सुखं दुःखञ्चेति गौणमुख्यभेदात्। सुखं तु दुःखमेव दुःखानुषंगित्वात्। अनुषंगोऽविनाभावः। स चायमुपचारो मधुनि विषसंयुक्ते मधुनोऽपि विषपक्षनिक्षेपवत्।

स पुनरपवर्गः कथं भवति?

उच्यते। शास्त्रद् विदितसमस्तपदार्थतत्त्वस्य, विषयदोषदर्शनविरक्तस्य मुमुक्षोर्ध्यायिनो ध्यानपरिपाकवशात् साक्षात्कृतात्मनः क्लेशहीनस्य, निष्कामकर्मानुष्ठानादनागत- धर्माऽधर्मावनर्जयतः पूर्वोपात्तञ्च धर्माऽधर्मप्रचयं योगर्द्धिप्रभावाद् विदित्वा, समाहृत्य भुञ्जानस्य पूर्वकर्मनिवृत्तौ वर्तमानशरीरापगमे पूर्वशरीराभावाच्छरीराद्येकविंशतिदुःखसम्बन्धो न भवति, कारणाभावात्। सोऽयमेकविंशतिप्रभेदभिन्न-दुःखहानिर्मोक्षः। सोऽपवर्ग इत्युच्यते।

शब्दार्थ -

अपवर्गः = मोक्ष, एकविंशति = इक्कीस प्रकार का, प्रभेदभिन्नस्य = भेदों वाला, षड्बुद्धयः= छह बुद्धियाँ, गौणमुख्यभेदा - गौण और मुख्य भेद, विदितसमस्तपदार्थतत्त्वस्य = समस्त पदार्थों के सार को जान चुके, दोषविरक्तस्य = दोषों से विरक्त हो चुके, ध्यायिनः = ध्यान करने वाले को, क्लेशहीनस्य = क्लेशों से रहित, अनर्जयतः = अर्जन न करने वाल, पूर्वोपात्तं = पूर्व में अर्जित, विदित्वा = जानकर, समाहृत्य = इकट्ठा।

गद्यार्थ -

मोक्ष को अपवर्ग कहते हैं और वह अपवर्ग इक्कीस भेदों वाले दुःखों की आत्यन्तिक (सर्वथा) निवृत्ति है। गौण एवं मुख्य के भेद से दुःखों के इक्कीस प्रकार हैं - शरीर, छः इन्द्रियाँ, छः विषय, छः बुद्धि, सुख और दुःख।

दुःखों से अविनाभाव के कारण सुख भी दुःख ही है। सुख में दुःख का गौण व्यवहार (उपचार) वैसे ही है, जैसे कि मधु के विष से संयुक्त होने पर मधु को विष की कोटि में रख दिया जाता है।

यह अपवर्ग कैसे प्राप्त होता है? (यह प्रश्न है)

कहते हैं - शास्त्र के माध्यम से समस्त पदार्थों के सार को जान चुके, विषयों के दोषों के दर्शन से विरक्त, मोक्ष की इच्छा रखने वाले, ध्यान करने वाले, ध्यान के परिपाक से आत्मा का साक्षात्कार कर चुके, अत एव अविद्यादि पञ्चक्लेशों से रहित, निष्काम कर्म के अनुष्ठान के कारण नवीन धर्म और अधर्म को उपार्जित नहीं करने वाले और पूर्व में सि×चत धर्म-अधर्म समूह को योग की सिद्धि द्वारा जानकर, एक साथ उन्हें भोग डालने वाले व्यक्ति का, उसके पूर्व कर्मों की निवृत्ति हो जाने पर तथा वर्तमान शरीर के छूटने पर, नवीन शरीर की प्राप्ति न होने के कारण शरीर आदि इक्कीस दुःखों के साथ सम्बन्ध नहीं होता है, क्योंकि दुःखों के कारण धर्माधर्म का अभाव हो जाता है। वह यही इक्कीस प्रकार के भेदों से युक्त दुःख का नाश मोक्ष है। वही (मोक्ष) अपवर्ग है।

व्याख्या -

प्रमेयों में अपवर्ग बारहवाँ प्रमेय है, जिसे प्रमाण से सिद्ध किया जाता है। अपवर्ग की व्युत्पत्ति - अपवृज्यते मुच्यते संसारः अनेन अर्थात् जिससे संसार छूट जाये, अर्थात् जन्म एवं मृत्यु का बन्धन रूप संसार प्राप्त न हो वह अपवर्ग है।

प्रत्येक प्राणी कर्म से बँधा है। कर्म तीन प्रकार का है - प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण। प्रारब्ध कर्म को भोगने हेतु जन्म द्वारा शरीर धारण करना पड़ता है। प्रारब्ध के नाश के लिए उनके फलों का भोग आवश्यक है। सिञ्चित कर्म वे हैं जिनके द्वारा धर्माधर्म संचित हुआ है, जिनका भोग करने के लिए पुनः शरीर धारण करना पड़ता है। क्रियमाण कर्म वे हैं जो शरीर धारण के बाद किये जा रहे हैं।

इस तरह जन्म को दुःख शब्द से कहा गया है। बाद में इसमें शरीर, छह इन्द्रियाँ, छह विषय, छह बुद्धि, सुख और दुःख भी जुड़ गए। इस तरह दुःख के इक्कीस भेद हो गये। इन सभी दुःखों से आत्यन्तिक मुक्ति ही अपवर्ग है।

मीमांसक नित्य निरतिशय सुखाभिव्यक्ति को अपवर्ग या मोक्ष कहते हैं। परन्तु नैयायिक सुख को भी दुःख ही मानते हैं। सुख के सभी साधनों में दुःख तो है ही। पुनः सुख अतिशयभाव और समानभाव लिए हुए है। किसी का सुख किसी से कम या ज्यादा हो सकता है। समान भी हो सकता है। मोक्ष ऐसा नहीं है कि तुलनीय हो।

दुःख का अविनाभावी सुख है। सुख में दुःख रहते ही हैं। अतः सुख को भी तर्कभाषाकार दुःख ही मानते हैं। जैसे कि विषमिश्रित मधु भी विष ही होता है, भले ही वह मीठा लगे। अतः दुःखों से विमुक्त होना अपवर्ग है।

अपवर्ग कैसे प्राप्त होता है? यह प्रश्न है अर्थात् अपवर्ग के साधन एवं क्रम क्या हैं?

तर्कभाषाकार के अनुसार शास्त्र द्वारा सम्पूर्ण पदार्थ के तत्त्व को जानने वाला, विषय के दोषों को देखकर विषय से विरक्त, मोक्ष चाहने वाले ध्यान करने वाले तथा ध्यान का परिपाक हो जाने पर जब मनुष्य आत्मसाक्षात्कार कर लेता है, तब वह अविद्यादि क्लेशों से रहित होकर निष्काम कर्म करता है, अर्थात् क्रियमाण कर्म का द्वार बन्द करने हेतु काम्य कर्मों का परित्याग करता है। निष्काम कर्म के करने से धर्म-अधर्म का उपार्जन रुक जाता है। पूर्व सिञ्चित कर्म को भी आत्मसाक्षात्कार करने वाला योगसिद्धि से जान लेता है तथा उन्हें वर्तमान शरीर से ही एक साथ भोग लेता है। इससे सिञ्चितकर्म भी नष्ट हो जाते हैं। अब वर्तमान शरीर के छूटने

पर नया शरीर प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि शरीर के निमित्त तीनों कर्म तो रहे नहीं। इस तरह आत्मा का दुःख से सर्वथा सम्बन्ध छूट जाता है। यही मोक्ष या अपवर्ग प्राप्त होना है।

न्यायसूत्रकार के अनुसार दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान, इनमें से उत्तर उत्तर के विनाश से उसके अव्यवहित पूर्व पूर्व का विनाश हो जाने से अपवर्ग की प्राप्ति होती है। ग्रन्थकार ने 'शास्त्रद् विदितसमस्तपदार्थतत्त्वस्य' कहकर यह बताया है कि पदार्थों के तत्त्व ज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होता है। तत्त्वज्ञान शास्त्र से होता है अर्थात् शास्त्रज्ञान से लेकर आत्मसाक्षात्कार तक तत्त्वज्ञान की प्रक्रिया है। तत्त्वज्ञान का चरम उत्कर्ष आत्मसाक्षात्कार है। तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश, मिथ्याज्ञान के नाश से दोषों का नाश, दोषों के नाश से प्रवृत्ति का नाश, प्रवृत्ति के नाश से जन्म का अभाव एवं जन्म न होने से दुःखों से मुक्त होना ही अपवर्ग हैं।

स्वयं आकलन कीजिए –

अभ्यास प्रश्न - 1

1. धर्म अधर्म रूप यागादि क्रिया का नाम क्या है?
2. प्रेत्याभाव किसे कहते हैं?
3. इक्कीस भेदों वाले दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति को क्या कहते हैं?
4. गौण और मुख्य के भेद से दुःखों के इक्कीस प्रकार कौन-से हैं?
5. कितने भेदों से युक्त दुःख का नाश मोक्ष है?

18.4 संशयादि पदार्थ निरूपण

जिन सोलह पदार्थों के तत्त्व ज्ञान से निश्रेयस की प्राप्ति होती है, उनमें से प्रमाण और प्रमेय पदार्थ का पूर्व की इकाइयों में विस्तार से उल्लेख किया गया। इस इकाई में उससे आगे की पाँच इकाइयों का वर्णन किया जा रहा है।

18.4.1 संशय निरूपण

एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानार्थावमर्शः संशयः। स च त्रिविधः। विशेषादर्शने सति समानधर्मदर्शनजः, विप्रतिपत्तिजः, असाधारणधर्मजश्चेति। तत्रैको विशेषादर्शने सति समानधर्मदर्शनजः यथा 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति। एकस्मिन्नेव हि पुरोवर्तिनि द्रव्ये स्थाणुत्वनिश्चायकं वक्रकोटरादिकं पुरुषत्वनिश्चायकञ्च शिरःपाण्यादिकं विशेषमपश्यतः स्थाणुपुरुषयोः समानधर्ममूर्धत्वादिकञ्च पश्यतः पुरुषस्य भवति संशयः 'किमयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति

शब्दार्थ -

विरुद्धनानार्थावमर्शः = विरुद्ध अनेक धर्मों का बोध, विप्रतिपत्तिजः = विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक वचनों से, असाधारणधर्मजः = असाधारण धर्म के, पाण्यादिकम् = हाथ आदि, अपश्यतः = नहीं देखने वाले, स्थाणुपुरुषयोः = स्थाणु (ठूंठ) एवं पुरुष के, मूर्धत्वादिकम् = ऊँचाई आदि को।

गद्यार्थ -

एकधर्म में विरुद्ध अनेक धर्मों का ज्ञान संशय है। वह तीन प्रकार का है – 1. विशेष का दर्शन न होने पर समानधर्म के दर्शन से उत्पन्न, 2. विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादकवचनों से उत्पन्न और 3. असाधारण धर्म के दर्शन से उत्पन्न संशय।

उनमें एक समान धर्मदर्शनज, जहाँ विशेष का दर्शन नहीं होता है, जैसे कि 'यह स्थाणु है या पुरुष'। यहाँ पर सामने में स्थित एक ही द्रव्य में स्थाणुत्व का निश्चय कराने वाला टेढा-मेढ़ा कोटर आदि विशेष को तथा पुरुषत्व का निश्चय कराने वाले हाथ आदि विशेष को नहीं देखने वाले, किन्तु स्थाणु और पुरुष के समान धर्म ऊँचाई आदि को देखने वाले पुरुष को संशय होता है कि यह स्थाणु (ठूंठ) है या पुरुष है।

द्वितीयस्तु संशयो विशेषादर्शने सति विप्रतिपत्तिजः । स यथा 'शब्दो नित्य उत अनित्य' इति । तथा ह्येको ब्रूते शब्दो नित्य इति, अपरो ब्रूते शब्दोऽनित्य इति। तयोर्विप्रतिपत्त्या मध्यस्थस्य पुंसो विशेषमपश्यतो भवति संशयः 'किमयं शब्दो नित्य' उतानित्य इति।

तृतीयोऽसाधारणधर्मदर्शनजस्तु संशयो यथा नित्यादनित्याच्च व्यावृत्तेन भूमात्रसाधारणेन गन्धवत्त्वेन विशेषमपश्यतो भुवि नित्यत्वानित्यत्व संशयः। तथाहि 'सकलनित्यव्यावृत्तेन गन्धवत्त्वेन योगाद् भूः किमनित्या, उत सकलानित्यव्यावृत्तेन तेनैव योगान्नित्या इति संशयः।

शब्दार्थ -

विप्रतिपत्तिजः = विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक वचनों से उत्पन्न, उतानित्यः = अथवा अनित्य, असाधारणधर्मदर्शनजः = असाधारणधर्म के दर्शन से उत्पन्न, नित्यत्वानित्यत्वसंशयः = नित्यत्व और अनित्यत्व का संशय, सकलनित्यव्यावृत्तेन = सम्पूर्ण नित्यपदार्थों में नहीं रहने वाले।

गद्यार्थ -

द्वितीय संशय तो विशेष का दर्शन न होने पर विरुद्ध अर्थों के प्रतिपादक वचनों से उत्पन्न होता (विप्रतिपत्तिज) है। जैसे शब्द नित्य है अथवा अनित्य, यह है। शब्द नित्यत्ववादी एवं शब्द अनित्यत्ववादी के परस्पर विरुद्धवचन से नित्यत्व या अनित्यत्व के निश्चायक वचन विशेष को नहीं देखने वाले मध्यस्थ पुरुष को संशय होता है कि शब्द नित्य है अथवा अनित्य ?

तृतीय संशय (विशेष का दर्शन न होने पर) असाधारण धर्म के दर्शन से उत्पन्न होता है। जैसे कि नित्य एवं अनित्य द्रव्यों में नहीं रहने वाले और भूमिमात्र के असाधारण धर्म गन्धवत्त्व को देखकर नित्यत्व तथा अनित्यत्व के निश्चायक विशेषधर्म को नहीं देखने वाले पुरुष को पृथिवी के विषय में नित्यता एवं अनित्यता का संशय होता है। जैसे कि सभी नित्य पदार्थों से पृथक् रहने वाले गन्धवत्त्व के साथ योग होने से पृथिवी क्या अनित्य है? अथवा समस्त अनित्य पदार्थों में न रहने वाले उसी गन्धवत्त्व के साथ योग होने से क्या यह नित्य है? यह संशय होता है।

व्याख्या -

संशय का सामान्य अर्थ है - सन्देह। न्याय की भाषा में एकधर्मी पदार्थ में परस्पर विरुद्ध धर्मों को देखने से यह निश्चय नहीं कर पाना कि यह स्थाणु है या पुरुष। पदार्थ है दूरस्थ खेत में स्थित वस्तु। उसमें शिर एवं हाथ पैर जैसा दिखलाई पड़ने से पुरुष का सन्देह होता है। लम्बाई मोटाई और पत्रविहीनता रूपी धर्म को देखने से

स्थाणु ठूंठ का सन्देह होता है। दूरस्थ व्यक्ति को निश्चय नहीं हो पाता है कि यह क्या है। यही संशय कहलाता है। संशय में कारण है - पदार्थ का विशेष धर्म जो उसका निश्चायक हुआ करता है, उसका दिखाई न पड़ना।

तर्कभाषाकार के अनुसार एक कोटि का निश्चयात्मक ज्ञान न होना संशय है। संशय का सार यह है -

1. पदार्थ में दो वस्तुओं के समान धर्म का ज्ञान होने पर संशय होता है।
2. एक पदार्थ के विषय में परस्पर विरुद्ध ज्ञान होना संशय है।
3. एक पदार्थ के असाधारण धर्म का ज्ञान तो हो, किन्तु एक कोटि के निश्चयात्मक धर्मविशेष का स्मरण न हो तो भी संशय होता है।

18.4.2 प्रयोजन निरूपण

येन प्रयुक्तः प्रवर्तते, तत् प्रयोजनम्। तच्च सुखदुःखावाप्तिहानी। तदर्था हि प्रवृत्तिः सर्वस्य ।

18.4.3 दृष्टान्त निरूपण

वादिप्रतिवादिनोः संप्रतिपत्तिविषयोऽर्थो दृष्टान्तः। स द्विविधः। एकः साधर्म्यदृष्टान्तो यथा धूमवत्त्वस्य हेतोर्महानसम्। द्वितीयस्तु वैधर्म्य-दृष्टान्तः। यथा तस्यैव हेतोः महाह्रद इति।

शब्दार्थ -

सुखदुःखावाप्तिहानी = सुख की प्राप्ति और दुःख का त्याग, वादिप्रतिवादिनोः = वादी एवं प्रतिवादी की, सम्प्रतिपत्तिविषयः = सहमति का विषय, साधर्म्यदृष्टान्तो - समानधर्म वाला दृष्टान्त, महानसम् – पाकशाला।

गद्यार्थ -

जिसको उद्देश्य करके मनुष्य प्रवृत्त होता है, वह प्रयोजन कहलाता है। वह प्रयोजन सुख की प्राप्ति एवं दुःख का त्याग है, क्योंकि सभी मनुष्यों की प्रवृत्ति सुख की प्राप्ति तथा दुःख के त्याग के लिए होती है।

वादी एवं प्रतिवादी की सहमति का विषय भूत अर्थ दृष्टान्त कहलाता है। दृष्टान्त दो प्रकार का होता है– 1. साधर्म्य दृष्टान्त और 2. वैधर्म्य दृष्टान्त। जैसे कि धूमवत्त्व हेतु का 'महानस' साधर्म्य दृष्टान्त है तथा उसी धूमवत्त्व हेतु का 'महाह्रद' वैधर्म्य-दृष्टान्त है।

व्याख्या -

न्यायसूत्रकार ने 'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्' अर्थात् जिस अर्थ को लेकर मनुष्य प्रवृत्त होता है, वह प्रयोजन है यह कहा है। तर्कभाषाकार ने इसे स्पष्ट करते हुए - 'तच्च सुखदुःखावाप्तिहानी' कहा। सुखञ्च दुःखञ्चेति सुखदुःखे, अवाप्तिश्च हानिश्च इति अवाप्तिहानी, सुखदुःखयोः अवाप्तिहानी इति सुखदुःखावाप्तिहानी यह विग्रह है।

सुख के साथ अवाप्ति क्रिया का तथा दुःख के साथ हानि क्रिया का सम्बन्ध होता है। सुख की प्राप्ति एवं दुःख की हानि प्रयोजन है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य सुख प्राप्त करने के लिए तथा दुःख के नाश के लिए कार्य में प्रवृत्त होता है। अतः ये दोनों अर्थ ही प्रयोजन के उद्देश्य है।

दृष्टान्त न्यायसूत्र 'लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः' के अनुसार लौकिक तथा परीक्षक दोनों की बुद्धि जिसमें समान हो वह दृष्टान्त है। तर्कभाषाकार के अनुसार वादी पक्ष में बोलने वाला तथा प्रतिवादी विपक्ष में बोलने वाला दोनों जिस अर्थ पर सहमत हो जाते हैं, वह अर्थ दृष्टान्त है। एकबुद्धि का विषय वाला अर्थ दृष्टान्त है। दृष्टान्त के दो भेद हैं - साधर्म्यदृष्टान्त और वैधर्म्यदृष्टान्त।

1. पर्वतो वह्निमान् धूमत्त्वात्, यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसम्। इस वाक्य में महानस दृष्टान्त है, धूमवत्त्व हेतु है। यह समान धर्म वाला दृष्टान्त है।

2. पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्, यत्र यत्र वह्नयभावः तत्र तत्र धूमाभावः यथा महाह्रदः' इस वाक्य में महा"द धूमवत्त्व हेतु का वैधर्म्यवाला दृष्टान्त है। महाह्रद में वह्नि भी नहीं, अतः धूम भी नहीं है।

18.4.4 सिद्धान्त निरूपण

प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तः। स चतुर्धा। सर्वतन्त्र-प्रतितन्त्र-अधिकरण-अभ्युपगम-सिद्धान्तभेदात्। तत्र सर्वतन्त्रसिद्धान्तो यथा धर्मिमात्रसद्भावः। द्वितीयो यथा नैयायिकस्य मते मनस इन्द्रियत्वमम्। तद्धि समानतन्त्रे वैशेषिके सिद्धम्। तृतीयो यथा क्षित्यादिकर्तृत्वसिद्धौ कर्तुः सर्वज्ञत्वम्। चतुर्थो यथा जैमिनीयस्य नित्यानित्यविचारो यथा भवतु, अस्तु 'तावच्छब्दो गुण' इति ।

शब्दार्थ -

प्रामाणिकत्वेन = प्रामाणिक रूप में, अभ्युपगतः = स्वीकार किया गया, धर्मिमात्रसद्भावः = केवल धर्मी की सत्ता, नित्यानित्यविचारो = नित्यता एवं अनित्यता का विचार।

गद्यार्थ -

प्रामाणिक रूप से स्वीकार किया गया अर्थ सिद्धान्त कहलाता है। वह चार प्रकार का है – 1. सर्वतन्त्र सिद्धान्त, 2. प्रतितन्त्र सिद्धान्त, 3. अधिकरण सिद्धान्त और 4. अभ्युपगम सिद्धान्त। सर्वतन्त्र सिद्धान्त वह है जो सभी शास्त्रों में माना जाता हो, जैसे कि केवल धर्मी की सत्ता। दूसरा प्रतितन्त्र सिद्धान्त वह है जो किसी विशेष शास्त्र में तथा उसके अपने समान शास्त्र में माना गया हो, जैसे कि नैयायिक के मत में मन का इन्द्रिय होना। मन का इन्द्रिय होना न्याय के समानतन्त्र वैशेषिक में भी सिद्ध है। तीसरा अधिकरण सिद्धान्त वह है जिसे स्वीकार करने से अन्य अनेक बातें स्वयं सिद्ध हो जायें, जैसे कि पृथिवी आदि का कर्त्ता के रूप में ईश्वर की सिद्धि हो जाने पर कर्ता की सर्वज्ञता का स्वतः सिद्ध हो जाना। चौथा अभ्युपगम सिद्धान्त वह है जो स्वयं अभिमत न हो किन्तु किसी विशेष अर्थ की परीक्षा के लिए थोड़ी देर के लिए स्वीकार कर लिया जाये, जैसे कि शब्द की नित्यता एवं अनित्यता का विचार ठीक से हो सके, इस हेतु मीमांसकों का थोड़ी देर के लिए यह मान लेना कि शब्द गुण है।

व्याख्या -

जिस अर्थ को प्रामाणिक प्रमाणसिद्ध के रूप में माना जाये वह सिद्धान्त है। सिद्धान्त चार प्रकार के माने गए हैं -

1. सर्वतन्त्र सिद्धान्त - जो अर्थ सभी शास्त्रों में स्वीकार किया जाए, वह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है।
2. प्रतितन्त्र सिद्धान्त - वह सिद्धान्त जो अपने समान तन्त्र में सिद्ध हो किन्तु अन्य तन्त्र में असिद्ध हो और प्रकृतशास्त्र में उसका वर्णन हो, उसे प्रतितन्त्र सिद्धान्त कहते हैं।
3. अधिकरण सिद्धान्त - जिसकी सिद्धि हो जाने पर अन्य की सिद्धि हो जाए वह अधिकरण सिद्धान्त कहलाता है।
4. अभ्युपगम सिद्धान्त - जो अर्थ प्रकृतशास्त्र में स्वीकार न हो, परन्तु परीक्षा करने हेतु उस अस्वीकृत अर्थ को भी थोड़ी देर के लिए मान लिया जाए, तो वह अभ्युपगम सिद्धान्त कहलाता है।

18.4.5 अवयव निरूपण

अनुमानवाक्यस्यैकदेशा अवयवाः। ते च प्रतिज्ञादयः पञ्च। तथा च न्यायसूत्रम् - 'प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः'।

तत्र साध्यधर्मविशिष्टपक्षप्रतिपादकं वचनं प्रतिज्ञा, यथा पर्वतोऽयं वह्निमानिति। तृतीयान्तं पञ्चम्यन्तं वा लिंगप्रतिपादकं वचनं हेतुः। यथा धूमवत्त्वेन धूमवत्त्वादिति वा। सव्याप्तिकं दृष्टान्तवचनमुदाहरणम्। यथा यो यो धूमवान् सोऽग्निमान् यथा महानस इति। पक्षे लिंगोपसंहारवचनमुपनयः। यथा वह्निव्याप्यधूमवांश्चायमिति, तथा चायमिति वा। पक्षे साध्योपसंहारवचनं निगमनम्। यथा तस्मादग्निमान् इति, तस्मात्तथेति वा। एते च प्रतिज्ञादयः पञ्चानुमानवाक्यस्यावयवा इवावयवाः, न तु समवायिकारणं, शब्दस्याकाशसमवेतत्वादिति।

शब्दार्थ -

पञ्चम्यन्तं = पञ्चमी विभक्तिपर्यन्त, सव्याप्तिकं = व्याप्ति के साथ, दृष्टान्तवचनम् = दृष्टान्त का कथन, लिंगोपसंहारवचनम् = लिंग का उपसंहार करने वाला कथन, साध्योपसंहारवचनम् = साध्य के उपसंहार का कथन।

गद्यार्थ -

अनुमान वाक्य के अंश अवयव कहलाते हैं। वे अवयव प्रतिज्ञा आदि पाँच हैं। जैसा कि न्यायसूत्र कहते हैं - प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये अवयव हैं।

उनमें साध्यधर्म से युक्त पक्ष का कथन करने वाला वचन प्रतिज्ञा है। जैसे - 'यह पर्वत वह्निमान् है' (प्रतिज्ञा)। तृतीयान्त अथवा पञ्चम्यन्त धूमादि लिंग का कथन करने वाला वचन हेतु कहलाता है। जैसे - धूमवत्त्वेन याधूमवत्त्वात् (हेतु)। व्याप्ति से युक्त दृष्टान्त का कथन उदाहरण कहलाता है। जैसे 'जो जो धूमवान् है, वह अग्निमान है, यथा महानस' (उदाहरण)। (पर्वत आदि) पक्ष में लिंग का उपसंहार करने वाला कथन उपनय कहलाता है। जैसे यह पर्वत अग्नि के व्याप्य धूम से युक्त है अथवा भी वैसा (महानस के समान धूमवान) ही है (उपनय)। पक्ष (पर्वतादि) में साध्य का उपसंहार करने वाला वचन निगमन कहलाता है। जैसे 'इसलिए यह (पर्वतादि) अग्निमान् है', अथवा यह इसलिए भी वैसा है (अग्निमान् है) (अवयव)। ये प्रतिज्ञा आदि पाँच अनुमान वाक्य के अवयव के समान हैं, अतः अवयव हैं। अनुमान वाक्य के समवायिकारण नहीं हैं, क्योंकि शब्द तो आकाश में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं।

व्याख्या -

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन अनुमान वाक्य के अवयव माने जाते हैं। वस्तुतः ये परार्थानुमान वाक्य के अवयव हैं। परार्थानुमान के प्रसङ्ग में इनका वर्णन किया जा चुका है।

यहाँ प्रश्न है कि अवयव और अवयवी में समवायसम्बन्ध होता है। जैसे कि तन्तु अवयव, पट अवयवी का समवायिकारण है और दोनों में समवाय सम्बन्ध है। इसी तरह प्रतिज्ञा आदि भी अनुमान वाक्य के समवायिकारण होंगे, क्योंकि वे अवयव हैं?

इसका समाधान मूल में किया गया है। वहाँ बताया गया है कि अनुमानवाक्य शब्दों का समूह है और शब्द का समवायिकारण आकाश होता है। अतः अनुमानवाक्य का समवायिकारण आकाश होता है, प्रतिज्ञा आदि अवयव नहीं। प्रतिज्ञा आदि को औपचारिक अवयव माना जाता है, क्योंकि ये अवयव के समान हैं, अतः अवयव कहे जाते हैं।

स्वयं आकलन कीजिए –

अभ्यास प्रश्न – 2

1. संशय किसे कहते हैं?
2. प्रयोजन किसे कहते हैं?
3. दृष्टान्त के दो भेदों के नाम क्या हैं?
4. सिद्धान्त किसे कहते हैं?
5. सिद्धान्त के कितने भेद हैं?
6. अवयव किसे कहते हैं?

18.5 सारांश

अन्तः इन्द्रिय को मन कहते हैं। धर्म-अधर्म रूप यागादि जो कार्य किए जाते हैं, उसे प्रवृत्ति कहते हैं, जो तीन प्रकार की होती है। दोबारा जन्म लेना प्रेत्यभाव कहलाता है और वह आत्मा के पूर्वशरीर की निवृत्ति तथा नवीन शरीर की प्राप्ति है। इसके बाद राग, द्वेष और मोह के बारे में बताया गया है कि ये तीनों दोष हैं। जब हमारे मन में कोई इच्छा उत्पन्न होती है तो उसको राग कहते हैं। क्रोध का भाव द्वेष कहलाता है। मिथ्या ज्ञान को मोह कहा गया है।

मन के द्वारा जब सुख या दुःख में से किसी एक की अनुभूति होती है, तो उसे फल कहते हैं। पीड़ा को दुःख कहते हैं। इनकी विस्तार से पूर्व में चर्चा हो चुकी है।

इसके अपवर्ग की विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है। मोक्ष को अपवर्ग कहा जाता है और वह अपवर्ग इक्कीस प्रकार के दुःखों से हमेशा के लिए निवृत्ति है। जब प्राणी सभी प्रकार के कर्म बन्धनों से छूट जाता है तब अपवर्ग की प्राप्ति होती है। जब एक ही वस्तु में अनेक धर्मों का ज्ञान हो जाए तो उसे संशय कहा जाता है। जैसे स्थाणु में पुरुष का संशय या रस्सी में सांप का संशय।

जिस लक्ष्य को उद्देश्य करके मनुष्य किसी कार्य के लिए प्रवृत्त होता है, उसे प्रयोजन कहा जाता है। वह प्रयोजन सुख की प्राप्ति और दुःख के निवारण के लिए होता है। वादी एवं प्रतिवादी की सहमति के अर्थ को दृष्टान्त कहते हैं। प्रामाणिक रूप से स्वीकार किए गए अर्थ को सिद्धान्त कहा जाता है, जो चार प्रकार का होता है। अनुमान वाक्य के अंशों को अवयव कहा जाता है। ये अवयव प्रतिज्ञा आदि भेद से पाँच हैं।

18.6 कठिन शब्दावली -

पूर्वदेहनिवृत्तिः = पूर्व शरीर की समाप्ति, दुःखानुषंगित्वात् = दुःख का अविनाभावी होने से, मुमुक्षोः = मुक्ति की इच्छा रखने वाला, योगर्द्धिप्रभावात् = योग सिद्धि के प्रभाव से, निष्कामकर्मानुष्ठानात् = निष्काम कर्मों के करने से, वक्रकोटरादिकं = टेढ़ा कोटर (खोखर) आदि, वैधर्म्यदृष्टान्तः - भिन्न धर्म वाला दृष्टान्त, उपनयनिगमनान्यवयवाः= उपनय एवं निगमन अवयव हैं।

18.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर -

अभ्यास प्रश्न - 1

1. प्रवृत्ति
2. पुनर्जन्म को
3. अपवर्ग
4. शरीर, छः इन्द्रियाँ, छः विषय, छः बुद्धि, सुख और दुःख

5. इक्कीस

अभ्यास प्रश्न - 2

1. एक धर्म में विरुद्ध अनेक धर्मों के ज्ञान को
2. जिसे उद्देश्य करके मनुष्य प्रवृत्त होता है
3. साधर्म्य दृष्टान्त और वैधर्म्य दृष्टान्त
4. प्रामाणिक रूप से स्वीकार किए गए अर्थ को
5. चार - सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम
6. अनुमान वाक्य के अंश को

18.8 सहायक ग्रन्थ

1. तर्कभाषा, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणि, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी-221001, संस्करण-12, 2013.
2. तर्कभाषा, टीकाकार, पण्डित श्रीरुद्रधर झा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-221001, संस्करण-7, 2021.
3. तर्कभाषा, व्याख्याकार डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-221001, संस्करण-2013.
4. तर्कभाषा, व्याख्याकार एवं सम्पादक डॉ. अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर-302001, संस्करण-2021.
5. तर्कभाषा, व्याख्याकार श्रीबदरीनाथशुक्ल, मोतीलाल बनारसी दास, चौक वाराणसी, प्रथम संस्करण-1968.

18.9 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न -

1. तर्कभाषा के आधार पर अपवर्ग और संशय की व्याख्या करें।
2. तर्कभाषा के अनुसार बताए गए प्रयोजन और अवयव पर प्रकाश डालें।

इकाई - उन्नीस

तर्कादि पदार्थ निरूपण

संरचना

19.1 प्रस्तावना
19.2 उद्देश्य
19.3 तर्कादि पदार्थ निरूपण
  19.3.1 तर्क निरूपण
  19.3.2 निर्णय निरूपण
  19.3.3 वाद निरूपण
  19.3.4 जल्प निरूपण
  19.3.5 वितण्डा निरूपण
  19.3.6 हेत्वाभास निरूपण
    - स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न
19.4 सारांश
19.5 कठिन शब्दावली
19.6 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर
19.7 सहायक ग्रन्थ
19.8 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न

19.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियो, इस इकाई में तर्क, निर्णय, हेत्वाभास, आश्रयासिद्ध और स्वरूपासिद्ध का निरूपण किया गया है। इनका उल्लेख पूर्व में भी किया जा चुका है। यहाँ पर प्रमेयों के प्रसंग में इनका निरूपण किया जा रहा है।

19.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से विद्यार्थियों को नम्नलिखित जानकारी उपलब्ध होगी –

- तर्कनिरूपण, निर्णयनिरूपण,
- वाद निरूपण, जल्प निरूपण,
- वितण्ड निरूपण, हेत्वाभास, निरूपण

19.3 तर्कादि पदार्थ निरूपण

जिन सोलह पदार्थों के तत्त्व ज्ञान से निश्रेयस की प्राप्ति होती है, उनमें से सात पदार्थों का पूर्व की इकाइयों में विस्तार से उल्लेख किया गया। इस इकाई में उससे आगे की छः इकाइयों का वर्णन किया जा रहा है।

19.3.1 तर्क निरूपण

तर्कोऽनिष्टप्रसंगः। स च सिद्धव्याप्तिकयोर्धर्मयोर्व्याप्यांगीकारेण अनिष्टव्यापकप्रसञ्जनरूपः। यथा 'यद्यत्र घटोऽभविष्यत् तर्हि भूतलमिवाद्रक्ष्यत्' इति।

स चार्थ तर्कः प्रमाणानामनुग्राहकः। तथाहि 'पर्वतोऽयं साग्निः उतानग्निः' इति सन्देहानन्तरं यदि कश्चिन्मन्येतानग्निमिति तदा तं प्रति 'यद्ययमनग्निरभविष्यत् तदानग्नित्वादधूमोऽप्यभविष्य' इत्यधूमत्वप्रसञ्जनं क्रियते। स एष प्रसंगस्तर्कं इत्युच्यते। अयं चानुमानस्य विषयशोधकः। प्रवर्तमानस्य धूमवत्त्वलिंगकानुमानस्य विषयमग्निमनुजानाति। अनग्निमत्त्वस्य प्रतिक्षेपात्। अतोऽनुमानस्य भवत्यनुग्राहक इति।

अत्र कश्चिदाह, 'तर्कः संशय एवान्तर्भवति' इति। तन्न। एककोटिनिश्चितविषयत्वात् तर्कस्य।

शब्दार्थ -

सिद्धव्याप्तिकयोः = सिद्ध व्याप्ति वाले, व्याप्यांगीकारेण = व्याप्य को स्वीकार करने से, उतानग्निः = अथवा अग्निरहित, विषयशोधकः = विषय का शोधक, कोटिनिश्चितविषयत्वात् = विषय का एक कोटि में निश्चित हो जाना।

गद्यार्थ -

अनिष्ट की प्राप्ति को तर्क कहते हैं और यह तर्क सिद्ध हो चुके दो व्याप्ति धर्म वालों में व्याप्य को स्वीकार कर लेने से अनिष्ट-व्यापक के प्राप्त होने के स्वरूप वाला है (अर्थात् अनिष्ट व्यापक की प्राप्ति तर्क का स्वरूप है)। जैसे कि 'यदि यहाँ घट होता तो भूतल के समान दिखलाई पड़ता'। (यहाँ पर यद्यत्र घटोऽभविष्यत् सः अद्रक्ष्यत्) यह व्याप्ति है। इसमें अभविष्यत्-होना, व्याप्य है और अद्रक्ष्यत्-दिखलाई देना व्यापक है। 'यदि यहाँ घट होता' इस व्याप्य को मानकर, तो दिखलाई देता' इस अनिष्ट की प्राप्ति तर्क है। जहाँ घट दिखाई नहीं देता है, वहाँ उसकी प्राप्ति ही अनिष्ट प्रसंगरूप है।

यह तर्क प्रमाणों का उपकारक है। जैसे कि 'यह पर्वत अग्नियुक्त है, अथवा अग्निरहित है', इस सन्देह के बाद यदि कोई माने कि यह अग्निरहित नहीं है, तब उसके प्रति 'यदि यह अग्निरहित होता तो धूमरहित भी होता' इस प्रकार धूमरहित होने की अनिष्ट प्राप्ति की जाती है। वह यह अनिष्ट प्रसंग ही तर्क कहलाता है। यह तर्क अनुमान के विषय का शोधक भी है अर्थात् धूमवत्त्व लिंग के द्वारा प्रवृत्त होने वाले अनुमान के विषय अग्नि का समर्थन करता है, क्योंकि अग्निरहित होने का (अग्निमत्त्व का) परिहार करता है। अतः यह अनुमान का उपकारक होता है।

यहाँ तर्क के विषय में कोई कहता है कि तर्क संशय में ही अन्तर्भूत होता है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि तर्क का विषय एक कोटि में निश्चित हो जाता है, (परन्तु संशय उभयकोटि का ज्ञान वाला होता है)।

व्याख्या -

कल्पना या अनुमान करना तर्क है। तर्क प्रमाणों में नहीं आता। यह प्रमाणों का उपकारक है। विशेषतः यह अनुमान का उपकारक होता है। यह व्याप्ति के निर्धारण में ही उपकारक है। तर्कभाषा के अनुसार दो पदार्थों में एक के रहने पर जब दूसरे का रहना निश्चित होता है, तब एक के होने की कल्पना करते ही दूसरे की सत्ता माननी पड़ती है, जो अभीष्ट नहीं है। यही अनभीष्ट अनिष्ट प्राप्ति है, तर्क है। वाद, जल्प और वितण्डा में किसी अर्थ की सिद्धि करने हेतु तर्क सहायक है। प्रतिवादी के मत का खण्डन करने के लिए भी तर्क उपकारक है।

19.3.2 निर्णय निरूपण

निर्णयोऽवधारणज्ञानम्। तच्च प्रमाणानां फलम्।

19.3.3 वाद निरूपण

तत्त्वबुभुत्सोः कथा वादः। स चाष्टनिग्रहाणामधिकरणम्। ते च न्यून-अधिक-अपसिद्धान्ताः, हेत्वाभासपञ्चकञ्च, इत्यष्टौ निग्रहाः।

19.3.4 जल्प

उभयसाधनवती विजिगीषुकथा जल्पः। सा च यथासम्भवं सर्वनिग्रहाणामधिकरणम्। परपक्षे दूषिते स्वपक्षस्थापनप्रयोगावसानञ्च।

19.3.5 वितण्डा

स एव स्वपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा। सा च परपक्षदूषणमात्रपर्यवसाना। नास्य वैतण्डिकस्य स्थाप्यः पक्षोऽस्ति।

कथा तु नानावत्तफ़्कपूर्वोत्तरपक्षप्रतिपादकवाक्यसन्दर्भः।

शब्दार्थ -

अष्टनिग्रहाणाम् = आठ निग्रहस्थानों का, न्यूनाधिकापसिद्धान्ताः = न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त, उभयसाधनवती = दोनों को सिद्ध करने वाली, स्वपक्षस्थापन = अपने पक्ष की स्थापना करने में, परपक्षदूषणमात्रपर्यवसाना = प्रतिपक्ष के खण्डनमात्र से समाप्त, नानावक्तृक = अनेक वक्ताओं के।

गद्यार्थ -

निश्चयात्मक ज्ञान को निर्णय कहते हैं। निर्णय प्रमाणों का फल है। तत्त्व जानने के इच्छुक व्यक्ति की कथा वाद है। वाद आठ निग्रह स्थानों का विषय होता है। वे आठ निग्रहस्थान हैं - 1- न्यून, 2- अधिक, 3- अपसिद्धान्त और पाँच हेत्वाभास ।

पक्ष एवं प्रतिपक्ष दोनों को सिद्ध करने वाली विजयेच्छुक जनों की कथा जल्प कहलाती है। है। वह जल्पकथा यथासम्भव सभी निग्रहस्थानों का अधिकरण है। प्रतिपक्ष का पक्ष खण्डित हो जाने पर अपने पक्ष की स्थापना करने में समाप्त हो जाने वाला जल्प है।

उभय साधन वाला जल्प ही अपने पक्ष की स्थापना से हीन होता हुआ 'वितण्ड' कहलाता जाता है। वह वितण्ड प्रतिपक्ष के खण्डन मात्र करने पर समाप्त हो जाता है। वितण्डवादी का अपना कोई स्थापना योग्य पक्ष नहीं होता है। अनेक वक्ताओं के पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष का प्रतिपादन करने वाला वाक्यसमूह ही कथा है।

व्याख्या -

निर्णय - विचार करके पक्ष एवं प्रतिपक्ष द्वारा अर्थ का निश्चय करना निर्णय है।

वाद - तत्त्व को जानने की इच्छा से प्रवृत्त हुई कथा वाद है।

जल्प - विजय की इच्छा से प्रवृत्त कथा जल्प है। इसमें पक्ष तथा प्रतिपक्ष दोनों का साधन होता है अर्थात् दोनों अपने पक्षों को सिद्ध करने के लिए तत्पर रहते हैं। परमत का खण्डन होने पर स्वपक्ष की स्थापना करने में यहसमाप्त हो जाती है। इसमें सभी निग्रह स्थानों का यथासम्भव उपयोग होता है।

वितण्डा - यह भी विजिगीषु कथा जल्प ही है। किन्तु वैतण्डिक अपना पक्ष नहीं रखता है। अन्य के मत का खण्डन करने मात्र से अपनी विजय चाहता है।

19.3.6 हेत्वाभास निरूपण

उक्तानां पक्षधर्मत्वादिरूपाणां मध्ये येन केनापि रूपेण हीना अहेतवः। तेऽपि कतिपय-हेतुरूपयोगाद्धेतुवदाभासमाना हेत्वाभासाः। ते च असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक-प्रकरणसम-कालात्ययापदिष्ट भेदात् पञ्चैव।

अत्रेदयनेन 'व्याप्तस्य हेतोः पक्षधर्मतया प्रतीतिः सिद्धिस्तदभावोऽसिद्धिः' इत्यसिद्धि-लक्षणमुक्तम्। तच्च यद्यपि विरुद्धादिष्वपि सम्भवतीति सांकर्यं प्रतीयते। तथापि यथा न सांकर्यं तथोच्यते। यो हि साधने पुरः परिस्फुरति समर्थश्च दुष्टज्ञाप्तौ स एव दुष्टज्ञप्तिकारको दूषणमिति यावत् नान्य इति। तेनैव पुरास्फूर्तिकेन दुष्टौ ज्ञापितायां कथापर्यवसाने जाते तदुपजीविनोऽन्यस्यानुपयोगात्। तथा च सति यत्र विरोधो साध्यविपर्ययव्याप्त्याख्यो दुष्टज्ञप्तिव्यभिचारादयस्तथा- भूतास्तेऽनैकान्तिकादयसत्रयः। ये पुनर्व्याप्तिपक्षधर्मताविशिष्टहेतुस्वरूपज्ञस्यभावेन पूर्वोक्त असिद्धयादयो दुष्टज्ञप्तिकारकाः, दूषणानीति यावत्। तथाभूतः सोऽसिद्धः।

स च त्रिविधः। आश्रयासिद्ध-स्वरूपासिद्ध-व्याप्यत्वासिद्धभेदात्।

शब्दार्थ -

उक्तानाम् = कहे गये, कतिपयहेतुरूपयोगात् = कुछ हेतुरूपों के योग से, विरुद्धादिषु = विरुद्ध आदि में, परिस्फुरति = प्रतीत होता है, ज्ञापितायाम् = ज्ञापन हो जाने पर, कथापर्यवसाने = कथा की समाप्ति जाने, व्यभिचारादयः = यभिचार आदि दोष।

गद्यार्थ -

पूर्व में कहे गए पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्तत्त्व, अबाधितविषयत्व तथा असत्प्रतिपक्षत्व इन पाँच रूपों में से जिस किसी भी एक रूप से हीन हेतु अहेतु कहलाते हैं। वे हेत्वाभास असिद्ध विरुद्ध, अनैकान्तिक, प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट भेद से पाँच ही हैं।

इनमें असिद्धि नामक हेत्वाभास का लक्षण उदयनाचार्य ने इस प्रकार दिया है - व्याप्तियुक्त हेतु की पक्षधर्मता के रूप में प्रतीति सिद्धि कहलाती है और उसका अभाव असिद्धि है। वह लक्षण यद्यपि विरुद्ध आदि हेत्वाभासों में भी जाता है। अतः सांकर्यदोष प्रतीत होता है, फिर भी ऐसी व्याख्या यहाँ की जाती है कि सांकर्यदोष न दिखलाई दे। जो दोष हेतु में प्रथमतः प्रतीत होता है और हेतु के दोष को बताने में समर्थ होता है, वही हेतु का दोष दोष का ज्ञापक होता है अर्थात् दूषण माना जाता है, अन्य बाद में प्रतीत होने वाला दोष दूषण नहीं होता है, क्योंकि प्रथम प्रतीत होने वाले उसी दोष से दुष्टि का ज्ञापन हो जाने पर कथा की समाप्ति हो जाती है तथा उस दोष पर आश्रित अन्य दोषों का उपयोग नहीं हो पाता है और ऐसा होने (मानने) पर जहाँ साध्याभाव साध्यविपर्यय के साथ व्याप्ति होना नामक विरोध दुष्टता का ज्ञान कराने वाला होता है वही विरुद्ध नामक हेत्वाभास है। इसी तरह जहाँ पर व्यभिचार आदि दोष प्रथमतः स्फुरित होकर दोष का ज्ञान कराते हैं, वहाँ अनैकान्तिक आदि तीन हेत्वाभास होते हैं (असिद्ध का लक्षण प्रतीत होने पर भी वहाँ असिद्ध का व्यवहार नहीं होता है, अतः साघ्कर्य दोष भी नहीं होता है) और जो फिर व्याप्ति और पक्षधर्मता से विशिष्ट हेतु के स्वरूप की सिद्धि न होने से पूर्वोक्त असिद्धि आदि दोष का ज्ञापन कराने वाले हैं, वे दूषण हैं, वैसा असिद्ध हेत्वाभास तीन तरह का है - 1- आश्रयासिद्ध, 2- स्वरूपासिद्ध और व्याप्यत्वासिद्ध ।

व्याख्या -

तर्कभाषा में 'न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका परिशुद्धि' में उदयनाचार्य द्वारा असिद्ध हेत्वाभास का जो लक्षण किया गया है, उसकी व्याख्या की गई है।

व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता का ज्ञान या परामर्श सिद्धि है। उसका अभाव असिद्धि है अर्थात् व्याप्ति का अभाव एवं पक्षधर्मता का अभाव असिद्धि है। असिद्धि जहाँ है, वहाँ असिद्ध नामक हेत्वाभास है। असिद्ध के भेद

व्याप्यत्वासिद्ध में व्याप्तिज्ञान का अभाव रहता है। यह व्याप्तिज्ञान का अभाव विरुद्ध एवं अनैकान्तिक हेत्वाभास में भी होता है। उनमें उदयन का लक्षण यदि जाएगा तो लक्षण का सांकर्यदोष होगा। इस सांकर्यदोष को दूर करने हेतु तर्कभाषाकार ने 'यद्यपि तथापि यथा न' इत्यादि कथन द्वारा कहा कि जहाँ पर अनेकों हेत्वाभासों की सम्भावना होती है वहाँ जो दोष पहले प्रतीत होता है (परिस्फुरित) वही हेतु की दुष्टता को ज्ञापित कर देता है और पक्ष का निर्णय या प्रतिपक्ष का परिहार हो जाता है तथा कथा या वाद वहीं पूर्ण हो जाती है। अतः बाद में होने वाले दोषों के प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं होती है। इस तरह जहाँ विरोध प्रथमतः हेतु की दुष्टता ज्ञापित करेगा वहाँ विरुद्ध, जहाँ व्यभिचार आदि हेतु की दुष्टता सूचित करेंगे वहाँ अनैकान्तिक और जहाँ असिद्धि आदि प्रथमतः हेतु की दुष्टता सूचित करेंगे वहाँ व्याप्तिपक्षधर्मताविशिष्ट हेतु के रूप की सिद्धि नहीं होगी। अतः असिद्ध नामक हेत्वाभास होगा यह सार है।

➢ **आश्रयासिद्ध निरूपण**

तत्र यस्य हेतोराश्रयो नावगम्यते स आश्रयासिद्धः। यथा 'गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात्, सरोजारविन्दवत्। अत्र हि गगनारविन्दमाश्रयः स च नास्त्येव।

अयमप्याश्रयासिद्धः। तथाहि 'घटोऽनित्यः कार्यत्वात् पटवत्' इति। नन्वाश्रयस्य घटादेः सत्त्वात् कार्यत्वादिति हेतुर्नाश्रयासिद्धः, सिद्धसाधकस्तु स्यात्, सिद्धस्य घटानित्यत्वस्य साधनात्।

मैवम्। न हि स्वरूपेण कश्चिदाश्रयो भवत्यनुमानस्य, किन्तु सन्दिग्धधर्मवत्त्वेन। तथा चोक्तं भाष्ये -

'नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थेऽपि तु सन्दिग्धेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते।

न च घटे नित्यत्वसन्देहोऽस्ति। अनित्यत्वस्य निश्चितत्त्वात्। तेन यद्यपि स्वरूपेण घटो विद्यते, तथाप्यनित्यत्वसन्देहाभावान्नसावाश्रय इत्याश्रयासिद्धत्वादहेतुः।

शब्दार्थ -

अवगम्यते = प्रतीत होना, गगनारविन्दं = आकाशकमल, कार्यत्वात् = कार्य होने से, सिद्धसाधनं = सिद्ध का साधन, सन्दिग्धधर्मवत्त्वेन = सन्दिग्ध धर्म से युक्त होने के कारण, निर्णीते = निश्चित में।

गद्यार्थ -

जिस हेतु का आश्रय (पक्ष) सिद्ध न हो, वह आश्रयासिद्ध नामक हेतु होता है। जैसे 'आकाशकमल सुगन्धित होता है, कमल होने से। सरोवर में उत्पन्न कमल के समान।' इस अनुमान वाक्य में आकाशकमल आश्रय (पक्ष) है, वह होता ही नहीं। (अर्थात् 'अरविन्दत्वात् इस हेतु का आश्रय गगनारविन्द है जो असत् है, असिद्ध है। अतः हेतु आश्रयासिद्ध माना जाता है)। यह भी आश्रयासिद्ध का अन्य उदाहरण है - 'घट अनित्य है, कार्य होने से, पट के समान।'

यहाँ प्रश्न उठता है कि अनित्यता का आश्रय घटादि के विद्यमान होने से 'कार्यत्वात्' यह हेतु आश्रयासिद्ध नहीं है, किन्तु सिद्धसाधन है, क्योंकि घट की अनित्यता जो सिद्ध ही है, उसी का साधन 'कार्यत्वात्' यह है। अतः सिद्धसाधन नामक पृथक् हेत्वाभास मानना चाहिये?

तर्कभाषाकार का कहना है कि ऐसा नहीं है, क्योंकि कोई भी पदार्थ स्वरूप से अनुमान का आश्रय नहीं होता है, अपितु सन्दिग्ध धर्म से युक्त होकर ही अनुमान का आश्रय होता है। जैसा कि वात्स्यायन भाष्य में कहा गया है - न तो अनुपलब्ध अर्थ में, न निर्णीत अर्थ में अनुमान प्रवृत्त होता है, अपितु सन्दिग्ध अर्थ में अनुमान

प्रवृत्त होता है और घट में नित्यता का सन्देह है ही नहीं, क्योंकि घट अनित्य है, यह निश्चित है। इस तरह यद्यपि घट स्वरूप से विद्यमान है, किन्तु अनित्यत्व के सन्देह का अभाव है, अतः वह अनुमान का आश्रय नहीं है, तब आश्रय के असिद्ध होने से आश्रयासिद्ध ही है।

➢ **स्वरूपासिद्ध**

स्वरूपासिद्धस्तु स उच्यते यो हेतुराश्रये नावगम्यते। यथा 'सामान्यमनित्यं कृतकत्वात्' इति कृतकत्वं हि हेतुराश्रये सामान्ये नास्त्येव।

भागासिद्धोऽपि स्वरूपासिद्ध एव। यथा 'पृथिव्यादयश्चत्वारः परमाणवो नित्यगन्धवत्त्वात् इति गन्धवत्त्वं हि पक्षीकृतेषु सर्वेषु नास्ति, पृथिवीमात्रवृत्तित्वात्। अत एव भागे स्वरूपासिद्धः।

शब्दार्थ -

अवगम्यते = प्रतीत होना, पृथिवीमात्रवृत्तित्वात् = पृथिवीमात्र में रहने से।

गद्यार्थ -

जो हेतु आश्रय (पक्ष) में सिद्ध नहीं होता है, वह स्वरूपासिद्ध नामक हेत्वाभास होता है। यथा सामान्य अनित्य है, कार्य होने से। इस अनुमान वाक्य में 'कृतकत्व' हेतु अपने आश्रय सामान्य में नहीं है।

भागासिद्ध भी स्वरूपासिद्ध ही है। जैसे कि 'परमाणुरूप पृथिवी आदि चार द्रव्य नित्य हैं, गन्धयुक्त होने से।' इस अनुमानवाक्य में गन्धवत्त्व हेतु पक्ष बने हुए सभी चारों में नहीं रहता, यह पृथिवीमात्र में रहता है। इसलिए यह गन्धवत्त्व हेतु एकभाग - जल, तेज और वायु में नहीं रहने से स्वरूपासिद्ध है।

तथा विशेषणासिद्ध-विशेष्यासिद्ध-असमर्थविशेषणासिद्ध-असमर्थविशेष्यासिद्धादयः स्वरूपासिद्ध-भेदाः। तत्र विशेषणासिद्धो यथा 'शब्दो नित्यो द्रव्यत्वे सत्यस्पर्शत्वात्।' अत्र हि द्रव्यत्वविशिष्टमस्पर्शत्वं हेतुर्नास्पर्शत्वमात्रम्। शब्दे च द्रव्यत्वं विशेषणं नास्ति गुणत्वात्, अतो विशेषणासिद्धः। न चासति विशेषणे द्रव्यत्वे तद्विशिष्टमस्पर्शत्वमस्ति। विशेषणाभावे विशिष्टस्याप्यभावात्। यथा दण्डमात्रऽभावे पुरुषाऽभावे वा दण्डविशिष्टस्य पुरुषस्याभावः। तेन सत्यप्यस्पर्शत्वे द्रव्यत्वविशिष्टस्य हेतोरभावात् स्वरूपासिद्धत्वम्।

विशेष्यासिद्धो यथा 'शब्दो नित्योऽस्पर्शत्वे सति द्रव्यत्वात् इति। अत्रपि विशिष्टो हेतुः। न च विशेष्याऽभावे विशिष्टं स्वरूपमस्ति। विशिष्टश्च हेतुर्नास्त्येव ।

शब्दार्थ -

विशेषणाभावे = विशेषण का अभाव रहने पर, दण्डमात्रभावे = दण्डमात्र का अभाव होने पर, द्रव्यत्वविशिष्टस्य हेतोः = द्रव्यत्वविशिष्ट हेतु का, अस्पर्शत्वे = स्पर्शरहित होते हुए।

गद्यार्थ -

इसी प्रकार विशेषणासिद्ध, विशेष्यासिद्ध, असमर्थविशेषणासिद्ध, असमर्थविशेष्यासिद्ध आदि भी स्वरूपासिद्ध के ही भेद हैं। विशेषणासिद्ध का उदाहरण है - 'शब्द नित्य है, द्रव्य होते हुए, स्पर्शरहित होने से।' यहाँ पर द्रव्यत्वविशिष्ट अस्पर्शत्व हेतु है, न कि केवल अस्पर्शत्व और शब्द में 'द्रव्यत्व' विशेषण नहीं होता है, क्योंकि शब्द गुण है। अतः यहाँ विशेषणासिद्ध नामक स्वरूपासिद्ध है और द्रव्यत्वरूप विशेषण के न होने पर द्रव्यत्वविशिष्ट अस्पर्शत्व नहीं हो सकता, क्योंकि विशेषण का अभाव होने पर विशेषण विशिष्ट का भी अभाव होता है। जैसे दण्डमात्र के अभाव में दण्डविशिष्ट पुरुष का अभाव होता है। इस वाक्य में दण्डमात्र का अभाव

होने पर अथवा पुरुष का अभाव होने पर दण्डविशिष्ट पुरुष का अभाव होता ही है। इस तरह शब्द में अस्पर्शत्व के होने पर भी द्रव्यत्वविशिष्ट हेतु का अभाव होने से स्वरूपासिद्ध नामक हेत्वाभास है।

विशेष्यासिद्ध का उदाहरण 'शब्द नित्य है। नित्य अस्पर्शवाला होते हुए द्रव्य होने से।' यहाँ पर अस्पर्शत्व से विशिष्ट द्रव्यत्व हेतु है अर्थात् शब्द में द्रव्यत्व रूप विशेष्य नहीं है और विशेष्य का अभाव होने पर विशिष्ट स्वरूप नहीं होता है अर्थात् विशिष्ट हेतु आश्रयभूत शब्द में है ही नहीं। अतः विशेष्यासिद्ध भेदवाला स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है।

असमर्थविशेषणासिद्धो यथा, 'शब्दो नित्यो गुणत्वे सत्यकारणकत्वात्। अत्र हि विशेषणस्य गुणत्वस्य न किञ्चित् सामर्थ्यमस्तीति। विशेष्यस्याकारणकत्वस्यैव नित्यत्वसाधने सामर्थ्यात्। अतोऽसमर्थविशेषणता। स्वरूपासिद्धत्वं तु विशेषणाभावे विशिष्टस्याप्यभावात्।

ननु विशेषणं गुणत्वं तत्र शब्देऽस्त्येव, तत्कथं विशेषणाभावः ?

सत्यमस्त्येव गुणत्वं, किन्तु न तद्विशेषणम्। तदेव हि हेतोर्विशेषणं भवति यदन्यव्यवच्छेदेन प्रयोजनवत्। गुणत्वं तु निष्प्रयोजनमतोऽसमर्थमित्युक्तमेव।

असमर्थविशेष्यो यथा तत्रैव तद्वैपरीत्येन प्रयोगः। तथाहि, 'शब्दो नित्योऽकारणकत्वे सति गुणत्वात्' इति। अत्र तु विशेषणमात्रस्यैव नित्यत्वसाधने समर्थत्वाद् विशेष्यमसमर्थम्। स्वरूपासिद्धत्वं तु विशेष्याभावे विशिष्टाभावात्, विशिष्टस्य च हेतुत्वेनोपादानात्। शेषं पूर्ववत्।

शब्दार्थ -

अकारणकत्वात् = कारणरहित, नित्यत्वसाधने = नित्यता को सिद्ध करने में, तद्विशेषणम् = वह विशेषण नहीं है, हेतोर्विशेषणं = हेतु का विशेषण, प्रयोजनवत् = प्रयोजन वाला।

गद्यार्थ -

असमर्थ विशेषणासिद्ध का उदाहरण है - 'शब्द नित्य है, गुण होकर कारण रहित है।' इस अनुमानवाक्य में विशेषण गुणत्व का शब्दनित्यता की सिद्धि में कोई सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि विशेष्य अकारणकत्व ही शब्दनित्यता की सिद्धि में सामर्थ्ययुक्त है। अतः यहाँ असमर्थविशेषणता स्वरूपासिद्ध ही है, क्योंकि विशेषण के अभाव में विशिष्ट का भी अभाव माना जाता है।

प्रश्न होता है कि विशेषणत्व गुणत्व वहां शब्द में है ही, फिर विशेषण का अभाव कैसे हुआ?

ठीक है कि गुणत्व शब्द में है, किन्तु उसका विशेषण नहीं है। हेतु का विशेषण वही होता है जो अन्य की व्यावृत्ति के द्वारा प्रयोजनवान् हो। यहाँ गुणत्व निष्प्रयोजन है, अतः असमर्थ है यह कहा ही गया है।

असमर्थ विशेष्यासिद्ध का उदाहरण असमर्थविशेषणासिद्ध का विपरीत प्रयोग है। जैसे 'शब्द नित्य है, कारणरहित होते हुए गुण होने से।' इस अनुमानवाक्य में विशेषणमात्र अकारणकत्व ही शब्द की नित्यता सिद्ध करने में समर्थ है। अतः विशेष्य 'गुणत्वात्' यह अंश असमर्थ है और यह स्वरूपासिद्ध है, क्योंकि विशेष्य का अभाव होने पर विशिष्ट का अभाव होता है और विशिष्ट का ही हेतु के रूप में ग्रहण किया गया है। शेष असमर्थ विशेषणासिद्ध के समान ही है।

- **व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास**

व्याप्यत्वासिद्धस्तु स एव यत्र हेतोर्व्याप्तिर्नावगम्यते। स द्विविधः। एकः साध्येनासहचरितः, अपरस्तु सोपाधिकसाध्यसम्बन्धी। तत्र प्रथमो यथा 'यत् सत् तत् क्षणिकं यथा जलधरः, संश्च विवादास्पंदीभूतः शब्दादिः' इति। अत्र हि शब्दादिः पक्षः, तस्य क्षणिकत्वं साध्यं, सत्त्वं हेतुः - न चास्य हेतोः क्षणिकत्वेन सह व्याप्तौ प्रमाणमस्ति ।

इदानीमुपाधिसहितो व्याप्यत्वासिद्धः प्रदर्श्यते। तद्यथा 'स श्यामो मैत्रीतनयत्वात्, परिदृश्यमान-मैत्रीतनयस्तोमवत्' इति। अत्र हि मैत्रीतनयत्वेन श्यामत्वं साध्यते। न च मैत्रीतनयत्वं श्यामत्वे प्रयोजकं, किन्तु शाकाद्यन्नपरिणाम एवात्र प्रयोजकः। प्रयोजकश्चोपाधिरुच्यते। अतो मैत्रीतनयत्वेन श्यामत्वेन सम्बन्धे शाकाद्यन्नपरिणाम एवोपाधिः। यथा वाग्नेर्धूमसम्बन्धे आर्द्रेन्धनसंयोगः। अतएवोपाधिसम्बन्धाद् व्याप्तिर्नास्तीति व्याप्यत्वासिद्धोऽयं मैत्रीतनयत्वादिर्हेतुः।

शब्दार्थ -

व्याप्यत्वासिद्धस्तु = व्याप्यत्वासिद्ध तो, सोपाधिक = उपाधियुक्त जलधरः = मेघ, प्रदश्यते = दिखलाना, परिदृश्यमान = दिखलाई पड़ना, आर्द्रेन्धनसंयोगः= गीली लकड़ी का संयोग।

गद्यार्थ -

जहाँ हेतु की व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो पाता है, वहाँ व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास होता है। व्याप्यत्वासिद्ध दो प्रकार का है - 1- साध्य के साथ हेतु का सहचार नहीं होना, 2- दूसरा उपाधियुक्त साध्य से सम्बन्ध वाला। उसमें प्रथम जो सत् है वह क्षणिक है, जैसे मेघ और विवाद का विषय शब्द आदि भी सत् है। यहाँ पर शब्द आदि पक्ष है, उसकी क्षणिकता साध्य है, सत्त्व हेतु है और सत्त्व हेतु का क्षणिकता के साथ व्याप्ति सम्बन्ध है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है।

अब उपाधियुक्त व्याप्यत्वासिद्ध बताया जा रहा है। जैसे कि 'वह श्याम है, क्योंकि वह मैत्री का पुत्र है। दिखाई दे रहे मैत्रीपुत्रों के समूह के समान।' यहाँ मैत्रीतनयत्व द्वारा श्यामत्व की सिद्धि की जा रही है। श्यामत्व में मैत्रीतनयत्व प्रयोजक निमित्त नहीं है, किन्तु शाक आदि अन्न का परिपाक ही यहाँ प्रयोजक निमित्त है और प्रयोजक को उपाधि कहते हैं। अतः मैत्रीतनयत्व के द्वारा श्यामत्व के साथ व्याप्ति सम्बन्ध में शाक आदि अन्न का परिणाम ही उपाधि है। अथवा जैसे अग्नि का धूम के साथ सम्बन्ध में गीली लकड़ी का संयोग उपाधि है। अत एव उपाधि के साथ सम्बन्ध होने से व्याप्ति नहीं मानी जाती है। अत एव मैत्रीतनयत्व आदि हेतु व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास है।

तथा परोऽपि व्याप्यत्वासिद्धः। यथा 'क्रत्वन्तर्वर्तिनी हिंसा अधर्मसाधनं हिंसात्वात्, क्रतुबाह्यहिंसावत्' इति। न च हिंसात्वमधर्मे प्रयोजकं, किन्तु निषिद्धत्वमुपाधिरिति पूर्ववदुपाधिसद्भावाद् व्याप्यत्वासिद्धोऽयं हिंसात्वं हेतुः।

ननु 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापको यः स उपाधि' इत्युपाधिलक्षणम्। तच्च निषिद्धत्वे नास्ति, तत् कथं निषिद्धत्वमुपाधिरिति।

मैवम्। निषिद्धत्वेऽप्युपाधिलक्षणस्य विद्यमानत्वात्। तथा हि साध्यस्य अधर्मजनत्वकस्य व्यापकं निषिद्धत्वम्। यत्र यत्रधर्मसाधनत्वं, तत्र तत्रवश्यं निषिद्धत्वमिति निषिद्धत्वस्य विद्यमानत्वात्। न च यत्र यत्र हिंसात्वं तत्रवश्यं निषिद्धत्वं, क्रत्वंगहिंसायां व्यभिचारात्। अस्ति हि क्रत्वंगहिंसायां हिंसात्वं, न चात्र निषिद्धत्वमिति। तदेवं त्रिविधोऽसिद्धो दर्शितः।

शब्दार्थ -

क्रतुबाह्यहिंसावत् = यज्ञ से बाहर की हिंसा के समान, निषिद्धत्वम् उपाधिः = निषिद्धत्व रूप उपाधि, अधर्मजनकत्वस्य = अधर्मजनकत्व।

गद्यार्थ -

इसी प्रकार अन्य व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास बताया जाता है - यज्ञ में होने वाली हिंसा अधर्म का साधन है, क्योंकि वह हिंसा है, जैसे कि यज्ञ से बहिर्भूत हिंसा है। यहाँ अनुमान में हिंसात्व अधर्म में निमित्त नहीं होता, अपितु निषिद्धत्व रूप उपाधि ही (प्रयोजक) है। अतः पूर्ववत् उपाधि के रहने से यह हिंसात्व हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है।

प्रश्न है कि 'साध्य का व्यापक होकर जो साधन का व्यापक नहीं होता वह उपाधि है' यह उपाधि का लक्षण है और यह निषिद्धत्व में नहीं है, तब निषिद्धत्व उपाधि कैसे हो सकता है?

ऐसा नहीं है। निषिद्धत्व में भी उपाधि का लक्षण विद्यमान है। जैसे कि साध्य अधर्मजनकत्व का व्यापक निषिद्धत्व है, क्योंकि जहाँ-जहाँ अधर्मसाधनत्व है वहाँ निषिद्धत्व विद्यमान है और जहाँ जहाँ हिंसात्व है वहाँ-वहाँ नियमतः निषिद्धत्व नहीं होता है क्योंकि यज्ञ की अंग बनी हिंसा में निषिद्धत्व का व्यभिचार होता है। यज्ञ का अंग बनी हिंसा में हिंसात्व तो है, किन्तु इसमें निषिद्धत्व नहीं है। तो इस तरह तीनों प्रकार का असिद्धत्व दिखलाया गया।

स्वयं आकलन कीजिए –

अभ्यास प्रश्न -

1. तर्क किसे कहते हैं?
2. निर्णय किसे कहते हैं?
3. आठ निग्रहस्थान कौन-से हैं?
4. पक्ष एवं प्रतिपक्ष को सिद्ध करने वाली विजयेच्छुक जनों की कथा को क्या कहते हैं?
5. वितण्ड किसे कहते हैं?
6. 'आकाश कमल सुगन्धित होता है' इस वाक्य में कौन-सा हेतु है?
7. स्वारूपासिद्ध हेत्वाभास किसे कहते हैं?
8. 'परमाणुरूप पृथिवी आदि चार द्रव्य नित्य हैं' इस वाक्य में कौन-सा हेत्वाभास है?
9. 'शब्द निम्य है, द्रव्य होते हुए, स्पर्शरहित होने से' इस वाक्य में कौन-सा हेत्वाभास है?
10. मैत्रीतन्यत्व में श्यामत्व की सिद्धि में कौन-सा हेत्वाभास है?

19.4 सारांश

न्यायशास्त्र के अनुसार अनिष्ट की प्राप्ति को तर्क कहा जाता है। कल्पना या अनुमान करना तर्क है। तर्क प्रमाणों का उपकारक है। विशेषतः यह अनुमान का। निश्चयात्मक ज्ञान को निर्णय कहते हैं, जो प्रमाणों का फल है। तत्त्व को जानने के इच्छुक व्यक्ति की कथा वाद है।

पक्ष एवं प्रतिपक्ष दोनों को सिद्ध करने वाली विजयेच्छुक जनों की कथा को जल्प कहा जाता है। उभय साधन वाला जल्प ही अपने पक्ष की स्थापना से हीन होकर 'वितण्ड' कहलाता है। अनेक वक्ताओं के पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष का प्रतिपादन करने वाला वाक्यसमूह ही कथा है।

हेत्वाभास का पूर्व में ही विस्तारपूर्वक उल्लेख कर दिया गया है। जो शुद्ध हेतु नहीं होते, उन्हें हेत्वाभास कहते हैं, जिसके पाँच भेद हैं। जिस हेतु का आश्रय (पक्ष) सिद्ध न हो, वह आश्रयासिद्ध नामक हेतु होता है। जो हेतु आश्रय (पक्ष) में सिद्ध न हो, उसे स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। जहाँ हेतु की व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो पाता, वहाँ व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास होता है, जे दो प्रकार का है।

19.5 कठिन शब्दावली

अनिष्टप्रसंगः = अनिष्ट का प्रसंग अथवा कथन, अवधारणज्ञानम् = निश्चयात्मक ज्ञान, विजिगीषुकथा = विजय के इच्छुक जनों की कथा, दुष्टिज्ञप्तिकारकः = दुष्टता का ज्ञान कराने वाला, कृतकत्वात् = कृतक (कार्य) होने से, अस्पर्शत्वात् = स्पर्श रहित होने से, तद्वैपरीत्येन = उसके विपरीत, असहचरितः = सहचार नहीं रखना, क्रत्वन्तर्वर्तिनी = हिंसा यज्ञ में होने वाली हिंसा, क्रत्वंगहिंसायां = यज्ञ का अङ्ग बनने वाली हिंसा में।

19.6 स्वयं आकलन प्रश्नो के उत्तर -

1. अनिष्ट की प्राप्ति को
2. निश्चयात्मक ज्ञान को
3. न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त और पाँच हेत्वाभास
4. जल्प
5. अपने पक्ष की स्थापना से हीन जल्प को
6. आश्रयासिद्ध
7. जो हेतु आश्रय में सिद्ध नहीं होता
8. स्वरूपासिद्ध
9. विशेषणासिद्ध स्वरूपासिद्ध
10. व्याप्यत्वासिद्ध

19.7 सहायक ग्रन्थ -

1. तर्कभाषा, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणि, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी-221001, संस्करण-12, 2013.
2. तर्कभाषा, टीकाकार, पण्डित श्रीरुद्रधर झा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-221001, संस्करण-7, 2021.
3. तर्कभाषा, व्याख्याकार डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-221001, संस्करण-2013.
4. तर्कभाषा, व्याख्याकार एवं सम्पादक डॉ. अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर-302001, संस्करण-2021.
5. तर्कभाषा, व्याख्याकार श्रीबदरीनाथशुक्ल, मोतीलाल बनारसी दास, चौक वाराणसी, प्रथम संस्करण-1968.

19.8 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न -

1. आश्रयासिद्ध तथा स्वारूपासिद्ध हेत्वाभास की सोदाहरण व्याख्या करें।
2. व्यापत्वासिद्ध से आप क्या समझते हैं, विस्तार से विवेचन करें।

इकाई - बीस

हेत्वाभास-भेदादि पदार्थ निरूपण

संरचना

20.1 प्रस्तावना
20.2 उद्देश्य
20.3 हेत्वाभास-भेदादि पदार्थ निरूपण
  20.3.1 विरुद्ध हेत्वाभास
  20.3.2 अनैकान्तिक हेत्वाभास
  20.3.3 कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास
  20.3.4 छल निरूपण
  20.3.5 जाति निरूपण
  20.3.6 निग्रहस्थान निरूपण
    - स्वयं आकलन अभ्यास प्रश्न
20.4 सारांश
20.5 कठिन शब्दावली
20.6 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर
20.7 सहायक ग्रन्थ
20.8 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न

20.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियो, यह अन्तिम इकाई है। इस इकाई में विरुद्ध हेत्वाभास, अनैकान्तिक हेत्वाभास, प्रकरणसम हेत्वाभास और कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास की जानकारी दी गई है। यद्यपि इन सभी का विस्तृत वर्ण पहले किया जा चुका है, लेकिन प्रसंगवश संक्षेप में यहाँ पर उल्लेख किया जा रहा है। अन्त में छल और निग्रहस्थानादि का निरुपण किया गया है।

20.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से विद्यार्थियों को नम्नलिखित जानकारी उपलब्ध होगी –

- विरुद्ध हेत्वाभास,
- अनैकान्तिक हेत्वाभास,
- प्रकरणसम हेत्वाभास,
- कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास,
- छल, जाति और निग्रहस्थान निरूपण

20.3 हेत्वाभास-भेदादि पदार्थ निरूपण

जिन सोलह पदार्थों के तत्त्व ज्ञान से निश्रेयस की प्राप्ति होती है, उनमें से तेरह पदार्थों का पूर्व की इकाइयों में विस्तार से उल्लेख किया गया। इस इकाई में हेत्वाभास के भेदों और उससे आगे की अन्तिम तीन इकाइयों का वर्णन किया जा रहा है।

20.3.1 विरुद्ध हेत्वाभास

सम्प्रति विरुद्धः कथ्यते। साध्यविपर्ययव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः। यथा 'शब्दो नित्यः कृतकत्वा' इति। अत्र हि नित्यत्वं साध्यं, कृतकत्वं हेतुः। तद्विपर्ययेण चानित्यत्वेन कृतकत्वं व्याप्तं, यतो यद्यत् कृतकं तत्तत् खल्वनित्यमेव। अतः साध्यविपर्ययव्याप्तत्वात् कृतकत्वं हेतुर्विरुद्धः।

शब्दार्थ -

साध्यविपर्ययव्याप्तो = साध्य के विपर्यय से व्याप्त, यद्यत्कृतकं = जो जो कार्य, हेतुर्विरुद्धः = हेतु विरुद्ध।

गद्यार्थ -

अब विरुद्ध हेत्वाभास बताया जा रहा है। साध्य के अभाव से व्याप्त हेतु विरुद्ध नामक हेत्वाभास है। जैसे 'शब्द नित्य है, कार्य होने से'। इस अनुमान में साध्य है - नित्यत्व, कृतकत्व हेतु है और कृतकत्व उस नित्यत्व के अभाव-अनित्यत्व से व्याप्त है, क्योंकि जो जो कृतक (कार्य) होता है, वह वह अनित्य ही होता है, (यह सहचार या व्याप्ति है)। इसलिए साध्य के अभाव (विपर्यय) से व्याप्त होने के कारण कृतकत्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है।

व्याख्या -

न्यायसूत्र में विरुद्ध का स्वरूप तर्कभाषाकार के लक्षण से भिन्न है।

20.3.2 अनैकान्तिक हेत्वाभास

साध्यसंशयहेतुरनैकान्तिकः सव्यभिचार। इति बोध्यते। स द्विविधः। साधारणानैकान्तिको असाधारणानैकान्तिकश्चेति। तत्र प्रथमः, पक्ष-सपक्ष-विपक्षवृत्तिः। यथा 'शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात् इति। अत्र प्रमेयत्वं हेतुः पक्षे शब्दे, सपक्षे नित्ये व्यौमादौ, विपक्षे चानित्ये घटादौ विद्यते। सर्वस्यैव प्रमेयत्वात्। तस्मात् प्रमेयत्वं हेतुः साधारणानैकान्तिकः।

असाधारणानैकान्तिकः स एव यः सपक्षविपक्षाभ्यां व्यावृत्तः पक्ष एव वर्तते। यथा 'भूर्नित्या गन्धवत्त्वात्' इति। अत्र गन्धवत्त्वं हेतुः। स च सपक्षान्नित्याद् व्योमादेः, विपक्षाच्चानित्याज्जलादेर्व्यावृत्तो, गन्धवत्त्वस्य पृथिवीमात्रवृत्तित्वादिति।

व्यभिचारस्तु लक्ष्यते। सम्भवत्सपक्षविपक्षस्य हेतोः सपक्षवृत्तित्वे सति विपक्षाद् व्यावृत्तिरेव नियमो गमकत्वात्। तस्य च साध्यविपरीतताव्याप्तस्य तन्नियमाभावो व्यभिचारः। स च द्वेधा सम्भवति। सपक्षविपक्षयोर्वृत्तौ ताभ्यां व्यावृत्तौ च।

शब्दार्थ -

साध्यसंशयहेतुः = साध्य के सन्देह का हेतु, पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिः = पक्ष, सपक्ष और विपक्ष में रहने वाला, प्रमेयत्वात् = प्रमेय होने से, लक्ष्यते = लक्षण किया जाना, तन्नियमाभावः = उसके नियम का न होना।

गद्यार्थ -

साध्य के सन्देह का हेतु अनैकान्तिक या सव्यभिचार कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है- 1- साधारण अनैकान्तिक और 2- असाधारण अनैकान्तिक। उनमें प्रथम वह है जो पक्ष, सपक्ष तथा विपक्ष में रहता हो। जैसे 'शब्द नित्य है, प्रमेय होने से'। यहाँ हेतु प्रमेयत्व पक्ष शब्द में, सपक्ष नित्य आकाशादि में और विपक्ष अनित्य घटादि में भी है, क्योंकि ये सभी प्रमेय ही हैं। अतः यहाँ 'प्रमेयत्वात्' यह हेतु साधारण अनैकान्तिक है।

असाधारण अनैकान्तिक वह होता है जो सपक्ष एवं विपक्ष में नहीं रहकर पक्ष में ही रहे। जैसे 'पृथिवी नित्य है, गन्धवती होने से।' यहाँ हेतु गन्धवत्त्व है, वह सपक्ष नित्य आकाशादि में और विपक्ष अनित्य जलादि में नहीं रहता है, गन्धवत्त्व हेतु तो पृथिवीमात्र में रहता है।

यहाँ व्यभिचार का लक्षण किया जा रहा है। जिस हेतु में सपक्ष एवं विपक्ष दोनों हो सकते हैं, उस हेतु का सपक्ष में रहना तथा विपक्ष में नहीं रहना ही नियम है, क्योंकि तभी हेतु साध्य का अनुमान करा सकता है और साध्य के अभाव से व्याप्त न होने वाले उस हेतु में उस प्रकार के नियम का ही व्यभिचार है। वह व्यभिचार दो प्रकार का हो सकता है - एक तो सपक्ष एवं विपक्ष दोनों में रहने पर और दूसरा सपक्ष एवं विपक्ष दोनों में न रहने पर।

व्याख्या -

एक साध्य या साध्याभाव सहचार या निश्चय वाला हेतु ऐकान्तिक कहलाता है। जो हेतु साध्य या साध्याभाव के साथ सहचरित न हो अर्थात् साध्य या साध्याभाव में किसी एक का निश्चायक न हो वह हेतु अनैकान्तिक होता है।

अनैकान्तिक को सव्यभिचार भी कहते हैं। व्यभिचार का अर्थ है - नियम का उल्लघ्घन या नियमाभाव। किसी भी हेतु के सपक्ष एवं विपक्ष दोनों होते हैं। हेतु सपक्ष में तो रहे किन्तु विपक्ष में न रहे यह नियम है। इसका अभाव हो जाना व्यभिचार कहलाता है। व्यभिचार दो प्रकार से होता है - सपक्ष एवं विपक्ष में हेतु के रहने से और सपक्ष एवं विपक्ष दोनों में हेतु के न रहने से।

यस्य प्रतिपक्षभूतं हेत्वन्तरं विद्यते स प्रकरणसमः। स एव सत्प्रतिपक्षः इति चोच्यते। तद्यथा 'शब्दोऽनित्यो नित्यधर्मानुपल्धेः', 'शब्दो नित्योऽनित्यधर्मानुपलब्धेः' इति। अत्र साध्यविपरीतसाधकं समानबलमनुमानान्तरं प्रतिपक्ष इत्युच्यते। यः पुनरतुल्यबलो न स प्रतिपक्षः।

तथाहि विपरीतसाधकानुमानं त्रिविधं भवति। उपजीव्यम्, उपजीवकम्, अनुभयं चेति। तत्रद्यं बाधकं बलवत्त्वात्। यथा 'अनित्यपरमाणुर्मूर्तत्वाद् घटवत्' इत्यस्य परमाणुसाधकानुमानं नित्यत्वं साधयदपि न प्रतिपक्षः। किन्तु बाधकमेवोपजीव्यत्वात्। तच्च धर्मिग्राहकत्वात्। न हि प्रमाणेनागृह्यमाणे धर्मिणि परमाणावनित्यत्वानुमानमिदं सम्भवति, आश्रयासिद्धेः। अतोऽनेनानु- मानेन परमाणुग्राहकस्य प्रामाण्यमप्यनुज्ञातमन्यथाऽस्योदयासम्भवात्। तस्मादुपजीव्यं बाधकमेव। उपजीवकं तु दुर्बलत्वाद् बाध्यम्। यथेदमेवानित्यत्वानुमानम्। तृतीयं तु सत्प्रतिपक्षं समबलत्वात्।

शब्दार्थ -

प्रतिपक्षभूतः = प्रतिपक्ष होकर, हेत्वन्तरं = कोई दूसरा हेतु, साध्यविपरीतसाधकम् = साध्य के विपरीत अर्थ का साधक, समानबलम् = समान बल वाला, परमाणुसाधकानुमानम् = परमाणु को सिद्ध करने वाला अनुमान, धर्मिग्राहकत्वात् - धर्मी का साधक होने से, अनित्यत्वानुमानम् = अनित्यत्व का अनुमान।

गद्यार्थ -

जिस हेतु का प्रतिपक्षभूत कोई दूसरा हेतु होता है, वह प्रकरणसम नामक हेत्वाभास है। वही सत्प्रतिपक्ष भी कहलाता है। जैसे कि 'शब्द अनित्य है, नित्य धर्म की उपलब्धि न होने से' और शब्द नित्य है, अनित्य धर्म की

उपलब्धि न होने से।' इन दोनों में साध्य के विपरीत अर्थ का साधक समान बल वाला दूसरा अनुमान प्रतिपक्ष कहलाता है। किन्तु जो दूसरा अनुमान समान बल वाला नहीं होता, वह प्रतिपक्ष नहीं कहलाता है।

क्योंकि विपरीत अर्थ का साधक अनुमान तीन प्रकार का है - 1- उपजीव्य- 2- उपजीवक, और 3- अनुभय। उनमें प्रथम उपजीव्य बाधक होता है, क्योंकि वह बलवान् है। जैसे परमाणु अनित्य होता है, क्योंकि वह मूर्त है (परिच्छिन्न परिमाण वाला है), जैसे कि घट। इस अनुमान का परमाणु साधक अनुमान नित्यत्व को सिद्ध करता हुआ भी प्रतिपक्ष नहीं होता है, किन्तु बाधक ही होता है, क्यों,कि वह इसका उपजीव्य साधकभूत है और वह उपजीव्य इसलिए है कि वह धर्मी परमाणु का साधक है। अनुमान प्रमाण के द्वारा धर्मीरूप परमाणु का ग्रहण यदि नहीं होगा तो यह अनित्यता का साधक अनुमान भी सम्भव नहीं होगा, क्योंकि इस अनुमान का आश्रय ही असिद्ध होगा। अतः इस अनुमान ने परमाणु के साधक अनुमान की प्रामाणिकता को भी अनुमोदित कर दिया है। अन्यथा (आश्रयासिद्धि के कारण) इसका (परमाणु के अनित्यत्व साधक अनुमान का) उदय ही नहीं हो सकता था। अतः उपजीव्य बाधक ही होता है। उपजीवक तो दुर्बल होने से बाध्य ही होता है। जैसे कि यही परमाणु का अनित्यत्व साधक अनुमान। इन दोनों से भिन्न तीसरा जो उपजीव्य और उपजीवक नहीं है, किन्तु साध्य के विपरीत अर्थ का साधक अनुमान सत्प्रतिपक्ष होता है, क्योंकि वह समान बल वाला है।

20.3.3 कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास

यस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणेन पक्षे साध्याभावः परिच्छिन्नः स कालात्ययापदिष्टः। स एव बाधितविषय इत्युच्यते। यथा 'अग्निरनुष्णः कृतकत्वाज्जलवत्' अत्र कृतकत्वं हेतुः। तस्य च यत् साध्यमनुष्णत्वं तस्याभावः प्रत्यक्षेणैव परिच्छिन्नः। त्वगिन्द्रियेणाग्नेरुष्णत्वपरिच्छेदात्।

तथा परोऽपि कालात्ययापदिष्टो, यथा, 'घटस्य क्षणिकत्वे साध्ये प्रागुक्तं सत्त्वं हेतुः।' तस्यापि च यत् साध्यं क्षणिकत्वं तस्याऽभावोऽक्षणिकत्वं प्रत्यभिज्ञातर्कादिलक्षणेन प्रत्यक्षेण परिच्छिन्नम्। 'स एवायं घटो यो मया पूर्वमुपलब्धः' इति प्रत्यभिज्ञया पूर्वानुभवजनितसंस्कारसहकृतेन्द्रियप्रभवया पूर्वापरकालनया घटस्य स्थायित्वपरिच्छेदादिति।

शब्दार्थ -

परिच्छिन्नः - निश्चित करना, कृतकत्वात् = कार्य होने से, प्रागुक्तं = पूर्वोक्तं, प्रत्यक्षेण = प्रत्यक्ष के द्वारा, पूर्वापरकालाकलनया = पूर्व-अपर काल के एकत्व का आकलन करने से।

गद्यार्थ -

जिस हेतु के साध्य का अभाव प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के द्वारा कर लिया जाता है, वह हेतु कालात्ययापदिष्ट कहलाता है। उसे ही बाधित विषय भी कहते हैं। जैसे अग्नि अनुष्ण (शीतल) होती है, कृतक (कार्य) होने से, जल के समान। इस अनुमान में कृतकत्व हेतु है, उसका साध्य अनुष्णत्व का अभाव प्रत्यक्ष प्रमाण से ही निश्चित हो जाता है, क्योंकि त्वगिन्द्रिय से अग्नि की उष्णता का निश्चय किया जाता है।

दूसरे कालात्ययापदिष्ट का उदाहरण है - घट की क्षणिकता को सिद्ध करने के लिए पूर्व में कहा गया सत्त्व हेतु। सत्त्व हेतु का साध्य जो क्षणिकत्व है, उसका अभाव अक्षणिकत्व (स्थिरता) प्रत्यभिज्ञारूप प्रत्यक्ष प्रमाण से निश्चित है। 'यह वही घट है जिसको मैंने पूर्व में देखा था' इस पूर्व के अनुभव से उत्पन्न संस्कार के

सहयोग से इन्द्रिय (नेत्र) द्वारा होने वाली, पूर्व तथा अपर काल के एकत्व का आकलन (परिज्ञान) करने वाली प्रत्यभिज्ञा के द्वारा घट के स्थायित्व का निश्चय कर लिया जाता है।

व्याख्या -

न्यायसूत्रकार ने कालात्ययापदिष्टः कालातीतः (1-2-9) यह लक्षण किया है। इसका परिष्कृत रूप तर्कभाषा में प्रस्तुत किया गया है। कालान्तर में इसे बाधित नाम से भी जाना जाने लगा, क्योंकि इसका साध्य बाधित हो जाता है। ग्रन्थकार ने इसके उदाहरण बताये हैं - 1- अग्निः अनुष्णः कृतकत्वात्, 2- घटः क्षणिकः सत्त्वात्। यह दूसरा उदाहरण बौद्धों के अनुमान का है। परन्तु प्रत्यभिज्ञा नामक प्रत्यक्ष से घट की अक्षणिकता का निश्चय हो जाता है। अतः 'सत्त्वात्' यह हेतु हेतु न होकर बाधित विषय हेत्वाभास है।

एते चासिद्धादयः पञ्च हेत्वाभासा यथा कथिञ्चित् पक्षधर्मत्वाद्यन्यतमरूपहीनत्वादहेतवः स्वसाध्यं न साधयन्तीति।

येऽपि लक्षणस्य केवलव्यतिरेकीहेतोस्त्रयो दोषा अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-असम्भवास्तेऽप्यत्रैवान्तर्भवन्ति, न तु पञ्चभ्योऽधिकाः। तथाहि अतिव्याप्तिर्व्याप्यत्वासिद्धिः। विपक्षमात्रदव्यावृत्तत्वात् सोपाधिकत्वाच्च। यथा गोलक्षणस्य पशुत्वस्य। गोत्वे हि सास्नादिमत्त्वं प्रयोजकं न तु पशुत्वम्। तथा अव्याप्तिर्भागासिद्धत्वम्। यथा गोलक्षणस्य शाबलेयत्वस्य। एवम् असम्भवोऽपि स्वरूपासिद्धिः। यथा गोलक्षणस्यैकशफत्वस्येति।

शब्दार्थ -

रूपहीन = रूप से रहित, लक्षणस्य = लक्षण के, अनर्भवन्ति = अन्तर्भूत हो जाते हैं, गोलक्षणस्य = गो के लक्षण की, भागासिद्धत्वम् = भागासिद्ध है, शाबलेयत्वस्य = चितकबरा की।

गद्यार्थ -

ये असिद्ध आदि पाँच हेत्वाभास किसी न किसी प्रकार पक्षसत्त्व (पक्षधर्मता) आदि हेतु के पाँच रूपों में से किसी एक रूप से रहित होने के कारण हेत्वाभास हैं और अपने साध्य को सिद्ध नहीं करते हैं।

और जो 'केवल व्यतिरेकी' हेतु लक्षणरूप के तीन दोष अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव हैं, वे भी इन हेत्वाभासों में ही अन्तर्भूत होते हैं। वे इन पाँच हेत्वाभासों से अधिक नहीं हैं। जैसे कि अतिव्याप्ति व्याप्यत्वासिद्धि ही है, क्योंकि वह सभी विपक्षों से व्यावृत्त नहीं रहता और उपाधियुक्त है। यथा गो का लक्षण पशुत्व (यदि किया जाये तो यह अतिव्याप्ति व्याप्यत्वासिद्ध है।) क्योंकि गो होने में प्रयोजक सास्नादिमान् होना है, पशुत्व नहीं। उसी तरह अव्याप्ति भी भागासिद्धि ही है। यथा गाय का लक्षण शाबलेयत्व (चितकबरा होना) भागासिद्धि ही है। इसी तरह असम्भव भी स्वरूपासिद्धि ही है। यथा गाय का लक्षण एक शफत्व (गाय में एक शफ होता ही नहीं, अतः यह लक्षण आश्रय में असिद्ध होने से स्वरूपासिद्ध ही है।)

व्याख्या -

लक्षण वही सही माना जाता है जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असम्भव इन तीनों दोषों से मुक्त हो। अनुमान प्रकरण में 'लक्षणमपि केवलव्यतिरेकी हेतुः' कहा गया है।

'येऽपि लक्षणस्य' इत्यादि उद्धरण के द्वारा शंका की गई है कि यदि लक्षण भी हेतु है तो उसके दोष को भी हेतुदोष मानना चाहिये तथा हेत्वाभास को पाँच से अधिक होना चाहिए?

इसका समाधान करते हुए ग्रन्थकार ने लक्षण के तीनों दोषों को अर्थात् अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असम्भव को पाँच हेत्वाभासों में ही अन्तर्भूत कर दिया है। अतिव्याप्ति को व्याप्यत्वासिद्ध में, अव्याप्ति को भागासिद्ध में तथा असम्भव को स्वरूपासिद्ध में अन्तर्भाव होता है ऐसा तर्कभाषाकार ने बताया है।

20.3.4 छल निरूपण

अभिप्रायान्तरेण प्रयुक्तस्य शब्दस्यार्थान्तरं परिकल्प्य दूषणाभिधानं छलम्। यथा 'नवकम्बलोऽयं देवदत्तः' इति वाक्ये नूतनाभिप्रायेण प्रयुक्तस्य नवशब्दस्यार्थान्तरमाशंक्य कश्चित् दूषयति। 'नास्य नव कम्बलाः सन्ति दरिद्रत्वात्। न ह्यस्य द्वयमपि सम्भाव्यते कुतो नव' इति । स च वादी छलवादितया ज्ञायते ।

शब्दार्थ -

अभिप्रायान्तरेण = अभिप्राय से, प्रयुक्तस्य = प्रयोग किए गए का, अर्थान्तरम् = अन्य अर्थ, परिकल्प्य = कल्पित करके, प्रयुक्तस्य नवशब्दस्य = प्रयुक्त नव शब्द का, आशंक्य = मानकर, सम्भाव्यते = सम्भावना।

गद्यार्थ -

अन्य अर्थ के अभिप्राय से प्रयोग किये गये शब्द का अन्य अर्थ कल्पित कर दोष को बताना छल कहलाता है। जैसे कि 'नव (नये) कम्बल वाला यह देवदत्त है'। इस वाक्य में नये के अभिप्राय से प्रयुक्त 'नव' शब्द का अन्य अर्थ नौ संख्या की कल्पना कर कोई दोष देता है कि इसके पास नौ कम्बल नहीं हैं क्यों कि यह दरिद्र है, इसके पास तो दो कम्बल की भी सम्भावना नहीं है तब नौ कहाँ से आयेंगे। इस प्रकार दोष को बतलाने वाला वादी छलवादी के रूप में जाना जाता है।

व्याख्या -

न्यायसूत्र के अनुसार अर्थविकल्प की उपपत्ति के द्वारा वचन का विघात छल है। यह छल तीन प्रकार का है - वाक्छल, सामान्य छल और उपचार छल।

वाक्छल - 'वाक्छल नवकम्बलोऽयं देवदत्तः' दो वाच्यार्थों में एक के अभिप्राय से प्रयुक्त शब्द का अन्य वाच्यार्थ मानकर दोष दिखाना वाक्छल है।

सामान्य छल - ब्राह्मणाः विद्याचारसम्पन्नाः' सम्भव के अभिप्राय से प्रयुक्त शब्द का नियम के अभिप्राय वाला मानकर दोष बतलाना सामान्य छल है। जैसे 'ब्राह्मण विद्या और आचार सम्पन्न है' इस कथन में सम्भावना है। परन्तु छलवादी कहता है कि यदि ब्राह्मण विद्याचार सम्पन्न होते हैं, तो व्रात्य भी विद्याचार सम्पन्न होगा, क्योंकि वह ब्राह्मण है। इस प्रकार व्रात्य को ब्राह्मण बतलाना नियम हो गया, जो यहाँ पर दोष है। यह सामान्य छल है।

उपचारछल - अन्य वृत्ति से अभिप्रेत अर्थ को बताने वाले शब्द का प्रयोग करने पर अन्य वृत्ति से अनिष्ट अर्थ की कल्पना कर दोष का कथन करना उपचार छल कहलाता है। जैसे 'मञ्चाः क्रोशन्ति' कहने पर लक्षणा वृत्ति से म×चाः का अर्थ 'मञ्चस्थाः जनाः' अिभप्रेत है। किन्तु छलवादी अभिधावृत्ति से मञ्च अर्थ लेकर यदि कहें कि मञ्च तो निर्जीव है, वह कैसे चिल्ला सकता है, तो यह दोष कथन उपचार छल हुआ।

20.3.5 जाति निरूपण

असदुत्तरं जातिः। सा च उत्कर्षसम-अपकर्षसम-आदिभेदेन बहुविधा। विस्तरभिया नेह कृत्स्नोच्यते। तत्रव्याप्तेन दृष्टान्तगतधर्मेण साध्ये पक्षे अव्यापकधर्मस्यापादनम् उत्कर्षसमा जातिः। यथा शब्दोऽनित्यः

कृतकत्वाद् घटवदित्युक्ते कश्चिदेवमाह 'यदि कृतकत्वेन हेतुना घटवच्छब्दोऽनित्यः स्यात् तर्हि तेनैव हेतुना तद्वदेव शब्दः सावयवोऽपि स्यात्।'

अपकर्षसमा तु दृष्टान्तगतेन धर्मेणाव्याप्तेनाव्यापकस्य धर्माभावस्यापादनम्। यथा पूर्वस्मिन् प्रयोगे कश्चिदेवमाह 'यदि कृतकेन हेतुना घटवच्छब्दोऽनित्यः स्यात् तेनैव हेतुना घटवदेव हि शब्दः श्रावणोऽपि न स्यात्। न हि घटः श्रावण' इति ।

शब्दार्थ -

दृष्टान्तगतधर्मेण = दृष्टान्त में रहने वाले धर्म के द्वारा, तर्हि = तब, दृष्टान्तगतेन = दृष्टान्त में रहने वाले, कृतकत्येन = कृतकत्व के द्वारा।

गद्यार्थ -

अनुचित उत्तर को जाति कहते हैं। जाति उत्कर्षसम एवं अपकर्षसम आदि के भेद से बहुत प्रकार की है, किन्तु ग्रन्थविस्तार के भय से यहाँ सम्पूर्ण रूप से नहीं कहा जा रहा है। उनमें दृष्टान्त में विद्यमान अव्याप्त धर्म के द्वारा पक्ष में अव्यापकधर्म की प्राप्ति दिखलाना उत्कर्षसम जाति है। जैसे 'शब्द अनित्य है, कार्य होने से, घट के समान' किसी के ऐसा कहने पर कोई इस प्रकार कहता है कि यदि कृतकत्व (कार्य) हेतु से घट के समान शब्द अनित्य हो तो उसी हेतु से घट के समान ही शब्द अवयवयुक्त भी होगा।

दृष्टान्त में विद्यमान अव्याप्त धर्म के द्वारा अव्यापक धर्म के अभाव का प्रसङ्ग दिखलाना अपकर्षसम जाति है। जैसे कि पूर्वोक्त अनुमान प्रयोग में कोई इस प्रकार से कहता है - यदि कृतकत्व हेतु के द्वारा घट के समान शब्द अनित्य हो तो उसी हेतु से घट के समान ही शब्द श्रोत्र से गृहीत भी नहीं होगा, क्योंकि घट श्रोत्र से गृहीत नहीं होता है।

व्याख्या -

न्यायसूत्रकार ने जाति का लक्षण करते हुए इसके दो भेदों - साधर्म्य एवं वैधर्म्य को बतलाया है। पञ्चम अध्याय में इसके चौबीस भेद उदाहरण सहित बताए हैं। वे अधोलिखित हैं -

1. साधर्म्यसमा, 2. वैधर्म्यसमा, 3. उत्कर्षसमा, 4. अपकर्षसमा, 5. वर्ण्यसमा, 6. अवर्ण्यसमा 7. विकल्पसमा, 8. साध्यसमा, 9. प्राप्तिसमा, 10. अप्राप्तिसमा, 11. प्रसंगसमा, 12. प्रतिदृष्टान्तसमा 13. अनुत्पत्तिसमा, 14. संशयसमा, 15. प्रकरणसमा, 16. हेतुसमा, 17. अर्थापत्तिसमा, 18. अविशेषसमा, 19. उत्पत्तिसमा, 20. उपलब्धिसमा, 21. अनुपलब्धिसमा, 22. नित्यसमा, 23. अनित्यसमा, 24. कार्यसमा।

तर्कभाषाकार ने साधर्म्यसमा से प्रारम्भ न कर उत्कर्षसमा से प्रारम्भ किया है। इसका कारण यह है कि 'असद् उत्तर जाति है' अन्यों की अपेक्षा उत्कर्षसमा एवं अपकर्षसमा का असद् उत्तरत्व अधिक स्पष्ट है।

वस्तुतः वादी किसी साध्य को सिद्ध करने हेतु कोई हेतु देता है। तब प्रतिवादी व्याप्ति की अपेक्षा के बिना ही केवल दृष्टान्त के साधर्म्य या वैधर्म्य के द्वारा उत्तर देता है, वह उत्तर असत् होता है, क्योंकि इसमें व्याप्ति का ध्यान नहीं रखा जाता है। अतः असत् उत्तर ही जाति है।

20.3.6 निग्रहस्थान निरूपण

पराजयहेतुः निग्रहस्थानम्। तच्च न्यून-अधिक-अपसिद्धान्त-अर्थान्तर-अप्रतिभा मतानुज्ञा-विरोधादिभेदाद् बहुविधमपि विस्तरभयान्नेह कृत्स्नमुच्यते। यद् विवक्षितार्थे किञ्चिदूनं तन्न्यूनम्। विवक्षितात् किञ्चदधिकमधिकम्। सिद्धान्तादपध्वंसः-अपसिद्धान्तः। प्रकृतेनानभिसम्बद्धार्थवचनम् अर्थान्तरम्।

उत्तरापरिस्फूर्तिः अप्रतिभा। पराभिमतस्यार्थस्य स्वप्रतिकूलस्य स्वयमेवाभ्यनुज्ञानं स्वीकारो मतानुज्ञा। इष्टार्थभंगो विरोधः।

शब्दार्थ -

पराजयहेतुः = पराजय का निमित्त, बहुविधमपि = बहुत प्रकार का, विवक्षितार्थे = विवक्षित अर्थ के विषय में, विवक्षितात् = विवक्षित अर्थ से, अपध्वंसः = च्युत होना, पराभिमतस्य = दूसरे के अभिमत अर्थ की।

गद्यार्थ -

जो पराजय का निमित्त है, वह निग्रहस्थान कहलाता है और वह न्यून अधिक अपसिद्धान्त, अर्थान्तर, अप्रतिभा, मतानुज्ञा एवं विरोध आदि के भेद से अनेक प्रकार का है, किन्तु ग्रन्थ विस्तार के भय से यहाँ सबको नहीं बताया जा रहा है। विवक्षित अर्थ में जो कुछ कमी रहती है वह न्यून कहलाता है। विवक्षित अर्थ से कुछ अधिक कहना अधिक कहलाता है। सिद्धान्त अर्थ से च्युत होना अपसिद्धान्त कहलाता है। प्रकरणसम्मत अर्थ से सम्बन्ध नहीं रखने वाले अर्थ को कहना अर्थान्तर कहलाता है। उत्तर का नहीं सूझना अप्रतिभा कहलाती है। दूसरे के अभिमत तथा स्वमत के प्रतिकूल अर्थ को स्वयं स्वीकार करना मतानुज्ञा है। अभिमत अर्थ का निषेध विरोध है।

व्याख्या -

न्यायभाष्य में निग्रहस्थानं खलु पराजयप्राप्तिः अर्थात् निग्रहस्थान का अर्थ पराजय को प्राप्त करना है, यह कहा है। तर्कभाषाकार ने इसे ही यहाँ प्रस्तुत किया है। वृत्तिकार विश्वनाथ ने निग्रहस्य खलीकारस्य, स्थानं ज्ञापनं, निग्रहस्थानम् कहा है। हम कह सकते हैं कि निग्रहस्थान पराजय का ज्ञापक हेतु है। जब वादी या प्रतिवादी ऐसी स्थिति में आ जाये कि उसे पराजित समझा जाने लगे तब उसे निगृहीत कहा जाता है। यही निग्रह स्थान है। निग्रह स्थान बाइस प्रकार के बताए गए हैं – 1. प्रतिज्ञाहानि, 2. प्रतिज्ञान्तर, 3. प्रतिज्ञाविरोध, 4. प्रतिज्ञासंन्यास, 5. हेत्वन्तर, 6. अर्थान्तर 7. निरर्थक, 8. अविज्ञातार्थ, 9. अपार्थक, 10. अप्राप्तकाल, 11. न्यून, 12. अधिक, 13. पुनरुक्त, 14. अननुभाषण, 15. अज्ञान, 16. अप्रतिभा, 17. विक्षेप, 18. मतानुज्ञा, 19. पर्यनुज्योपेक्षण, 20. निरनुज्यानुयोग, 21. अपसिद्धान्त और 22. हेत्वाभास।

न्यायभाष्यकार ने कहा है कि तत्त्वज्ञान के लिए तथा जिनका तत्त्वज्ञान परिपक्व नहीं है, जिनमें राग, द्वेष, मोह आदि दोष नष्ट नहीं हुए हैं, परन्तु इनके लिए यत्न कर रहे हैं, उन्हीं के लिए छल, जाति, निग्रहस्थान के प्रयोग का उपदेश है।

इहात्यन्तमुपयुक्तनां स्वरूपभेदेन भूयो भूयः प्रतिदिनम्। यदनति प्रयोजनं तदलक्षणमदोषाय। एतावतैव बालव्युत्पत्तिसिद्धेः

इति केशवमिश्र विरचित तर्कभाषा समाप्ता ।

शब्दार्थ -

व्याख्या -

इहात्यन्तानाम् इत्यादि के द्वारा ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए श्री केशव मिश्र कह रहे हैं कि इस ग्रन्थ में बुद्धि, आत्मा, हेत्वाभास, मन आदि का अनेक बार विस्तार से निरूपण किया गया है। उसका कारण यह है कि न्यायसिद्धान्त जिज्ञासुओं के लिए वे अत्यन्त उपयोगी हैं।

कुछ पदार्थों का नाममात्र से निर्देश किया गया है, उनका विस्तृत प्रतिपादन नहीं हुआ है, तथापि यह दोषावह नहीं है, क्योंकि जितना प्रतिपादन कर दिया गया है, उतने मात्र से बालकों को न्यायशास्त्र सम्बन्धी व्युत्पत्ति प्राप्त हो जायेगी।

इस प्रकार श्रीकेशवमिश्र विरचित तर्कभाषा समाप्त हुई।

स्वयं आकलन कीजिए –

अभ्यास प्रश्न -

1. विरुद्ध हेत्वाभास किसे कहते हैं?
2. साध्य के सन्देह का हेतु क्या कहलाता है?
3. प्रकरणसम हेत्वाभास किसे कहते हैं?
4. विपरीत अर्थ के साधक अनुमान के कितने भेद हैं?
5. जिस हेतु के साध्य का अभाव प्रत्यक्ष आदि प्रमाण द्वारा कर लिया हो, उस हेतु का नाम क्या है?
6. केवलव्यतिरेकी हेतु लक्षणरूप के तीन दोषों के नाम क्या हैं?
7. जाति किसे कहते हैं और इसके कितने भेद हैं?
8. निग्रहस्थान क्या है?
9. अपसिद्धान्त किसे कहते हैं?
10. प्रकरणसम्मत अर्थ से सम्बन्ध न रखने वाले अर्थ को कहना क्या कहलाता है?

20.4 सारांश

साध्य के अभाव से व्याप्त हेतु को विरुद्ध हेत्वाभास कहा जाता है। साध्य के सन्देह का हेतु अनैकान्तिक या सव्यभिचार कहलाता है, जो दो प्रकार का होता है। अनैकान्तिक को सव्यभिचार भी कहते हैं।

जिस हेतु के साध्य का अभाव किसी प्रमाण द्वारा कर लिया जाता है, वह हेतु कालात्ययापदिष्ट कहलाता है। उसे ही बाधित विषय भी कहते हैं।

न्यायसूत्र के अनुसार अन्य अर्थ के अभिप्राय से प्रयोग किये गये शब्द का अन्य अर्थ कल्पित करके दोष को बताना छल कहलाता है। अनुचित उत्तर को जाति कहा जाता हैं। जाति के अनेक भेद हैं।

पराजय के निमित्त को निग्रहस्थान कहा जाता है जो न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त, अर्थान्तर, अप्रतिभा, मतानुज्ञा एवं विरोध आदि के भेद से अनेक प्रकार का है, किन्तु यहाँ सबको नहीं बताया जा रहा है।

20.5 कठिन शब्दावली -

तद्विपर्ययेण =उसके विपर्यय से, व्योमादी = आकाशादि में, गमकत्त्वात् = अनुमापक से, नित्यधर्मानुपलब्धेः = नित्यधर्मों की उपलब्धि न होने से, अगृह्यमाणे = ग्रहण न होने पर, स्थायित्वपरिच्छेदात् = स्थिरता का निश्चय किया जाता है, एकशफत्त्वस्य = एकशफत्व (एक ही खुर होना) की, नूतनाभिप्रायेण = नये के अभिप्राय से, दूषणाभिधानं = दोष बताना, आपादनम् = प्रसन्न दिखलाना, इष्टार्थभंगो = अभिमत का भंग अथवा निषेध।

20.6 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर -

1. साध्य के अभाव से व्याप्त हेतु को

2. अनैकान्तिक
3. जिस हेतु का प्रतिपक्षभूत कोई दूसरा हो
4. उपजीव्य, उपजीवक और अनुभव
5. कालात्ययापदिष्ट
6. अव्याप्ति, अतिव्याप्ति
7. अनुचित उत्तर को, चौबीस भेद
8. पराजय का निमित्त
9. सिद्धान्त से च्युत होने को
10. अर्थान्तर

20.7 सहायक ग्रन्थ -

1. तर्कभाषा, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणि, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी-221001, संस्करण-12, 2013.
2. तर्कभाषा, टीकाकार, पण्डित श्रीरुद्रधर झा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-221001, संस्करण-7, 2021.
3. तर्कभाषा, व्याख्याकार डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-221001, संस्करण-2013.
4. तर्कभाषा, व्याख्याकार एवं सम्पादक डॉ. अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर-302001, संस्करण-2021.
5. तर्कभाषा, व्याख्याकार श्रीबदरीनाथशुक्ल, मोतीलाल बनारसी दास, चौक वाराणसी, प्रथम संस्करण-1968.

20.8 अभ्यास हेतु दीर्घ प्रश्न -

1. विरुद्ध हेत्वाभास और अनैकान्तिक हेत्वाभास का विस्तारपूर्वक विवेचन करें।
2. कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास की चर्चा करें।
3. निग्रहस्थान से क्या अभिप्राय है? उदाहरण सहित स्पष्ट करें।